बीएईसी– 302
**(BAEC – 302)**

# मुद्रा बैंकिग, लोक वित्त एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

# (Money Banking, Public Finance and International Economics)

**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,**
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी – 263139
फोन नं. 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946–264232, ई–मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

## पाठ्यक्रम समिति

**प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे,**
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

**प्रो0 एम0 के0 धडोलिया,**
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा, राजस्थान

**प्रो0 एस0 पी0 तिवारी,**
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
डॉ0 आर0 एम0 एल0 अवध विश्वविद्यालय,
फैजाबाद उ0 प्र0

**प्रो0 मधुबाला,**
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
इंदिरा गॉधी मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

**प्रो0 आर0 सी0 मिश्र**
निदेशक वाणिज्य एवं प्रबन्ध विद्याशाखा,
विशेष आमंत्रित सदस्य
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

**डॉ0 अमितेन्द्र सिंह**
अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

## पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

**शालिनी चौधरी**
सहायक आचार्य एवम् समन्वयक, अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

## इकाई लेखन

| इकाई लेखक | इकाई संख्या |
|---|---|
| **प्रो. शैलेश चौबे**<br>प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,<br>रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,<br>जबलपुर, म.प्र. | 1 |
| **शालिनी चौधरी**<br>असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,<br>उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,<br>हल्द्वानी, नैनीताल, उत्तराखण्ड | 2,3,5 |
| **डॉ. अनामिका चौधरी**<br>एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,<br>अर्थशास्त्र विभाग,<br>डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय<br>पनुर्वास विश्वविद्यालय,<br>मोहन रोड़, लखनऊ,<br>उ. प्र. | 4,6,11,12,13 |
| **डॉ. साहब सिंह**<br>असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,<br>पी. सी. बागला पी. जी. कॉलेज,<br>हाथरस, उ.प्र. | 7,8,9,10 |
| **प्रो. बी. के. अग्रवाल**<br>प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,<br>हेमवती नन्दन बहुगुणा विश्वविद्यालय<br>(केन्द्रीय विश्वविद्यालय),<br>एस.आर.टी.कैम्पस, बादशाही थैल,<br>टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड | 14,15,16,17 |
| **प्रो. आर. के. श्रीवास्तव**<br>प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,<br>हेमवती नन्दन बहुगुणा विश्वविद्यालय<br>(केन्द्रीय विश्वविद्यालय),<br>एस.आर.टी.कैम्पस, बादशाही थैल,<br>टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड | 18,19,20,21 |

**संस्करणः** 2017
**आई.एस.बी.एन.:**
**प्रतिलिप्याधिकार (कॉपीराइट):** @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
**प्रकाशकः कुल सचिव, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल – 263139**
**email:** studies@uou.ac.in
**मुद्रकः**
इस सामग्री के किसी भी अंश को उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

# उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

# मुद्रा बैंकिग, लोक वित्त एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
(Money Banking, Public Finance and International Economics)

**बी.ए.ई.सी. – 302**
(BAEC – 302)

## विषय–सूची


| **खण्ड– 1. प्रस्तावना (Introduction)** | **पृष्ठ संख्या** |
|---|---|
| **इकाई– 1.** मुद्रा की रूपरेखा, परिभाषा एवं कार्य (Outline, Definition and Function of Money) | 1–15 |
| **इकाई– 2.** मुद्रा का वर्गीकरण (Classification of Money) | 15–26 |
| **इकाई– 3.** मौद्रिकमान, स्वर्णमान एवं पत्र मुद्रामान (Monetary Standard, Gold Standard and Paper Standard) | 27–49 |
| **खण्ड– 2. मुद्रा का मूल्य सिद्धान्त और स्फीति (Theory of Value of Money and Inflation)** | **पृष्ठ संख्या** |
| **इकाई– 4.** मुद्रा के मूल्य निर्धारण के परम्परागत सिद्धान्त (फिशर व क्रैम्ब्रिज आदि) (Traditional Theory to Determine the Value of Money (Fisher and Cambridge)) | 50–69 |
| **इकाई– 5.** मुद्रा के मूल्य निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्त (फ्रीडमैन) (Modern Theory to Determine the Value of Money (Friedman)) | 70–77 |
| **इकाई– 6.** मुद्रा स्फीति, अवस्फीति, विस्फीति, एवं संस्फीति व स्फीतिबद्ध गतिरोध (Inflation, Deflation, Dis-Inflation and Reflation and Inflationary Stagnation) | 78–98 |
| **खण्ड– 3. वाणिज्यिक बैंकिंग (Commercial Baking)** | **पृष्ठ संख्या** |
| **इकाई– 7.** वाणिज्यिक बैंकिंगः– अर्थ, कार्य एवं विकास (Commercial Banking:- Meaning, Function and Development) | 99–111 |
| **इकाई– 8.** वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया (Process of Credit Creation of Commercial Banks) | 112–124 |
| **इकाई– 9.** बैंकों का राष्ट्रीयकरण एवं पश्चात् प्रगति का मूल्यांकन (Nationalization of Banks and Post-Progress Evalution) | 125–137 |
| **इकाई– 10.** आर्थिक सुधार काल में वाणिज्यिक बैंकों में हुए सुधार एवं नवीन नीतियाँ (Reforms and New Policies in the Commercial Banks During the Economic Reform Period) | 138–149 |

| खण्ड– 4. केन्द्रीय बैंकिंग (Central Banking) | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| **इकाई– 11.** केन्द्रीय बैंकः– कार्य एवं सिद्धान्त (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) (Central Bank:- Function and Theory (Reserve Banks of India)) | 150–161 |
| **इकाई– 12.** साख–नियन्त्रणः– परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विधियाँ (Credit Control:- Quantitative and Qualitative Methods) | 162–173 |
| **इकाई– 13.** मुद्रा–पूर्तिः–अवधारणा, अवयव एवं निर्धारक तत्व (Money Supply:- Concept, Components and Determinant Factors) | 174–181 |

| खण्ड– 5. राजस्व की प्रकृति, क्षेत्र एवं सिद्धान्त (Nature, Scope and Theory of Public Finance) | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| **इकाई– 14.** राजस्व का आशय, विषय–वस्तु एवं निजी वस्तुएँ और सार्वजनिक वस्तुएँ (Meaning, Subject-Matter of Public Finance and Private Goods and Public Goods) | 182–198 |
| **इकाई– 15.** अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Theory of Maximum Social Advantage) | 199–209 |
| **इकाई– 16.** सार्वजनिक आय–व्यय (Public Revenue-Expenditure) | 210–222 |
| **इकाई– 17.** बजट एवं निर्माण प्रक्रिया (Budget and its Process of Preparation) | 223–236 |

| खण्ड– 6. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (International Trade) | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| **इकाई– 18.** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं क्लासिकल सिद्धान्त (International Trade and Classical Theory) | 237–254 |
| **इकाई– 19.** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of International Trade) | 255–278 |
| **इकाई– 20.** व्यापार की शर्तें और मुक्त व्यापार, संरक्षण एवं भुगतान संतुलन (Terms of Trade and Free Trade, Protection and Balance of Payment) | 279–296 |
| **इकाई– 21.** विदेशी विनिमय एवं नियन्त्रण (Foreign Exchange and Control) | 297–310 |

# इकाई – 1 मुद्रा की रूपरेखा, परिभाषा एवं कार्य

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 मुद्रा की प्रकृति या स्वभाव
1.4 मुद्रा का महत्व
1.4.1 आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
1.5 मुद्रा की परिभाषा
1.5.1 प्रकृति के आधार पर
1.5.2 विस्तार के आधार पर
1.6 मुद्रा के कार्य
1.6.1 प्राथमिक कार्य
1.6.2 सहायक कार्य
1.6.3 आकस्मिक कार्य
1.6.4 अन्य कार्य
1.7 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य
1.8 मुद्रा का आधारभूत कार्य
1.9 सारांश
1.10 शब्दाबली
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

## 1.1 प्रस्तावना (Introduction)

मुद्रा, वर्तमान आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। मुद्रा उतनी ही प्राचीन तत्व है जितना की मानव सभ्यता के कुछ अन्य मूलभूत तत्व। अतः यह निश्चित उत्तर देना संभव नहीं है कि मुद्रा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ। उसके प्रारम्भिक रूपों की विविधता के कारण उसके उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करना कठिन है। मानव जीवन के आर्थिक पहलू का विकास होने के साथ–साथ मुद्रा का भी विकास होता गया। विशिष्टीकरण एवं आर्थिक आवश्यकताओं में जैसे–जैसे वृद्धि होती गयी, मुद्रा के रूप प्रकृति व कार्यों में भी वैसे–वैसे ही परिवर्तन होता गया।

वस्तु मुद्रा, को मुद्रा का प्रारम्भिक रूप माना गया है। वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत चमड़ा, पालतू जानवर, खालें, अनाज आदि का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाता था। धीरे–धीरे इसके स्थान पर धातु तथा धातुओं के सिक्को का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाने लगा। इस क्रम के कालान्तर में पत्र मुद्रा का विकास हुआ। आज की वर्तमान प्रणाली में साख मुद्रा व ई–मनी का भी व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है। यह अन्त नहीं है, क्योंकि विकास एक निरन्तर न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है।

इस इकाई में मुद्रा की प्रकृति उसके विभिन्न कायों पर विशेष बल दिया गया है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा को परिभाषित किया गया एवं इसके कार्यो का अवलोकन किया गया है।

## 1.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त् आपको यह ज्ञात हो सकेगा कि–

- ✓ मुद्रा की प्रकृति को जान सकेंगे कि मुद्रा का स्वभाव कैसा है।
- ✓ वर्तमान समय में मुद्रा के महत्व को समझ सकेंगे।
- ✓ मुद्रा क्या है व विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा इसे कितने प्रकार से परिभाषित किया गया है ?
- ✓ आप मुद्रा के विभिन्न रूपों को वर्गीकरण की सहायता से समझ सकेंगे।
- ✓ मुद्रा के कार्यों को वर्गीकरण के आधार से समझ सकेंगे।

## 1.3 मुद्रा की प्रकृति या स्वभाव (Nature of Money)

मुद्रा की प्रकृति इन आधारभूत प्रश्नों पर आधारित है–

1. क्या मुद्रा एक आवरण या पर्दा है अथवा वास्तविक है ?
2. मुद्रा साधन है या साध्य ?
3. मुद्रा, उत्पादन और वितरण की क्रियाओं के लिये ईधन की भांति है।
4. क्या मुद्रा सरकारी उत्पत्ति है यदि हाँ तो मुद्रा के प्रति सरकार के क्या कर्तव्य है ?
5. क्या मुद्रा एक तरल सम्पत्ति है

### 1. क्या मुद्रा एक आवरण या पर्दा है अथवा वास्तविक है ?

**प्रो0 पीगू** के शब्दों में *''मुद्रा एक आवेष्टन है, जिसमें सामान बाँधकर आपके पास आता है। (Money is a wrapper in which goods come to you)''* सरल शब्दों में कहा

जाता है कि *''मुद्रा आर्थिक जीवन में लिपटा हुआ वस्त्र है। (Money is the garment draped round the body of economic life)''* समाज में वस्तुएँ, श्रम तथा कच्चे माल द्वारा निर्मित होती है। जब माल विनिमय अथवा विक्रय के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तभी मुद्रा भुगतान की इकाई के रूप में प्रकट होती है। अर्थात् मुद्रा केवल बेचने के समय ही दिखाई पड़ती है, और यह भुगतान करते ही समाप्त भी हो जाती है। इसके आलोचकों ने माना हैं कि यह एक संकीर्ण दृष्टिकोण है जबकि आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व को देखते हुये मुद्रा को मात्र आवरण नहीं माना जा सकता। उत्पादन–प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था में मुद्रा की आवश्यकता होती है और यहीं पूँजी संचय का आधार भी बनती है। अतः यह कहना उचित होगा कि मुद्रा मात्र आवरण ही नहीं वरन् यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सक्रिय तत्व भी है।

### 2. मुद्रा साधन है, साध्य नही ?

मुद्रा की माँग, वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति के लिए की जाती है। कोई देश निर्धन अथवा धनी इस आधार पर निर्धारित होता है, कि वहाँ वस्तुओं अथवा सेवाओं का कितनी मात्रा में और किस स्तर का उत्पादन किया गया है नाकि उस देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा से। अतः यह कहना उचित होगा कि मुद्रा साधन हैं नाकि साध्य।

### 3. मुद्रा उत्पादन तथा वितरण की क्रियाओं के लिये ईंधन की भांति है ?

कुछ अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि *''मुद्रा स्वयं कुछ भी उत्पन्न करने की स्थिति में नहीं है। वह तो वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की क्रियाओं के लिये सहायक तेल की भांति है। (Money itself creates nothing. It is a lubricant of real economic process of production and distribution)''* आधुनिक काल में जहाँ प्रति दिन तकनीकी में उन्नति हो रही है वहीं उत्पादन के क्षेत्र में यदि मुद्रा न हो तो बड़े पैमाने पर उत्पादन कर पाना संभव नहीं होगा। मुद्रा आधुनिक उत्पादन तन्त्र की गाड़ी के पहिये के लिये तेल के समान है। मुद्रा, उत्पादन के साथ–साथ वितरण क्षेत्र में भी मूल्य निर्धारक के रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह सत्य है कि कोई भी ग्राहक, किसी भी वस्तु का क्रय करने से पहले, उस वस्तु के मूल्य को ज्ञात कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है की किसी भी वस्तु के मूल्य को निश्चित किये बिना, उस वस्तु की बिक्री सम्भव नहीं है।

### 4. सरकार का दायित्व मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण

सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता ना केवल मुद्रा के उतार–चढ़ाव को नियंत्रित करने के लिये बल्कि साख–व्यवस्था के लिये भी है। सरकारी व्यय की पूर्ति के लिये मुद्रा व्यवस्था पर सरकारी नियन्त्रण किया जाना आवश्यक है। अतः देश का केन्द्रीय बैंक सरकार की ओर से, देश में मुद्रा नियमन अथवा नियन्त्रण का कार्य करता है।

सरकारी हस्तक्षेप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक है :–

- **मूल्य स्थायित्व** : देश के उद्योगों तथा व्यापार के नियमित विकास व उपभोक्ताओं की सुरक्षा हेतु मुद्रा व्यवस्था का उचित नियमन आवश्यक है।
- **समानता** : देश में समानता बनाये रखने के उद्देश्य से भी सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य है। इसी कारण से सभी देशों में धातु–मुद्रा का टंकण कार्य स्वयं सरकार द्वारा किया जाता है।

### 5. मुद्रा एक तरल सम्पत्ति है ?

मुद्रा की यह एक अहम् खासियत है, कि वह एक तरल सम्पत्ति है अर्थात् वह हर समय किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदने के काम आ सकती है। अन्य सम्पत्तियों को तरल बनाने के लिये उस सम्पत्ति को पहले बेचना पड़ता है जबकि परन्तु मुद्रा स्वयं तरल होती है। मुद्रा के द्वारा वस्तुओं व सेवाओं का तत्काल क्रय किया जा सकता है। इसी गुण के कारण मुद्रा, विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मापक भी है।

## 1.4 मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

**प्रो. मार्शल** के शब्दों में *''मुद्रा व धुरी है, जिसके चारों ओर अर्थविज्ञान केन्द्रित है। (Money is the pivot around which the whole economic science clusters)''* **क्राउथर** के अनुसार, *''मुद्रा मनुष्य के समस्त आविष्कारों में एक आधारभूत आविष्कार है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अपने मूल आविष्कार हैं। मशीनों में यह आविष्कार पहिया है, विज्ञान में अग्नि और राजनीति विज्ञान में वोट है। उसी प्रकार अर्थशास्त्र तथा मनुष्य के समस्त व्यापारिक जीवन में मुद्रा एक ऐसा मूलभूत आविष्कार है, जिस पर अन्य सभी बातें आधारित होती है।*

मुद्रा के बिना दुनिया का कोई अस्तित्व नहीं। विनिमय प्रणाली का प्रारम्भिक रूप तो वस्तु विनिमय था, परन्तु उसमें होने वाली असुविधा को मुद्रा ने समाप्त कर दिया। मुद्रा के उपयोग से व्यापार में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। मुद्रा के उपयोग के कारण ही वित्तीय संस्थाएँ जैसे बैंक तथा अन्य गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं का सृजन होता है।

### 1.4.1 आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Modern Economy)

एक आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व कई गुना बढ़ जाता है। मुद्रा ना सिर्फ आधुनिक बाजार व्यवस्था का आधार है बल्कि यह साख–निर्माण का आधार भी है। मुद्रा ने मानव को आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है। सामाजिक क्षेत्र में मुद्रा के द्वारा ही विभिन्न शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना होती है। जो आर्थिक एवं सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

पूँजी निर्माण का सर्वोत्तम साधन मुद्रा है, क्योंकि यह एक तरल सम्पत्ति है, जिसे बैंक में रखकर ब्याज कमाया जा सकता है। मुद्रा की कीमत गिरने का संकेत यह भी है कि उस देश की आर्थिक स्थिति कमजोर है और यदि मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है, तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी मानी जाती है। अतः मुद्रा देश की प्रगति की सूचक होती है। अन्य वस्तु जैसे मकान, भूमि या अन्य स्थाई सम्पत्ति की तुलना में मुद्रा को बैंकों के माध्यम से सरलता से स्थानान्तरित किया जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार मुद्रा ही है। मुद्रा ने ही आर्थिक जगत को वस्तु विनिमय के दोषों से मुक्ति किया है और यहीं सामाजिक कल्याण का सूचक है। यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ती रहती है, तो देश आर्थिक कल्याण की ओर अग्रसर होता है।

*''मुद्रा वह धुरी है, जिसके चारों तरफ सम्पूर्ण अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।''* **मार्शल** का यह कथन स्वीकार्य हैं क्योंकि यदि मुद्रा न होती तो आर्थिक

विकास के उस शिखर तक मानव कभी न पहुँच पाता जिस पर आज के युग में वह औद्योगिकरण एवं आर्थिक सहयोग से पहुँच चुका है। **ट्रेस्कॉट** के शब्दों में, *''यदि मुद्रा को हमारे अर्थतन्त्र का हृदय नही तो रक्तश्रोत अवश्य माना जा सकता है।''*

## 1.5 मुद्रा की परिभाषा (Definitions of Money)

मुद्रा की एक स्पष्ट परिभाषा देना कोई सरल कार्य नहीं है। मुद्रा की परिभाषाओं के सागर में से यह निश्चित करना एक कठिन कार्य हो जाता है, मुद्रा की किस परिभाषा को अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक उपयुक्त माना जाए। '**मुद्रा** (Money)' अंग्रेजी भाषा का शब्द है, जो लेटिन भाषा के शब्द '**मोनेटो** (Moneta)' से बना है। पुरातन सभ्यताओं में मनुष्य अलग–अलग रूपों में मुद्रा का प्रयोग करता रहा है। मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ मुद्रा के रूप भी बदलते रहे है। शिकार युग में हथियारों को, पशुपालन युग में पशुओं को, कृषि युग में खाद्य पदार्थों को मुद्रा के रूप में काम में लेने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित रही है। इस दृष्टिकोण से मुद्रा शब्द बहुत पुराने समय से ही प्रचलित है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को अलग–अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। अर्थशास्त्रियों के विभिन्न दृष्टिकोण को निम्नांकित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। जोकि इस प्रकार है–

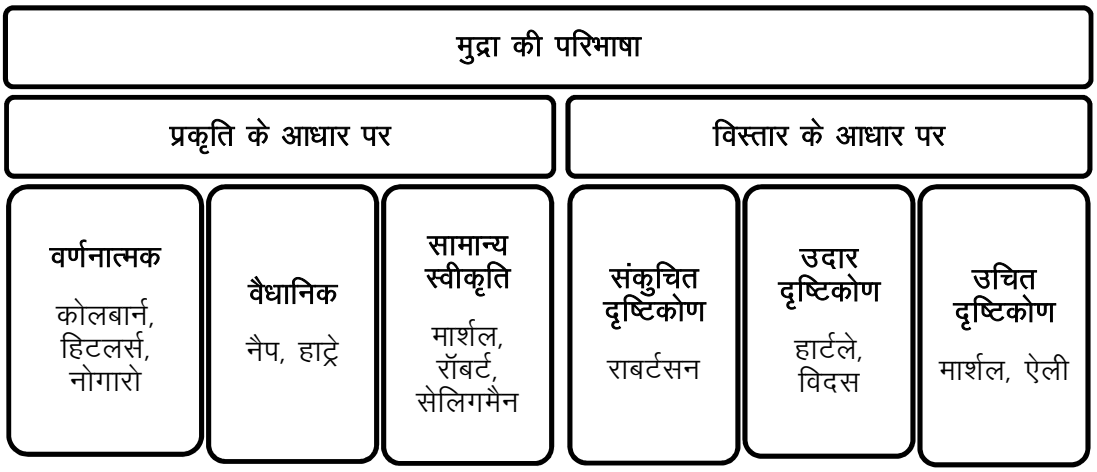


### 1.5.1 प्रकृति के आधार पर दी गयी परिभाषाएं (Definitions based on Nature)

**प्रकृति के आधार पर दी गयी मुद्रा की परिभाषाओं का वर्गीकरण**

मुद्रा की प्रकृति के आधार पर विभिन्न परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1) वर्णनात्मक परिभाषाएँ
2) वैधानिक परिभाषाएँ
3) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ

- **वर्णनात्मक परिभाषाएँ** (Descriptive Definitions):– यह परिभाषाएँ मुद्रा के कार्यो का वर्णन करती है, अतः इन्हें कार्यवाहक परिभाषाएँ भी कहा जाता है। फ्रांसिस वॉकर (Francis Walker), हार्टले विदर्स (Hartley Withers), सिजविक (Sidgwick), नोगारो (Nogaro) तथा एस. ई. टॉमस (S.E.Thomas) द्वारा इस आधार की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी है।

  **वाकर** के अनुसार– *''मुद्रा वह है, जो मुद्रा का कार्य करे''*

  **हार्टले** के अनुसार– *''मुद्रा वह सामग्री है, जिससे हम वस्तुओं का क्रय–विक्रय कर सकते है।''*

  **टॉमस** के अनुसार– *''मुद्रा के सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार है, एक ऐसा आदेश अथवा वचन जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छानुसार कभी भी पूरा कर सकता है। वह स्वयं साध्य नहीं है, अपितु अन्य व्यक्तियों की सेवाओं और वस्तुओं पर अधिकार जमाने का केवल साधन मात्र है।''*

  मुद्रा का वर्णन करने वाली इन परिभाषाओं को वैज्ञानिक अध्ययन के लिये स्वीकार नहीं की जा सकता है। हालांकि वर्णनात्मक परिभाषाएँ सरल एवं व्यावहारिक है, परन्तु इनसे मुद्रा का रूप अत्यन्त व्यापक हो जाता है और इसके साथ–साथ मुद्रा का कोई निश्चित रूप उभर कर सामने नहीं आ पाता। ये परिभाषायें एक प्रकार से अस्पष्ट भी है, क्योंकि इनमें कहीं भी मुद्रा की सर्वमान्यता या सरकार द्वारा प्राप्त मान्यता का उल्लेख नहीं दिया गया है।

- **वैधानिक परिभाषाएँ** (Legal Definition):– इस वर्गीकरण के अनुसार किसी भी वस्तु को मुद्रा होने के लिये, उसकी वैधानिक मान्यता आवश्यक है। किसी देश में जिस वस्तु को सरकार मुद्रा घोषित कर देती है, वह उस देश में मुद्रा का रूप ले लेती है। तत्पश्चात् देश के प्रत्येक व्यक्ति को इसे स्वीकार करने को बाध्य होता है। इसके प्रमुख समर्थक जर्मनी के प्रो0 नैप (Knapp) तथा बिट्रिश अर्थशास्त्री हॉट्रे (Hawtrey) है।

  **नैप** के अनुसार–*''कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा कहीं जाती है।''*

  वैधानिक परिभाषाओं की आलोचना करते हुये **कॉलबोर्न** (Coulborn) का कहना है, कि *''मुद्रा से सम्बन्धित वकीलों के दृष्टिकोण (Lawyer's view of money) को व्यक्त करती है, जो ठीक नहीं है।''*

  जहाँ वर्णनात्मक परिभाषायें मुद्रा का व्यापक रूप प्रस्तुत करती है, वही वैधानिक परिभाषायें मुद्रा का संकुचित रूप प्रस्तुत करती है। सही अर्थो में, सरकारी स्वीकृति के दबाव में किया गया विनिमय को विनियमय नहीं कहा जा सकता । यह एक ऐच्छिक कार्य है। मुद्रा की सामान्य स्वीकृति उस समय खतरे में पड़ जाती है, जब मुद्रा प्रसार के काल में मुद्रा का मूल्य (Value of Money) तीव्र गति से गिरने लगता है। प्रथम महायुद्ध के दौरान, जर्मनी में भीषण मुद्रा प्रसार होने से जर्मनी सरकार की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा एवं शक्ति '**मार्क** (Germany's Currency-Mark)' भी की सामान्य स्वीकृति बनाये रखने में असमर्थ रही थी। सन् 1944 में हंगरी में '**पेन्गास** (Pengos)' विधिग्राह्या होते हुए भी जनता की स्वीकृति प्राप्त नहीं कर सकी। अतः सर्वग्राह्यता का वास्तविक आधार जनता का विश्वास है नाकि राज्य की शक्ति।

➢ **सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ** (Definitions based on General Acceptance):– राबर्ट्सन् (Robertson), मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou), सेलिगमैन (Seligman), जी.डी.एच. कॉल (G.D.H. Cole), प्रो. केन्स (Keynes), केन्ट (Kent), ऐली (Ely) तथा क्राउथर (Crowther) आदि ने सामान्य स्वीकृति को मुद्रा का एक आवश्यक तत्व मानते हुये इस आधार पर विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की है, जोकि इस प्रकार है–

**क्राउथर** (Crowther) के शब्दों में– *''मुद्रा वह वस्तु है जो सामान्यतया विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग तथा सामान्यतया स्वीकार की जाती है (अर्थात् ऋणों के भुगतान के साधन के रूप में )* तथा *साथ–साथ मूल्य के मापक और संचय का कार्य करती है। (Money is any thing that is commonly used and generally accepted as means of exchange (i.e., as a means of setting debts) and at the same time acts as a measure and storeof value.)"* अर्थात् ऐसी कोई भी वस्तु, जो सामान्यतया मुद्रा के रूप में स्वीकार की जाती है, वह विनिमय के माध्यम व मूल्य के माप का कार्य भी करती है। इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर मुद्रा के रूप में स्वीकार की जाने वाली वस्तु के रूप में तीन विशेष लक्षण उत्पन्न होते है।

1. इसे मुद्रा के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त है।
2. यह स्वीकृति स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक है।
3. यह सर्वग्राह्यता केवल वर्तमान लेन–देन व भुगतान के लिये नहीं बल्कि भविष्य के भुगतानों के लिये भी है। इसलिये इसका प्रयोग ऋणों की अदायगी व मूल्य के संचय के लिये किया जाता है।

सामान्य स्वीकृति पर आधारित यह परिभाषा अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक उचित प्रतीत होती है। इस आधार पर सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये सिक्के तथा कागजी नोट, निःसन्देह, मुद्रा है। जिसे चलार्थ (Currency) कहा जाता है आज की आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा निश्चित करने के लिये चलार्थ की मात्रा के साथ– साथ देश में बैंकों की माँग जमा राशियों (Demand Deposits) को भी सम्मिलित किया जाता है। परन्तु सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषा के अनुसार इन राशियों को मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। इनका आधार तो केवल ऐच्छिक स्वीकृति है।

वहीं सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाओं की मुख्य कमी यह है कि यह मुद्रा के सभी आवश्यक कार्यों पर (जिनसे सामान्य स्वीकृति प्रेरित होती है) समान रूप से प्रकाश नहीं डालती है। एक पूर्ण परिभाषा में मुद्रा के सभी कार्य सम्मिलित होने चाहिए।

अतः निष्कर्ष रूप में मुद्रा के गुणों का ध्यान रखते हुये यह कहा जा सकता है कि मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक व्यापक क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, ऋण मापक, ऋण भुगतान तथा मूल्य संचय के रूप में स्वतंत्र और सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।

## 1.5.2 मुद्रा विस्तार के आधार पर दी गयी परिभाषाएं (Definitions based on Expention of Money):–

### विस्तार के आधार पर दी गयी मुद्रा की परिभाषाओं का वर्गीकरण

मुद्रा के विस्तार के आधार पर विभिन्न परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1) संकुचित दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएं
2) व्यापक दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएं
3) उचित दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएं

- **संकुचित दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएँ** (Definitions related to Narrow Approach):– इस दृष्टिकोण पर आधारित परिभाषाएं मुद्रा के दो रूप स्पष्ट करती है।
  1) मुद्रा का अमूर्त रूप (Tangible form of Money)
  2) मुद्रा का मूर्त रूप (Intangible form of Money)

  मुद्रा का अमूर्त रूप मुद्रा के मूल्य मापक तत्व को व्यक्त करता है और मुद्रा को लेखा की इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है। स्वीडिश अर्थशास्त्री **गुस्ताव कैसल** (Gustav Cassel) के अनुसार, *"मुद्रा वह वस्तु है जो अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन करने के लिये सामान्य मापक का कार्य करती है। मुद्रा का प्रमुख और मौलिक कार्य एक ऐसी गणना के आधार का कार्य करना है जिसके द्वारा विनिमय योग्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जा सके।"*

  मुद्रा का मूर्त रूप सभी प्रकार के एवं पत्र मुद्राएं शामिल करता है जिन्हें विभिन्न भुगतानों के लिये प्रयोग में लाया जाता है। साधारणतया मुद्रा से तात्पर्य केवल उसके मूर्त रूप से ही लिया जाता है। किन्तु मुद्रा की उचित परिभाषा में मुद्रा के दोनों रूपों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। संकुचित दृष्टिकोण अपनाने वाले विद्वान, मुद्रा के मूर्त रूप के अन्तर्गत केवल सिक्के तथा नोट को ही शामिल करते है। जबकि बैंक ड्राफ्ट, चेक, विनिमय–बिल आदि साख पत्रों को मुद्रा के रूप में शामिल नही करते है।

  मुद्रा की सर्वमान्यता ही उसका आधार है। इसके लिये वैधानिक स्वीकृति का होना अनिवार्य नहीं है। वैधानिक स्वीकृति प्राप्त मुद्रा अथवा विधिग्राह्य को चलार्थ (Currency) कहा जाता है। जबकि मुद्रा में सर्वमान्य साख मुद्रा (Credit Money) भी सम्मिलित होती है।

  *सभी चलार्थ मुद्रा है, परन्तु सभी मुद्रा चलार्थ नहीं है।* ***(All currency is money, but all money is not currency)***

- **व्यापक दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएँ** (Definitions related to Broad Approach):– इस दृष्टिकोण के अनुसार वे सभी वस्तुऐं जो मुद्रा का कार्य करती है, मुद्रा कहलाती है। जिस प्रकार **प्रो.वॉकर** (Prof. Walker) ने कहा, ***"मुद्रा वह वस्तु है जो मुद्रा का कार्य करे*** *(Money is as Money does)*" और **कार्ल हैलफरिक** (Karl Halfrich) ने तो मुद्रा की इतनी व्यापक परिभाषा दी कि समस्त मौद्रिक प्रणाली का सम्बन्ध लगभग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से स्थापित हो जाता है। उनके अनुसार ***"मुद्रा से हमारा आशय उन सब वस्तुओं एवं संस्थाओं***

*से है, जो एक दिये हुये क्षेत्र तथा एक दी हुयी प्रणाली में, आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक सहयोग में सुविधा पहुंचाती है।'*

वहीं **कॉलबोर्न** द्वारा दी गयी व्यापक दृष्टिकोण वाली परिभाषाओं को सामान्य स्वीकृति की व्यावसायिक विचारधारा के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा को परिभाषित करते समय उसे वैधानिकता के साथ जोड़ा जाए। आज के वर्तमान युग में जहां साख मुद्रा का महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है वहां व्यापक दृष्टिकोण की परिभाषा अधिक उचित जान पड़ती है। अतः एक उचित परिभाषा वहीं होगी, जो मुद्रा के वास्तवित रूप के साथ–साथ उसके आवश्यक कार्यों को भी उल्लेखित करें।

**नोट** : जिन देशों में बैंकिंग का अधिक विकास नहीं हुआ वहाँ करेन्सी अथवा चलार्थ भुगतान के माध्यम के रूप में सर्वाधिक सामान्य स्वीकृत है जैसे 1950 के दश के प्रारम्भिक में भारत देश जहाँ मुद्रा पूर्ति का 85 प्रतिशत के करीब करेन्सी के रूप में था। आज भी जहां भारत में करेन्सी का हिस्सा 20 प्रतिशत के लगभग रहा है वहीं पश्चिम के अधिकांश आद्यौगिक देशों में यह 6 प्रतिशत है।

जैसे जैसे बैंकों का विकास होता जाता है, वैसे–वैसे चैकों आदि का अधिक प्रयोग होने लगता है और उसके संलग्न क्रियाओं में सुधार होता जाता है। जैसे भारत में एम. आई. सी. आर. (MICR - Magnetic Ink Character Recognition) चेकों के समाशोधन का विस्तार किया गया है तथा इलेक्ट्रॉनिक समाशोधन सेवा (Electronic Clearing Services) के अन्तर्गत जमा तथा नामे की प्रणाली लागू की गयी है। क्रेडिट कार्ड का प्रयोग भी बढ़ रहा है जिसे प्लास्टिक मुद्रा की संज्ञा दी गयी है और इनके लिए Visa तथा Master Card जैसे अर्न्तराष्ट्रीय ब्राण्डों का प्रयोग कर रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में भी भुगतान प्रणाली का आधुनिकीकरण प्रारम्भ हो चुका है। त्वरित भुगतानों की व्यवस्था के लिए सैटेलाइट अधिक नेटवर्क कार्य कर रहा है।

- **उचित दृष्टिकोण सम्बन्धित परिभाषाएँ** (Definitions related to Appropriate Approach):– इस विचारधारा के अनुसार धातु के सिक्कों और कागज के नोटों को ही मुद्रा में शामिल किया गया है। प्रो. मार्शल एवं प्रो. एली इसके मुख्य समर्थक है।

**मार्शल** के अनुसार– *''मुद्रा में उन सभी वस्तुओं का समावेश होता है जो किसी भी समय या स्थान में बिना किसी संदेह के और बिना किसी जांच पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने और भुगतान करने से साधन के रूप में स्वीकृति की जाती है।''*

**प्रो. ऐली** के अनुसार– *''मुद्रा ऐसी वस्तु है, जो विनिमय के माध्यम के रूप में हस्तान्तरित होती है और ऋणों के अंतिम भुगतान के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती है।''*

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ऐसी वस्तु मुद्रा हो सकती है, जिसे विनिमय के माध्यम एवं ऋणों के अंतिम भुगतान के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। इस आधार पर हम साख पत्रों जैसे चेक, विनिमय–पत्र आदि को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल धातु के सिक्के एवं कागजी मुद्रा को ही मुद्रा में शामिल किया जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर मुद्रा को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित करना उचित रहेगा कही जा सकती है। *"मुद्रा ऐसी वस्तु है, जिसे विस्तृत रूप में विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापक ऋणों के अंतिम भुगतान तथा मूल्य के संचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र एवं सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है।"*

## 1.6 मुद्रा के कार्य (Functions of Money):–

**प्रो0 चैण्डलर** का कथन है कि किसी आर्थिक प्रणाली में मुद्रा का एकमात्र मौलिक कार्य, वस्तुओं तथा सेवाओं के लेन–देन में लगने वाले समय तथा परिश्रम की बचत करना होता है।

मुद्रा के सभी कार्यो का वर्गीकरण अग्र प्रकार से किया जा सकता है–

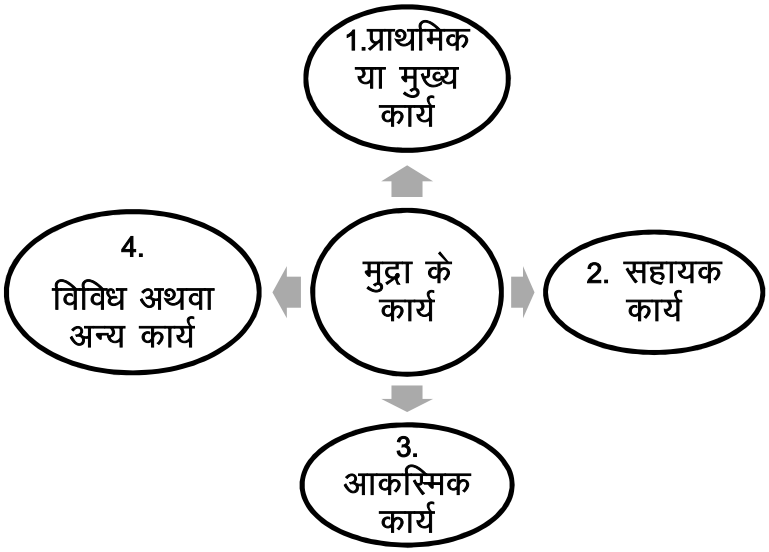


### 1.6.1 प्राथमिक कार्य (Primary Functions)

सहायक कार्य मुद्रा के कुछ ऐसे कार्य है, जो प्राथमिक कार्यों में मुद्रा के उन महत्त्वपूर्ण कार्यों को शामिल किया जाता है जो इसे प्रत्येक देश में करने होते है। इस श्रेणी में विनिमय का माध्यम व मूल्य मापक कार्य उल्लेखनीय है।

1. **विनिमय का माध्यम** (Medium of Exchange): आधुनिक युग में जितना लेन–देन होता है, उसका भुगतान अधिकतर मुद्रा के द्वारा ही किया जाता है। एक उत्पादक द्वारा थोक विक्रेता को माल बेचकर मुद्रा प्राप्त की जाती है, आगे चलकर थोक विक्रेता फुटकर व्यापारी को बेचता है, और मुद्रा प्राप्त करता है, जिसे अब ग्राहक को मुद्रा के बदले बेचा जाता है। इस प्रकार समाज के सभी क्रेता–विक्रेता, उपभोक्ता और व्यापारी के बीच मुद्रा एक कड़ी है, जो प्रत्येक वर्ग को प्रतिफल दिलाती है।

   अतः वर्तमान विनिमय व्यवस्था की कल्पना मुद्रा के बिना संभव नहीं है। मुद्रा का प्रयोग करने से क्रेताओं तथा विक्रेताओं को स्वतंत्र निर्णय करने की शक्ति प्राप्त हुई है। अब वे स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकते है कि वे कहाँ और कितनी

मात्रा में क्रय–विक्रय करें। जहॉ उत्पति के साधनों को भी अब अपने योगदान का प्रतिफल मुद्रा के रूप में प्राप्त हो जाता है। वहीं साधनों को भी अपने योगदान का प्रतिफल मुद्रा के रूप में प्राप्त हो जाता है। जिसे अब वे अपनी इच्छा से व्यय कर सकते है। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा सभी वस्तुओं का आवंटन करती है और अर्थव्यवस्था के पहिये को लगातार चलायमान बनाये रखती है।

2. **मूल्य मापक** (Measure of value) : क्राउथर ने लिखा है, कि *"यह लेखे की इकाई के रूप में कार्य करती है, यह मूल्य के मापदण्ड अथवा सर्वमान्य मापक का जिसे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, कार्य करती है।"* मुद्रा में व्यक्त किया गया मूल्य 'कीमत' कहलाता है। उल्लेखनीय है कि मूल्य मापक का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा के अपने मूल्य में कोई उतार चढ़ाव न हो। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण ही वस्तुओं की कीमतों में सार्थक परिवर्तन होता है।

## 1.6.2 सहायक कार्य (Secondary Functions)

सहायक कार्य, मुद्रा के कुछ ऐसे कार्य है जो प्राथमिक कार्य के सहायक होते है और अर्थव्यवस्था के विकास के साथ–साथ बढ़ते रहते है। इस श्रेणी में तीन कार्य उल्लेखनीय है।

1. भावी भुगतानों का आधार
2. मूल्य संचय का साधन
3. मूल्य हस्तान्तरण

1. **भावी भुगतानों का आधार** (Standard of Deferred Payments) : ऐसे भुगतान जिन्हें तत्काल न करने के स्थान पर भविष्य के लिये स्थगित कर दिया जाता है, उनके लिये मुद्रा ही आधार है। लेकिन यह तभी संभव हो पाता है, जब मुद्रा के मूल्य में सामान्यतः स्थिरता बनी रहे। इसमें टिकाऊपन भी अधिक होता है तथा इसमें सामान्य स्वीकृति का गुण भी विद्यमान होता है।
2. **मूल्य संचय का साधन** (Source of value accumulation) : मुद्रा के प्रयोग द्वारा मूल्य संचय का कार्य अत्यन्त सरल हो गया है क्योंकि इसमें टिकाऊपन अथवा अक्षयशीलता का गुण भी विद्यमान होता है। इसे सुरक्षापूर्वक जमा किया जा सकता है, और इसके साथ–साथ इससे ब्याज भी कमाया जा सकता है। आधुनिक बैंकिग का विकास मुद्रा के इसी कार्य से सम्भव है। किसी देश में आर्थिक विकास के लिये यह अति आवश्यक हो जाता है कि वहाँ अधिक मात्रा में पूँजी संचय किया जाता हो। देश में अधिक मात्रा में पूँजी संचय के लिये मुद्रा का मूल्य स्थिर बनाये रखना आवश्यक है, ताकि लोग अपनी बचत को स्वर्ण, भूमि या किसी अन्य रूप में संचित करके ना रखने लगे। कीमतों की स्थिरता यह तय करती है, कि लोगों द्वारा मूल्य का संचय मुद्रा के रूप में किया जायेगा अथवा अमौद्रिक परिसम्पत्तियों के रूप में।

   महत्ता की दृष्टि से, मुद्रा के उपरोक्त चार कार्य अति महत्वपूर्ण है। अन्य कार्य किसी न किसी रूप में इन्हीं चार कार्यो से जुड़े है। इनका भी सामान्य दृष्टि से महत्व है।

3. **मूल्य हस्तान्तरण** (Transfer of Value): वहनीयता के गुण के कारण मुद्रा के रूप में क्रय–शक्ति अथवा मूल्य का हस्तान्तरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसी के फलस्वरूप आर्थिक जीवन में गतिशीलता बढ़ी है और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

## 1.6.3 आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

**किनले** के अनुसार *''प्रत्येक उन्नत अर्थव्यवस्था में मुद्रा मुख्यत: सहायक कार्यो के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य भी करती है।*

1. **आय का वितरण** (Distribution of Income) : उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सहयोग से ही उत्पादन करना संभव हो पाता है। अतः इन साधनों को उनका उचित प्रतिफल मिलना चाहिये। जो मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है। मुद्रा में न केवल समस्त राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाता है। बल्कि प्रत्येक वर्ग को उसके योगदान के अनुपात में भुगतान भी मुद्रा में ही दिया जाता है।
2. **साख का आधार** (Basis of Credit): बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का व्यवसाय साख के आधार पर ही चलता है तथा साख–सृजन का कार्य भी बैंकों में जमा राशि के आधार पर ही किया जाता है, जो मुद्रा के रूप मे होती है। इस प्रकार मुद्रा ना केवल भुगतान के माध्यम के रूप में कार्य करती है बल्कि भुगतानों के साधनों के निर्माण का आधार भी है।
3. **पूँजी की उत्पादकता बढ़ाना** (Increase Productivity of Capital): मुद्रा, पूँजी का सबसे बड़ा आधार है। मुद्रा के द्वारा ही पूँजी को ऐसे विनियोग में हस्तान्तरित किया जा सकता, जहाँ उसकी उत्पादकता तुलनात्मक रूप से अधिक हो। इससे पूँजी की गतिशीलता एवं उत्पदकता में वृद्धि होती है।
4. **सम्पत्ति की तरलता** (Liquidity of Property): मवदे, सम्पत्ति को एक सरल रूप प्रदान करता है। नकद राशि को अधिकतम लाभ देने वाले स्थानों, केन्द्रों अथवा व्यवसायों में सरलता से भेजा जा सकता है। मुद्रा उत्पत्ति का एक साधन तो नहीं है, परन्तु पूँजी को सामान्य रूप देकर उत्पादन में बहुत अधिक सहायक होती है।

## 1.6.4 अन्य कार्य (Miscellaneous Functions)

उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त मुद्रा के कुछ अन्य कार्य इस प्रकार है :–

1. **निर्णय वाहक** (Bearer of Option) : ग्राहक के मतानुसार मुद्रा के रूप में की गयी बचत भविष्य में किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सकती है। चूँकि मनुष्य के उद्देश्य बदलते रहते है, जिसके लिये मुद्रा सबसे उपर्युक्त वस्तु है, जो किसी भी निर्णय के अधीन उद्देश्य के लिये काम में लायी जा सकती है।
2. **शोधन क्षमता का सूचक** (Index of Solveney) : **आर.पी. केन्ट** के अनुसार, *''किसी व्यक्ति के पास तरल मुद्रा उसकी भुगतान अथवा शोधन क्षमता की गारण्टी होती है, मुद्रा इस बात का सूचक है, कि शोधन क्षमता को कहाँ तक बनाये रखा जा सकता है।''*

## 1.7 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य (Static and Dynamic Functions of Money)

**पॉल एन्जिग** (Paul Einzig) के अनुसार मुद्रा के कार्यो को स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्यों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है।

स्थैतिक कार्य वे कार्य होते है जिनसे अर्थव्यवस्था संचालित होती है परन्तु उसमें वे गति अथवा वेग उत्पन्न नहीं करते है। इस आधार पर विनिमय माध्यम, मूल्य मापक, क्रय के संचय, हस्तांतरण अथवा स्थगित भुगतान के रूप में मुद्रा के मुख्य एवं सहायक कार्य है क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप से वेग उत्पन्न नहीं होता है।

एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में मवदे, कीमत प्रणाली के संचालन के माध्यम के रूप में भी कार्य करती है। मुद्रा के स्थैतिक कार्यों को ***निष्क्रिय कार्य, परम्परागत कार्य, स्थिर कार्य तथा तकनीकी कार्य*** भी कहते हैं।

दूसरी ओर, मुद्रा के वे कार्य जिनसे आर्थिक गतिविधियां सक्रिय रूप में प्रभावित होती है। वे कार्य मुद्रा के प्रावैगिक कार्य कहलाते है। मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण सक्रिय कार्य कीमत को प्रभावित करना है और जैसा की आप जानते है कि कीमत स्तर में परिवर्तन होने से ही आर्थिक परिस्थितयां प्रभावित होने लगती है। मुद्रा की मांग और पूर्ति में परिवर्तन होने से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है, जिसके परिणामस्वरूप रोजगार, उत्पादन, आय–स्तर आदि सभी प्रभावित होने लगते है। जब मौद्रिक विस्तार के फलस्वरूप लोगों के पास अधिक क्रय–शक्ति होती है, तब वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती है, और इसके साथ–साथ उत्पादन विस्तार वृद्धि तथा आय–वृद्धि की प्रवृत्तियां उत्पन्न होने लगती है। इसकी गति तीव्र होने पर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्थव्यवस्था की ब्याज दरें, बचत, निवेश, सरकारी व्यय तथा उत्पत्ति के साधनों का उपयोग प्रभावित होता है, जिनसे आर्थिक स्थिति सक्रिय रूप में प्रभावित होती है।

पॉल ऐन्जिग ने यह स्पष्ट किया कि मुद्रा की सहायता से ही सरकार घाटे के बजट बना पाती है। मुद्रा के रूप में व्यय करने से सरकार आर्थिक विकास एवं सामाजिक विकास के कार्यक्रमों को पूरा करती है।

पूँजी को तरलता प्रदान करना, साख के आधार के रूप में कार्य करना मुद्रा के प्रावैगिक कार्य ही है। वास्तव में मुद्रा के प्रावैगिक कार्य उतने ही महत्वपूर्ण है, जितने उसके स्थैतिक कार्य है।

## 1.8 मुद्रा का आधारभूत कार्य (Basic Functions of Money)

**प्रो. चैण्डलर** (Prof. Chandler) के अनुसार :– *''मुद्रा का आधारभूत उद्देश्य, 'चलन के चक्के' तथा 'व्यापार के यंत्र' के रूप में कार्य करता है। अधिकतर विनिमय माध्यम के कार्य को ही आधारभूत कार्य मानते है, क्योंकि अन्य कार्य इसी आधार पर कार्य करती है।''*

**हैन्सन** (Hansen) के अनुसार मुद्रा के सभी परम्परागत अथवा स्थैतिक कार्य उसके विनिमय माध्यम कार्य की ही शाखाएँ मात्र है।

## 1.9 सारांश (Summary)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके है कि मुद्रा की विभिन्न परिभाषाएँ कौन–कौन सी है तथा इसके कार्यो के आधार पर इसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है।

मुद्रा की प्रकृति के आधार पर मुद्रा की परिभाषाओं को तीन वर्गो में विभाजित किया जाता है– वणर्नात्मक परिभाषाएँ, वैधानिक परिभाषाएँ, तथा समान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ।

साधारणतया मुद्रा के चार कार्यो–विनियम का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा संचय का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मुद्रा के कार्य बहुत व्यापक है। किनले द्वारा इन्हें तीन वर्गो में विभाजित किया गया है– 1.मुख्य अथवा प्राथमिक कार्य 2. सहायक कार्य 3. आकस्मिक कार्य। मुद्रा के कार्यो का विकास भी उसी क्रम में हुआ है, जिस क्रम में मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास हुआ है। यह कार्य आज भी नहीं रूका है। मुद्रा एक साधन है, साध्य नहीं। यह वह धुरी है, जिसके ओर चारों ओर अर्थविज्ञान केन्द्रित है। यह विशिष्ट अर्थव्यवस्था की उपज है। मुद्रा, आर्थिक विकास के लिए बचत तथा निवेश को प्रोत्साहित करने में योगदान करती है। मुद्रा के उपयोग के कारण ही वित्तीय संस्थाओं जैसे बैंक तथा अन्य गैर–बैंक वित्तीय संस्थाओं का सृजन हुआ है।

## 1.10 शब्दावली

- **वस्तु विनिमय** – वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का आदा–प्रदान।
- **बैंक मुद्रा** – व्यापारिक बैंकों द्वारा सृजित माँग जमा।
- **बाह्य मुद्रा** – सरकारी ऋण पर आधारित मुद्रा।
- **आन्तरिक मुद्रा** – आर्थिक इकाइयों के ऋण पर आधारित मुद्रा।
- **अर्द्ध मुद्रा** – ऐसी परिसम्पतियॉ, जो तरलता का गुण रहते हुये भी स्पष्ट रूप में मुद्रा नहीं कही जा सकती

## 1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1. मुद्रा का सामान्य अर्थ है।

(क) करेन्सी
(ख) करेन्सी तथा बैंको की सम्पूर्ण जमा राशियॉ
(ग) करेन्सी तथा मांग जमा राशियॉ
(घ) सम्पूर्ण चलनिधि

2. मुद्रा का अनिवार्य कार्य क्या है–

(क) मूल्य मापन
(ख) मूल्य संचय
(ग) मूल्य हस्तान्तरण
(घ) साख व्यवस्था का आधार

3. मुद्रा एक अच्छा.....है, किन्तु बुरा.....।

4. नैप अर्थशास्त्री ने मुद्रा की.....परिभाषा का प्रतिपादन किया।

5. मूल्य मापक मुद्रा का.....कार्य है।
6. मूल्य संचय मुद्रा का.....कार्य है।
7. वर्तमान समय में मुद्रा अर्थ विज्ञान की धुरी है। सही/गलत
8. राबर्टसन ने मुद्रा के लिये संकुचित दृष्टिकोण की परिभाषा दी। सही/गलत

उत्तर : 1. (ख) 2. (क) 3. सेवक, स्वामी 4. वैधानिक 5. प्राथमिक 6. सहायक 7. सही 8. सही

## 1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. डा0 जे0सी0 पन्त एवं जे0पी0 मिश्रा – अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डा0 टी0टी0 सेठी – मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
3. डा0 टी0टी0 सेठी – समष्टि अर्थशास्त्र
4. डा0 एम एल झिंगन – मौदिक अर्थशास्त्र


## 1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री


- Dwivedi, D.N. (2008) ***Macro Economics***, 7th edition, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi.
- Ahuja, H.L. (2010) ***Principles of Macro Economics***, S. Chand and Company Ltd. New Delhi.
- Colander, D. C., (2008) ***Economics***, McGraw Hill Education, New Delhi.
- Mishra, S.K. and V.K. Puri (2003) ***Modern Macro-Economics Theory***, Himalaya Publishing House, New Delhi.


## 1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा की परिभाषा दीजिए। वर्तमान में इसके महत्व की विवेचना कीजिए।
2. मुद्रा क्या है ? क्या आप ऐसा सोचते है, कि मुद्रा के कार्यो का विकास समय समय पर इससे चाहने वाली सेवाओं के अनुसार हुआ है ?
3. मुद्रा के स्थैतिक तथा प्रावैगिक कार्यो की व्याख्या कीजिये ? एक विकासशील अर्थव्यवस्था में प्रावैगिक कार्यो की व्याख्या कीजिये ?
4. मुद्रा के आविष्कार ने आर्थिक क्रियाओं को प्रयासरत् रूप में प्रोत्साहित किया है ? विवेचना कीजिये ?

# इकाई – 2 मुद्रा का वर्गीकरण

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मुद्रा का वर्गीकरण
  2.3.1 प्रकृति के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण
  2.3.2 वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण
  2.3.3 पदार्थ के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण
2.4 सारांश
2.5 शब्दाबली
2.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

## 2.1 प्रस्तावना

मुद्रा की स्वयं कोई उपयोगिता नही होती है। किन्तु मनुष्य को अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु जिन वस्तुओं एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है उन्हें मुद्रा के बदले में प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा समाज में अनेक रूपों में प्रचलित है यथा वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा, विधि ग्राह्य मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा, धातु मुद्धा तथा पत्र मुद्रा आदि। मुद्रा पूर्ति के सामान्यतया जाने माने माप में करेंन्सी, शुद्ध मांग निक्षेप, भारत के रिजर्व बैंक के पास अन्य निक्षेप शामिल किये जाते है।

## 2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप मुद्रा का वर्गीकरण किस तरह से किया जाता है। मुद्रा को वर्गीकृत करने के लिये विभिन्न आधारों का प्रयोग किया जाता है। व इसकी विभिन्न अवधारणाओं से अवगत हो जाएगें।

## 2.3 मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का वर्गीकरण कई तरह से किया गया है। मुद्रा को वर्गीकृत करने के लिये विभिन्न आधारों का प्रयोग किया जाता है :– (1) जिन वस्तुओं से मुद्रा बनाई जाती है (2) मुदा को जारी करने वाले की प्रकृति जैसे, सरकार, केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य कोई।

### 2.3.1 प्रकृति के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण

प्रकृति के आधार पर **जे.एम.केन्स** (J. M. Keynes) ने मुद्रा का वर्गीकरण 'वास्तविक मुद्रा' तथा 'हिसाब की मुद्रा' में किया है।

समय–समय पर मुद्रा ने विविध रूप धारण किये हैं। मुद्रा के विभिन्न स्वरूपों को समझने के लिए मुद्रा का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है।

1. **वास्तविक मुद्रा** (Money Proper) से तात्पर्य उस मुद्रा से है जो किसी देश में विनिमय–माध्यम तथा भुगतान के आधार के रूप में प्रचलित होती है और क्रय–शक्ति का संचय करती है। चलन में विभिन्न सिक्के एवं करेन्सी नोट वास्तविक मुद्रा ही हैं। **वास्तविक मुद्रा के कीन्स ने दो उपभेद बताये हैं :**
   - **वस्तु मुद्रा** (Commodity Money) : लॉर्ड कीन्स के अनुसार, वस्तु मुद्रा किसी स्वतन्त्र रूप मे उपलब्ध वस्तु से बनी हुई इकाई है जिसे मुद्रा का कार्य करने के लिये चुना गया है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी ऐसी वसतु जो सरलता से प्र्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो और जिसे जनता ने सुविधा की दृश्टि से मुद्रा का दर्जा दे दिया हो, वस्तु मुद्रा कहलाती है। इस प्रकार की मुद्रा का वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) उनके अंकित मूल्य (face value) के बराबर अथवा लगभग बराबर होता है। इसको पूर्णकाय मुद्रा (Full-bodied Money) भी कह सकते हैं। धातु–मुद्रा ही वस्तु–मुद्रा की श्रेणी में आ सकती है।
   - **प्रतिनिधि–मुद्रा** (Representative Money) – यह मुद्रा विनिमय–माध्यम के रूप में कार्य करती है क्योंकि क्रय–शक्ति की प्रतिनिधि होती है। प्रतिनिधि मुद्रा का चलन धात्विक कोषों पर आधारित हो सकता है जो कि मुद्रा की मात्रा के शत–प्रतिशत मूल्य तक के बराबर हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि यह धात्विक कोषों के बजाय सरकार के विश्वास पर ही आधारित हो। चलन

में घटिया धातुओं के सिक्के अथवा कागजी नोट ही होते हैं। इनका यथार्थ मूल्य कुछ न होने के कारण यह मुद्रा क्रय–शक्ति के संचय के लिए उपयुक्त नहीं होती। यह भी दो प्रकार की होती है–(1) परिवर्तनीय, और (2) अपरिवर्तनीय। परिवर्तनीय मुद्रा को वस्तु–मुद्रा से बदला जा सकता है परन्तु अपरिवर्तनीय मुद्रा को (सिफ अपने में) अन्य किसी वस्तु–मुद्रा में बदलने के लिए निर्गम संस्थाएँ अथवा सरकार बाध्य नही होती है। इसे **केन्स** ने 'बलात् मुद्रा' (Fiat Money) भी कहा है।

2. **हिसाब की मुद्रा** (Money of Account) वह है जिसमें ऋण और कीमतें तथा सामान्य क्रय–शक्ति व्यक्त की जाती है। इसी में सभी प्रकार के हिसाब रखे जाते हैं और इसका प्रायः स्थायी नाम होता है; जैसे रुपया भारत की हिसाब की मुद्रा है, जबकि इसका रूप अनेक बार बदल चुका है। इस प्रकार की मुद्रा के लिए **बेन्हम** ने गणन की इकाई (Unit of Account) शब्द का प्रयोग किया है। साधारणतः हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा भिन्न नहीं होती हैं, परन्तु ऐसे कई उदाहरण हैं जबकि यह दोनों भिन्न भी रही हैं। सन् 1923 में जर्मनी में मार्क वास्तविक मुद्रा थी, और गणन की मुद्रा फ्रेंक तथा स्विस डालर। भारत में दशमलव मुद्रा के चलन के पूर्व हिसाब पाइयों में रखा जाता था जबकि पाई वास्तविक चलन में नहीं थी। हिसाब की मुद्रा एक सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा व्यावहारिक रूप। व्यावहारिक रूप में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं जबकि सैद्धान्तिक रूप स्थिर रहता है।

## 2.3.2 वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण

वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा दो प्रकार की होती है :

**(क) विधिग्राह्य मुद्रा** (Legal Tender Money) – यह वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप में देश की सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और जिसे अस्वीकार करना एक अपराध समझा जाता है। विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है – **सीमित विधिग्राह्य**, जिसे एक निश्चित सीमा के बाद स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता, जैसे भारत में एक पैसे से पच्चीस पैसे तक के सिक्कों को 25 रुपये से अधिक स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, असीमित विधिग्राह्य मुद्रा वह है जिसे कोई भी व्यक्ति किसी भी सीमा तक एक ही बार में भुगतान में स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है।

**असीमित विधिग्राह्य भी दो प्रकार का होता है – (1) 'बहुविधिग्राह्य प्रणाली'** (Multiple Legal Tender System) के अन्तर्गत दो या दो से अधिक तरह के धातु के सिक्के प्रामाणिक (Standard) रूप में चलन में होते हैं और इनका असीमित मात्रा में भुगतान किया जा सकता है। **(2) 'मिश्रित' अथवा 'तालिका' प्रणाली** (Composite or Tabular System) जिसके अन्तर्गत मुद्रा को वस्तुओं के मूल्य–स्तर के आधार पर लेन–देन में स्वीकार किया जाता है।

**(ख) ऐच्छिक मुद्रा** (Optional Money) – यह वह मुद्रा है जिसे साधारणतः स्वीकार किया जाता है, परन्तु इसके लिए कानून किसी को विवश नहीं करता। विभिन्न प्रकार के साखपत्र, चेक, बिल इत्यादि ऐच्छिक मुद्रा ही हैं। इस प्रकार की मुद्रा की स्वीकृति बहुत कुछ भुगतान करने वाले की बाजार में साख पर निर्भर करती है। **रॉबर्टसन** ने वैधानिकता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण करते हुए विधिग्राह्य को 'साधारण मुद्रा' (Common Money) तथा ऐच्छिक मुद्रा को 'बैंक

मुद्रा' (Bank Money) कहा है। साधारणतया मुद्रा (M) में चलन अथवा करेन्सी (C) तथा माँग जमाराशियाँ (demand deposits-DD) सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार, $M = C + DD$ । बैंक–मुद्रा या साख–मुद्रा बैंकों की जमा राशि से सम्बन्धित होती है जिसके आधार पर चके लिखे जाते हैं। इस प्रकार की जमाराशि दो प्रकार की होती है। नकदी अथवा साधारण मुद्रा के रूप में ग्राहकों द्वारा बैंकों में जमा की गयी राशि नकद जमा (Cash deposit) अथवा प्रारम्भिक मुद्रा (Primary deposit) कहलाती है। जब बैंक किसी ग्राहक को ऋण देता है। तो ऋण की रकम प्रायः नकद मुद्रा में न देकर उसके खाते में जमा कर देता है। इसे साख (Credit deposit) अथवा व्युत्पन्न जमा (Derivative deposit) कहा जाता है। व्युत्पन्न जमा का आकार प्रारम्भिक जमा के आकार द्वारा ही निर्धारित होता है। बैंकों को प्राप्त होने वाली प्रारम्भिक जमा का एक भाग नकद कोष के रूप में रखकर शेष ऋण अथवा अग्रिम के रूप में दे दिया जाता है। बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋण व्युत्पन्न जमा और फिर बैंक–मुद्रा का रूप ले लेते हैं, क्योंकि इन्हें चेक द्वारा निकाला जा सकता है। मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन की प्रक्रिया समझने के लिए वृहदावर्धक मुद्रा (High-Powered Money) अथवा H की जानकारी आवश्यक है। H का निर्माण सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। इसे जनता करेन्सी अथवा नकदी (C) के रूप में अपने पास रखती है तथा बैंक नकद कोषों (R) के रूप में रखते हैं। इस प्रकार, $H = C + R$ । वृहदावर्धक मुद्रा को 'आरक्षित मुद्रा' (Reserve money) भी कहा जाता है, क्योंकि बैंक अपने पास आरक्षित कोष रखते हैं और इन्हीं के आधार पर माँग जमाराशियों (DD) का निर्माण किया जाता है। चूँकि बैंकों के आरक्षित कोष (R) साख अथवा माँग जमाराशियों के निर्माण की गुणक प्रक्रिया (multiple creation) का आधार होते हैं और R की प्राप्ति H के एक भाग के रूप में होती है इसलिए H को वृहदावर्धक शक्ति प्राप्त होती है। क्क के निर्माण की गुणक प्रक्रिया का आधार होने के कारण H को 'आधार मुद्रा' (Base money) भी कहा जाता है। आरक्षित मुद्रा (H) की मात्रा को निर्धारित करने वाले घटक (Components) भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार ये हैः

(1) जनता के पास नकद मुद्रा,
(2) रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाराशियाँ,
(3) बैंकों के पास नकदी, तथा
(4) रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमाराशियाँ।

## 2.3.3 पदार्थ के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण

पदार्थ के आधार पर मुद्रा को दो वर्गों में बाँटा जाता है – (1) धातु–मुद्रा, तथा (2) पत्र–मुद्रा।

चूँकि आज के युग में पत्र–मुद्रा ही मुख्यतः प्रचलित है, अतएव इस वर्गीकरण का अब कोई विशेष महत्व नहीं रहा है।

**(1) धातु–मुद्रा** (Metallic Money) जब मुद्रा किसी धातु की बनी होती है तो उसे धातु–मुद्रा (Metallic Money) कहा जाता है। विकास के आरम्भिक काल में आरम्भ में धातुओं के टुकड़े अथवा सलाखें ही मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाते थे। परन्तु इनको बार–बार तोलना और परखना पड़ता था और इनकी शुद्धता की भी कोई गारण्टी नहीं थी। इन असुविधाओं से बचने के लिए जब निश्चित वजन एवं

मूल्य के टुकड़ों पर चिन्ह अंकित किये जाने लगे तो सिक्कों का चलन आरम्भ हुआ। धीरे–धीरे सिक्के ढालने की कला का विकास हुआ और सुन्दर, सुदृढ़ तथा समरूप सिक्के ढाले जाने लगे। सिक्के की निर्माण–विधि अथवा ढलाई को टंकण (Coinage) कहा जाता है। टंकण के मुख्य उद्देश्य होते हैं :

(1) सिक्के को समरूपता दी जाय ताकि लोग इन्हें बिना कठिनाई के पहचान सकें।
(2) सिक्कों को ऐसा रूप दिया जाय कि जाली सिक्के न बन पायें।
(3) इनको काट कर अथवा गलाकर निकृष्ट न किया जा सके।
(4) घटिया धातुओं के मिश्रण द्वारा सिक्कों को कठोर बनाना ताकि उनकी अधिक घिसावट न हो। तथा
(5) सिक्कों को कलापूर्ण रूप प्रदान करना।

**टंकण–प्रणालियाँ** – टंकण की अनेक प्रणालियों को दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है –स्वतन्त्र टंकण एवं सीमित टंकण।

**(1) स्वतन्त्र टंकण** (Free or Unlimited Coinage) – इस प्रणाली के अधीन जनता को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह टकसाल को धातु देकर उसके सिक्के ढलवा ले, अथवा इसके बदले में सिक्के प्राप्त कर ले। इंगलैंण्ड में 1931 तक और भारत में 1893 तक यह प्रणाली प्रचलित थी। चूँकि इस प्रणाली का प्रयोग प्रामाणिक (Standard) अथवा पूर्ण–काय (full-bodied) सिक्कों के ढालने में ही होता था अतः पूर्ण–काय सिक्कों का प्रचलन समाप्त होने के साथ ही स्वतन्त्र टंकण प्रणाली भी समाप्त हो गयी।

**स्वतन्त्र टंकण के तीन उपभेद हैं :**

**(अ) निःशुल्क टंकण** (Gratuitous Coinage), जिसके अधीन सिक्कों की ढलाई सरकार जनता से बिना कोई शुल्क (fees) लिये करती है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में काफी प्रामाणिक सिक्कों की ढलाई निःशुल्क की जाती है।

**(ब) सशुल्क टंकण** (Brassage), जिसमें सरकार जनता से सिक्कों की ढलाई–व्यय के बराबर शुल्क लेती है।

**(स) सलाभ टंकण** (Seigniorage) जिसमें सरकार ढलाई–व्यय से अधिक शुल्क लेकर लाभ अर्जित करती है। ढलाई–शुल्क या तो नकद मुद्रा में वसूल किया जाता है अथवा शुल्क के बराबर मूल्य की धातु असली धातु से निकालकर उसकी जगह घटिया धातु मिला दी जाती है। जिस दर पर सरकार धातु के बदले में सिक्के देती है उसे धातु का 'टकसाली मूल्य' (Mint Price) कहते हैं।

**(2) सीमित टंकण** (Limited Coinage) – इस प्रणाली के अधीन जनता को धातु के बदले सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं होता। सिक्कों के निर्माण की मात्रा स्वयं सरकार द्वारा निश्चित की जाती है, और फिर आवश्यकतानुसार सरकार धातुओं को धातु–बाजारों से खरीदकर सिक्के ढालती है। भारत में 1893 के पश्चात् **हरशल समिति** (Herschel Committee) की सिफारिश पर टंकण सीमित कर दिया गया था। आधुनिक काल में सभी देशों में टंकण इसी प्रणाली के अनुसार होता है। स्वतन्त्र टंकण का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है।

**सिक्कों की निकृष्टता** – जब टंकण कानून में कोई संशोधन किये बिना सरकार सिक्कों की तोल, शुद्धता अथवा दोनों को ही कम करके सिक्के का आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) कम कर देती है तो इस क्रिया को सिक्कों की 'निकृष्टता' (debasement) और उन सिक्कों को 'निकृष्ट सिक्के' कहा जाता है।

उदाहरणतः सन् 1940 में भारत सरकार ने रुपये में विशुद्ध चाँदी की मात्रा को घटाकर आधा कर दिया और उसके स्थान पर गिलट मिला दिया। जिससे रुपया निकृष्ट सिक्का हो गया।

**मुद्रा के पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण** (Classification on the basis of Money Commodity)

मुद्रा का एक अति सरल वर्गीकरण, जिस वस्तु की वह बनी होती है उसके आधार पर किया जाता है। इस आधार पर मुद्रा को तीन मुख्य भागों में बाँटा जाता है – प्रथम, पदार्थ मुद्रा (Commodity Money), द्वितीय, धात्विक मुद्रा (Metallic Money) और तीसरी, पत्र मुद्रा (Paper Money)। इनमें से प्रत्येक अगला, वर्ग मुद्रा के विकास के उच्चतर स्तर को इंगित करता है। वास्तव में, इस आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है :

**(क) वस्तु मुद्रा या पदार्थ मुद्रा** (Commodity Money) : प्राचीन काल में धात्विक सिक्कों के परिचलन से पूर्व विभिन्न जन–समूहों में अनेक प्रकार की वस्तुओं एवं पदार्थों को मुद्रा का स्थान दिया जाता था। साधारणतः हर वर्ग किसी ऐसे पदार्थ को मुद्रा मान लेता था जो विशेष लोकप्रिय हो। इस प्रकार समय–समय पर कौड़ी, शंख, चमड़ा, हाथीदांत, अनाज, तम्बाकू, घरेलू पशु मवेशी, आभूषण जैसे अनेक पदार्थों को मुद्रा कहलाने का श्रेय मिल चुका है। यों, आज भी हो सकता है कि अत्यंत पिछड़े समाज में वस्तु–मुद्रा का चजन हो, परंतु मुद्रा के व्यापक प्रसंग में ऐसी मुद्रा का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है और आधुनिक अर्थव्यवस्था में इसकी महत्ता नगण्य है।

**(ख) धात्विक–मुद्रा** (Metallic Money) : जब मुद्रा किसी धातु की बनी होती है तो उसे धात्विक–मुद्रा (Metallic Money) कहा जाता है। अतः धात्विक–मुद्रा वह मुद्रा है जिसमें किसी धातु (जैसे सोना, चाँदी के बने सिक्के) प्रचलन में रहते हैं। धातु–मुद्रा को दो भागों में बांटा जाता है : (अ) **धातु–मान** (Metallic Standrad), (ब) **धातु चलन**

**(अ) धातु–मान** से आशय उन नियमों या व्यवस्थाओं से है जिनके अनुसार प्रामाणिक एवं अन्य मुद्राओं का प्रचलन होता है।

**(ब) धातु–चलन** से तात्पर्य उन धातु–मुद्राओं से होता है जो वस्तुओं एवं सेवाओं के भुगतान में विनियम की जाती हैं। धातु मान के तीन रूप हैं –

(1) एक धातु मान (Mono Metalism)
(2) द्वि धातु मान (Bi-Metalism) और
(3) मिश्रित–मान (Mixed Metalism)

**धातु–चलन के तीन रूप हैं :**

**(1) प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के** (Standrad or Full Bodied Coins) : यह देश की प्रधान मुद्रा होती है। इसका अंकित मूल्य एवं वास्तविक मूल्य दोनों बराबर होता है। यह असीमित विधि ग्राह्य होती ह। सक्षेप में, इस मुद्रा की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :

**(अ)** यह देश का प्रधान सिक्का होता है और विनिमय माध्यम के साथ–साथ लेखे की इकाई का कार्य करता है।

**(ब)** इसका अंकित मूल्य (Face Value) एवं वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) बराबर होता है।

**(स)** यह असीमित विधि ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होता है।

**(द)** इसका स्वतंत्र टंकण होता है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति जब चाहे तब धातु देकर सिक्कों को सरकारी टकसाल में ढलवा सकता है। सन् 1931 के पहले जब इंग्लैण्ड में प्रचलित सावरेन (Soverign) तथा 1893 तक भारत में प्रचलित चाँदी का रुपया था, तब वह प्रामाणिक सिक्का था।

प्रामाणिक सिक्कों में अनेक गुण थे, जैसे

**(1)** इनका अंकित मूल्य और धातु मूल्य बराबर होने के कारण इनमें जनता का पूर्ण विश्वास था।

**(2)** पूर्णकाय होने के कारण ये क्रय–शक्ति के संचय के उत्तम साधन थे।

**(3)** धातुओं की मात्रा सीमित होने के कारण इनकी अत्यधिक निकासी अथवा कीमत–स्फीति का भय नहीं रहता था।

**(4)** विदेशों में भुगतान में इन्हें स्वीकार कर लिया जाता था।

प्रामाणिक सिक्कों में अनेक अवगुण भी थे, जैसे

**(1)** इनमें बहुमूल्य धातुओं का अपव्यय होता था और यह खर्चीली प्रणाली थी।

**(2)** इनमें लोच का अभाव था अर्थात् मुद्रा की माँग बढ़ने पर इनकी पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती थी और

**(3)** इनमें बहुमूल्य धातुएँ अनावश्यक रूप से फँसी रहती थीं।

**(2) सांकेतिक अथवा प्रतीक सिक्के** (Token Coins) : ये देश की प्रधान मुद्रा के सहायक के रूप में चलते हैं। इस सिक्के की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं:

**(अ)** इसका अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है।

**(ब)** इसकी ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती।

**(स)** यह सीमित विधि ग्राह्य होती है।

**(द)** यह प्रधान मुद्रा का सहायक होता है।

सांकेतिक सिक्कों में अनेक गुण हैं, जैसे

**(1)** इसमें धातु की बचत होती है,

**(2)** इनमें लोच होती है,

**(3)** इनकी निकासी अधिक हो सकती है, कारण यह है कि ये सुलभ धातुओं के बने होते हैं,

**(4)** इनका प्रचलन देश की सीमा में ही हो सकता है।

साथ ही इनमें अनेक अवगुण भी हैं, जैसे

**(1)** ये प्रामाणिक सिक्कों की तरह विश्वसनीय नहीं होते,

**(2)** ये क्रय–शक्ति के संचय के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं।

**(3)** क्रय–शक्ति सुलभ धातुओं की बनी होने के कारण इनकी अत्यधिक निकासी हो सकती है।

**(4)** इनका प्रचलन देश की सीमा के अन्दर ही होता है।

आधुनिक युग में संसार के सभी देशों में सांकेतिक सिक्के ही प्रचलन में हैं, क्योंकि किसी भी मुद्रा में शुद्ध धातु की मात्रा पर्याप्त नहीं है, साथ–ही–साथ सिक्कों का टंकण भी स्वतंत्र नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हमारे देश में भारतीय रुपये में कुछ गुण सांकेतिक

सिक्कों के तथा कुछ गुण प्रामाणिक सिक्कों के पाये जाते हैं। इसलिए भारतीय रुपया न तो पूर्णरूपेण प्रामाणिक है और न सांकेतिक ही। इसलिये भारतीय रुपये को सांकेतिक–प्रामाणिक–सिक्का (Token Standard Coin) तथा भारत में मौद्रिक मान को सांकेतिक मान (Token Standard) कहा जाता है।

**(3) गौण सिक्के :** इस प्रकार के सिक्के रेज़गारी की सुविधा के लिए निकाले जाते हैं। इन सिक्कों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

**(क)** ये कम मूल्य के होते हैं।

**(ख)** इनकी निकासी कम कीमत की वस्तुओं के विनिमय को सुविधाजनक बनाने के लिए की जाती है।

**(ग)** ये सांकेतिक सिक्के होते हैं।

**(घ)** इनका प्रामाणिक मुद्रा से एक अनुपात होता है।

**(ङ)** इनकी ढलाई स्वतंत्र नहीं होती।

**(च)** ये सीमित विधि ग्राह्य होते हैं।

**(ग)** पत्र–मुद्रा (Peper Money)

पत्र–मुद्रा से आशय सरकार या केन्द्रीय बैंक–द्वारा निर्गमित काग़ज़ी नोटों से है, जो एक लिखित राशि देने का वचन देते है। **क्राउथर** के अनुसार पत्र मुद्रा चार अवस्थाओं से होकर गुजरी है– प्रथम अवस्था में जमा की हुई रकम के बदले में प्राप्त हुए प्रमाण पत्रों का प्रयोग आंरभ हुआ। दूसरी अवस्था में बैंकों द्वारा नोट जारी किये जाने लगे। तीसरी अवस्था में बैंकों ने अपनी जमा से अधिक नोट छापने शुरू किये, और चौथी अवस्था वर्तमान व्यवस्था की है, जबकि नोट छापने का एकधिकार या तो सरकार को है फिर देश के केन्द्रीय बैंक अथवा दोनों को है।

वास्तव में, वर्तमान युग पत्र–मुद्रा का युग है। आज संसार के सभी देशों में पत्र–मुद्रा प्रचलित है जिसके अन्तर्गत सरकार या केन्द्रीय बैंक निर्धारित आकार के काग़ज़ के टुकड़ों पर अपनी मुहर अंकित करके उन्हें चलन में डालते हैं। इन नोटों के पीछे सोना या चाँदी एवं सरकारी प्रतिभूतियाँ धरोहर के रूप में रखी जाती हैं।

पत्र–मुद्रा को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जाता है।

**(1) प्रतिनिधि पत्र–मुद्रा** (Representative Paper Money) : इस मुद्रा के पीछे नोटों को निर्गमित करने वाली संस्था शत–प्रतिशत सोना तथा चाँदी कोष के रूप में रखती है।

उदाहरणार्थ, यदि 1,00,000 रुपये की पत्र–मुद्राएँ चलन में हैं, तो उतने ही मूल्य का सोना या चाँदी सरकारी कोष में रखा जायेगा। अमेरिकी सरकार का स्वर्ण एवं रजत प्रमाण–पत्र इसके उदाहरण हैं।

**(2) परिवर्तनशील पत्र–मुद्रा** (Convertible Paper Money) : इस प्रकार की मुद्रा के पीछे शत–प्रतिशत धातु कोष में रखी जाती है और इनको निर्गमित करने वाली संस्था इनके बदले सोना या चाँदी देने की गारण्टी देती है। इस प्रकार की परिवर्तनशीलता की गारण्टी के फलस्वरूप जनता का इसमें पूर्ण विश्वास बना रहता है।

(3) **अपरिवर्तनशील पत्र–मुद्रा** (Inconvertible Paper Money) : इसके पीछे प्रायः स्वर्ण या अन्य मूल्यवान वस्तुओं का कुछ कोष रखा जाता है। लेकिन इस धातु में परिवर्तनशीलता की गारन्टी नहीं दी जाती अर्थात् नोट निर्गमित करने वाली संस्था नोटों के बदले स्वर्ण या अन्य बहुमूल्य धातुओं को देने के लिए वचन बद्ध नहीं होती।

**(4) प्रादिष्ट पत्र मुद्रा** (Fiat Paper Money) : कभी–कभी युद्ध अथवा अन्य आकस्मिक संकट–काल में सरकार अपने बढ़े हुए व्यय की पूर्ति अपनी आय के स्त्रोतों से कर सकने

में असमर्थ हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में सरकार आवश्यक व्यय की पूर्ति नये नोट छापकर करती है। इन नोटों के पीछे कोई मूल्यवान धातु या सरकारी प्रतिभूतियाँ नहीं रखी जातीं हैं। यह मवदे केवल सरकार की साख पर चलती है। इसके बदले सरकार किसी प्रकार का मूल्य देने की गारण्टी नहीं देती। इसी पत्र–मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा कहते हैं।
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रादिष्ट मुद्रा बहुत कम खर्चीली है तथा सरकार के लिए संकट–काल में बहुत सहायक होती है। इसीलिए **पॉल इन्जिंग** तथा **एल्विन एच. हेन्सन** ने मुद्रा के इसी कार्य को क्रान्तिकारी या गतिशील कार्य बताया है। लेकिन प्रादिष्ट मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास बहुत कम होता है तथा इससे कीमत–स्फीति हो जाने का भय बना रहता है।
अतः प्रादिष्ट मुद्रा से सावधान रहना आवश्यक है। पिछले दशक में दक्षिण अमेरिका तथा दुनिया के अन्य देशों में प्रादिष्ट मुद्रा के कारण मुद्रा –स्फीति उत्पन्न हुई है जिससे इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को गहरा धक्का लगा है। लारेल हैरिश का यह कथन है कि *''मुद्रा कुछ वायुयान जैसी है – क्रियाशील होने पर शानदार, विखण्डित होने पर दुःखदायी और नष्ट होने पर संकट उत्पन्न करने वाली है''*, प्रादिष्ट मुद्रा के लिए यह कथन सर्वथा उपयुक्त है।

**4.4 प्लास्टिक मुद्रा** (Plastic Money)– आधुनिक बैंकिंग में भुगतान के लिये प्रयोग किये जाने वाले साधन के रूप में डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड, ऑटोमैटिक टेलरिंग मशीन आदि का प्रयोग ग्राहकों द्वारा किया जाता है यह कार्ड प्लास्टिक का बना हुआ होता है जिस कारण इसे प्लास्टिक मुद्रा कहा जाता है। इस कार्ड पर 18 अंका का कोड नम्बर अंकित होता है जिसे ए. टी. एम. (आटो मैटिक टेलरिंग मशीन) साफ्टवेयर के माध्यम से ग्राहक के द्वारा दिये गये आदेश को स्वीकृत करके उसका अनुपालन कर देता है। यह आदेश भुगतान के सन्दर्भ में, शेष राशि की जानकारी करने के सन्दर्भ, में एवं संक्षिप्त में लेन–देनों का विवरण भी प्रदान कर देता है। इस प्लास्टिक मुद्रा का प्रयोग हवाई जहाज यात्रा, टिकट लेन–देन, बिलों का भुगतान करने एवं माल का लेन–देन करने में किया जाता है। इस कार्ड की बढती लोकप्रियता के कारण ही इसे प्लास्टिक मुद्रा कहते है। यद्यपि प्लास्टिक मुद्रा भुगतान करने का सबसे सरल एवं सुविधाजनक साधन है लेकिन इसके गायब हो जाने, चोरी हो जाने तथा कोड नंबर की जानकारी अन्य व्यक्तियों को पता हो जाने की स्थिति में अत्यधिक खतरा बढ़ जाता है क्योंकि इस मुद्रा का प्रयोग अन्य व्यक्ति आसानी से कर सकता है अतः इसके प्रयोग में सुरक्षा एवं सावधानी बरतनी चाहिये।

## 2.4 सारांश (Summary)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके है कि मुद्रा की विभिन्न प्रकार कौन–कौन से है तथा इसके कार्यो के आधार पर इसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है।

मुद्रा का वर्गीकरण को तीन भागों में किया जाता है– प्रकृति के आधार पर, वैधानिक मान्यता के आधार पर, तथा पदार्थ के आधार पर ।

## 2.5 शब्दावली

- **वस्तु विनिमय** – वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का आदा–प्रदान।
- **बैंक मुद्रा** – व्यापारिक बैंकों द्वारा सृजित माँग जमा।
- **बाह्य मुद्रा** – सरकारी ऋण पर आधारित मुद्रा।

- **आन्तरिक मुद्रा** – आर्थिक इकाइयों के ऋण पर आधारित मुद्रा।
- **अर्द्ध मुद्रा** – ऐसी परिसम्पतियॉ, जो तरलता का गुण रहते हुये भी स्पष्ट रूप में मुद्रा नहीं कही जा सकती

## 2.6 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1. मुद्रा का सामान्य अर्थ है।

(क) करेन्सी
(ख) करेन्सी तथा बैंको की सम्पूर्ण जमा राशियॉ
(ग) करेन्सी तथा मांग जमा राशियॉ
(घ) सम्पूर्ण चलनिधि

2. मुद्रा का अनिवार्य कार्य क्या है–

(क) मूल्य मापन
(ख) मूल्य संचय
(ग) मूल्य हस्तान्तरण
(घ) साख व्यवस्था का आधार

3. मुद्रा एक अच्छा.....है, किन्तु बुरा.....।
4. नैप अर्थशास्त्री ने मुद्रा की.....परिभाषा का प्रतिपादन किया।
5. मूल्य मापक मुद्रा का.....कार्य है।
6. मूल्य संचय मुद्रा का.....कार्य है।
7. वर्तमान समय में मुद्रा अर्थ विज्ञान की धुरी है। सही/गलत
8. राबर्टसन ने मुद्रा के लिये संकुचित दृष्टिकोण की परिभाषा दी। सही/गलत

उत्तर : 1. (ख) 2. (क) 3. सेवक, स्वामी 4. वैधानिक 5. प्राथमिक 6. सहायक 7. सही 8. सही

## 2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डा0 जे0सी0 पन्त एवं जे0पी0 मिश्रा – अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डा0 टी0टी0 सेठी – मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
3. डा0 टी0टी0 सेठी – समष्टि अर्थशास्त्र
4. डा0 एम एल झिंगन – मौदिक अर्थशास्त्र

## 2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Dwivedi, D.N. (2008) ***Macro Economics***, 7th edition, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi.
- Ahuja, H.L. (2010) ***Principles of Macro Economics***, S. Chand and Company Ltd. New Delhi.
- Colander, D. C., (2008) ***Economics***, McGraw Hill Education, New Delhi.

- Mishra, S.K. and V.K. Puri (2003) ***Modern Macro-Economics Theory***, Himalaya Publishing House, New Delhi.


## 2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा का वर्गीकरण कितने प्रकार से किया जा सकता हैं ?
2. प्लास्टिक मुद्रा क्या हैं

# इकाई – 3 मौद्रिकमान, स्वर्णमान एवं पत्र मुद्रामान

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मौद्रिकमान
  3.3.1 मौद्रिकमान का आशय
  3.3.2 मौद्रिकमान का वर्गीकरण
    3.3.2.1 एक धातुमान
    3.3.2.2 द्वि धातुमान
    3.3.2.3 बहु धातुमान
    3.3.2.4 मिश्रित धातुमान
3.4 स्वर्णमान का आशय
  3.4.1 स्वर्णमान के गुण
  3.4.2 स्वर्णमान के दोष
3.5 पत्र मुद्रामान से आशय
  3.5.1 पत्र मुद्रामान के गुण
  3.5.2 पत्र मुद्रामान के दोष
3.6 सारांश
3.7 शब्दाबली
3.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

## 3.1 प्रस्तावना

मुद्रा की स्वयं कोई उपयोगिता नही होती है। किन्तु मनुष्य को अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु जिन वस्तुओं एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है उन्हें मुद्रा के बदले में प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा समाज में अनेक रूपों में प्रचलित है यथा वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा, विधि ग्राह्य मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा, धातु मुद्धा तथा पत्र मुद्रा आदि। मुद्रा पूर्ति के सामान्यतया जाने माने माप में करेंन्सी, शुद्ध मांग निक्षेप, भारत के रिजर्व बैंक के पास अन्य निक्षेप शामिल किये जाते है।

## 3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप मुद्रा का वर्गीकरण किस तरह से किया जाता है। मुद्रा को वर्गीकृत करने के लिये विभिन्न आधारों का प्रयोग किया जाता है। व इसकी विभिन्न अवधारणाओं से अवगत हो जाएगें।

## 3.3 मौद्रिकमान (Monetary Standards)

मौद्रिकमान का तात्पर्य **एक व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत देश की मुद्रा का मूल्य किसी मूल्यवान वस्तु की इकाई में निश्चित कर दिया जाता है और उसे स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है।** उदाहरण के लिए, यदि कोई देश अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में परिभाषित कर दे तो वह स्वर्णमान पर आधारित होगी।

### 3.3.1 मौद्रिकमान का आशय (Meaning of Monetary Standards)

मौद्रिकमान किसी भी देश की सम्पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत देश में चलने वाली मुद्राओं का प्रकार, उनकी पीछे रखी गयी कोष निधि, उनकी परिवर्तनशीलता तथा उनसे सम्बन्धित समस्याओं की जानकारी सम्मिलित है।

### 3.3.2 मौद्रिकमान का वर्गीकरण (Classification of Monetary Standards)

मौद्रिकमान को दो वर्गों में बांटा जाता है धातुमान व पत्रमान।

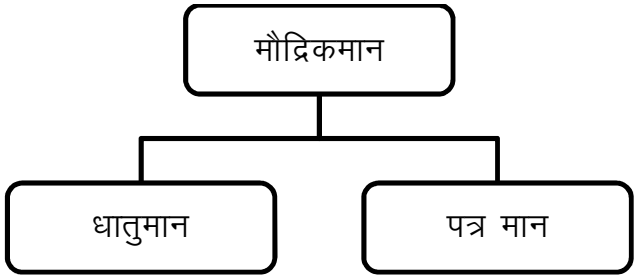


जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि धातुमान के अर्न्तगत देश में धातु की मुद्राएँ ही चलती हैं और सम्पूर्ण मुद्रा व्यवस्था स्वर्ण या चाँदी की धातु पर आधारित होती हैं। पत्रमान में कागज के नोट चलते हैं और सहायक रुप में छोटी मुद्राएँ प्रचलित होती हैं। इसके बारे में आप विस्तार से इस इकाई के अन्तिम खण्ड में जानेगें। आइये पहले ताातुमान को जाननें का प्रयास करतें है।

धातुमान को भी चार वर्गों में बांटा जाता है।

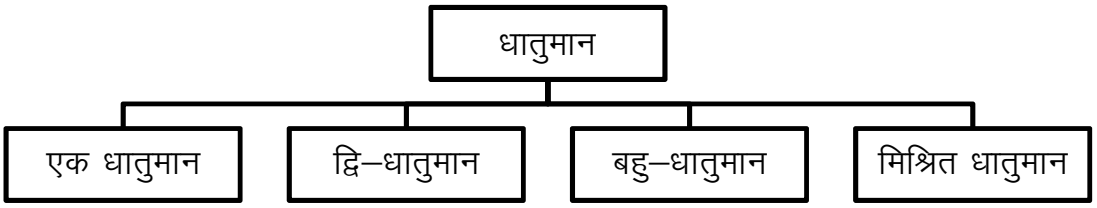


### 3.3.2.1 एक धातुमान (Mono-Metallism)

**एक धातुमान से आशय एवं इसकी विशेषताएँ** (Meaning of Characteristics of Mono-metallism) :

एक धातुमान वह मौद्रिक प्रणाली है जिसमें किसी देश में एक ही धातु, स्वर्ण अथवा चाँदी के सिक्के चलन में रहते हैं जो असीमित विधिग्राह्य होते हैं एवं उनका स्वतंत्र टंकण होता है। एक धातुमान की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. इसमें एक धातु की प्रधान मुद्रा चलन में होती हैं। प्रधान मुद्रा प्रायः सोने या चाँदी की होती है तथा सहायक मुद्राएँ हल्की धातु की बनी होती हैं।
2. उस धातु की मुद्रा का स्वतंत्र टंकण होता है।
3. उस धातु की मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य होती हैं।

व्यवहार में यदि स्वर्ण मुद्राएँ चलन में होती हों तो स्वर्णमान और रजत मुद्राएँ प्रचलित हों तो मुद्रा व्यवस्था को रजतमान के नाम से पुकारा जाता है।

**एक धातुमान के गुण** (Merits of Mono-metallism) :

एक धातुमान व्यवस्था सोना या चाँदी की मुद्रा के रुप में संसार के विभिन्न देशों में बहुत समय तक प्रचलित रहती है। इस व्यवस्था में निम्नलिखित गुण थे :

1. **सुविधाजनक** (Convenient): एक धातुमान व्यवस्था में सोना या चाँदी के प्रधान सिक्के चलन में होते हैं जिनके द्वारा लेन–देन करने में कोई कठिनाई नहीं होती।
2. **जनता का विश्वास** (Public Confidence): एक धातुमान में किसी मूल्यवान धातु के सिक्के चलन में रहते हैं जिनका धात्विक मूल्य अंकित मूल्य से कम नहीं होता। अतः इस व्यवस्था में जनता का मुद्रा में विश्वास रहता है।
3. **मुद्रा प्रसार का भय नहीं** : धातु की मुद्राएँ चलन में रहने के कारण इस व्यवस्था में बहुत अधिक मुद्रा चलन में डालना सम्भवन नहीं होता। अतः मुद्रा प्रसार होने का भय नहीं रहता।
4. **ग्रेशम का नियम सीमित रुप से लागू** (Limited Applicability of Gresham's Law) : एक धातुमान व्यवस्था में एक धातु के प्रायः समान सिक्के चलन में रहते हैं। अतः सभी सिक्के चलन में बने रहते हैं और ग्रेशम का नियम लागू होने का भय नहीं होता। एक धातुमान के अन्तर्गत यदि एक साथ घटिया और बढ़िया सिक्के चलन में रहते हैं तो ग्रेशम का नियम अवश्य लागू हो जाता है।
5. **विदेशी भुगतान की सुविधा**: एक धातुमान व्यवस्था के अर्न्तगत विदेशी भुगतान करना अत्यन्त सरल होता है जिससे विदेशी व्यापार में सरलता रहती है।

**एक धातुमान के दोष** (Demerits of Mono-metallism) :

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त एक धातुमान व्यवस्था में निम्नलिखित दोष हैं:

1. **महंगी व्यवस्था** (Costly System) : आधुनिक युग में कोई भी मुद्रा व्यवस्था, जिनमें सोने या चाँदी की आवश्यकता हो, नहीं अपनायी जा सकती, क्योंकि संसार के अधिकांश देश विकासशील हैं जिनके पास पर्याप्त मात्रा में न तो सोना है न चाँदी।
2. **लोच का अभाव** : एक धातुमान व्यवस्था में लोच का दो कारणों से अभाव होता है।

प्रथम इसमें एक ही धातु के सिक्के चलन में रहते हैं। अतः मुद्रा ढालने में उस धातु की कमी आ सकती है। इसलिए मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना कठिन होता है और दूसरे, संसार के अधिकांश देशों के पास एक धातु भी पर्याप्त मात्रा में नहीं है जिसे धातु मुद्रा द्वारा पूरा करना सम्भव नहीं है।

3. **वस्तु मूल्यों के उतार–चढ़ाव** (Changes in Price Level) : जिस मुद्रा प्रणाली में धातु का प्रयोग होता है उसकी सबसे बड़ी कमी यह होती है कि मुद्रा के मूल्य में उतार–चढ़ाव होने का भय बना रहता है क्योंकि धातु की मात्रा में कमी या वृद्धि हो सकती है।

## 3.3.2.2 द्वि धातुमान (Bi-Metallism)

**द्वि धातुमान से आशय एवं इसकी विशेषताएँ** (Meaning of Characteristics of Bi-metallism) :

जब किसी देश में दो धातुओं सामान्यतः सोना और चाँदी, के प्रामाणिक सिक्के एक साथ चलन में रहते हैं तो ऐसी व्यवस्था को द्वि–धातुमान कहा जाता है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं–

1. इसमें दो धातुओं; सोना और चाँदी, की प्रधान मुद्राएँ चलन में रहती हैं।
2. इसमें दोनों ही मुद्राओं की ढलाई स्वतंत्र होती है।
3. यह दोनों मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य होती हैं।
4. इन दोनों मुद्राओं के लिखित तथा धात्विक मूल्यों में समानता होती है। अर्थात् दोनों सिक्के पूर्णकाय मुद्रा होते हैं।
5. दोनों धातुओं के सिक्कों को एक–दूसरे से बदलने की विनिमय दर सरकार द्वारा पहले से ही घोषित कर दी जाती है।
6. द्वि–धातुमान व्यवस्था में सोने और चाँदी का आयात और निर्यात स्वतंत्र होता है।

**द्वि–धातुमान के गुण** (Merits of Bi-Metallism) :

द्वि–धातुमान व्यवस्था अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण मानी गयी है। इस व्यवस्था में निम्नलिखित गुण थे :

1. **विदेशी भुगतानों में सुविधा** (Convenience in Foreign Payments) : चूँकि द्वि–धातुमान वाले देश में सोने व चाँदी दोनों ही प्रकार की धातुओं के प्रामाणिक

सिक्के प्रचलन में होते हैं, ऐसे देश दोनों ही प्रकार के, अर्थात् स्वर्णमान अथवा रजतमान मे भुगतान कर सकता है।

2. **विनिमय कर निर्धारण** : इस व्यवस्था के अन्तर्गत स्वर्ण अथवा रजतमान अपनाने वाले दोनों ही वर्ग के देशों की मुद्रा विनिमय दरें ज्ञात करने में बड़ी सरलता रहती है। अतः मुद्राओं में मूल्य के अनुसार पारस्परिक अनुपात निकाल लिया जाता है और भुगतान कर दिया जाता है।
3. **धातुओं की क्षतिपूर्ति** (Compensation in Supplies of Metals) : द्वि–धातुमान में धातु की कमी के कारण मुद्रा की मात्रा में कमी आने की आशंका नहीं रहती, क्योंकि दो धातुओं की मुद्राएँ चलन में रहती हैं। अतः यदि एक की कमी आ जाये तो दूसरी से उसकी पूर्ति की जा सकती है।
4. **मूल्यों में स्थायित्व** (Stability in Prices) : जब द्वि–धातुमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाता है तो दो धातुओं अथवा स्वर्ण अथवा चाँदी में से किसी एक की कमी को दूसरी धातु के उत्पादन से पूरा किया जा सकता है और उनके मूल्य में स्थिरता लायी जा सकती है।
5. **धातुओं के मूल्यों में स्थायित्व** (Stabiity in Prices of Metals) : द्वि–धातुमान का पांचवां गुण यह है कि स्वर्ण तथा चाँदी के पारस्परिक मूल्यों में भी उतार–चढ़ाव कम होते हैं।

इस प्रकार द्वि–धातुमान धातु मूल्य तथा मुद्राओं की विनिमय दर स्थिर रखने तथा विदेशी भुगतानों को सरल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है, परन्तु यह सारे गुण प्रायः व्यवहार की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

**द्वि–धातुमान के दोष** (Demerits of Bi-Metallism) :

द्वि–धातुमान व्यवस्था में निम्नलिखित दोष रहे हैं :

1. **ग्रेशम का नियम लागू होना** : द्वि–धातुमान का सबसे महत्वपूर्ण दोष ग्रेशम के नियम का लागू होना है। यह नियम बताता है कि 'अन्य बातें समान रहने पर जब किसी देश में एक ही साथ दो या दो से अधिक धातुओं की मुद्राएँ चलन में रहती हैं, तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।'
2. **खर्चीला** (Expensive) : द्वि–धातुमान भी स्वर्णमान की तरह खर्चीला है, क्योंकि मुद्राओं के टंकण के लिए सोने या चाँदी की खानें खोदने में पूंजी तथा श्रम का विनियोजन करना पड़ता है और धातु मुद्रा चलन में रहने के कारण दोनो धातुओं की अनावश्यक रुप से घिसावट होती है।
3. **क्षतिपूर्ति नियम लागू न होना** : द्वि–धातुमान का क्षतिपूरक नियम यह है कि 'एक धातु के मूल्य में वृद्धि होने अथवा उसकी मात्रा में कमी आने से दूसरी धातु से मुद्रा की आवश्यकता की पूर्ति होती रहती है, यह सिद्धान्त व्यवहार में खरा नहीं उतरता।
4. **सट्टेबाजी में वृद्धि** (Encouragement to Speculation) : जब स्वर्ण अथवा चाँदी के मूल्य में कमी या वृद्धि हो जाती है तो इन धातुओं में तीव्र गति से सट्टेबाजी होने लगती है।
5. **अधिकृत तथा बाजार दरों में भिन्नता** (Difference between the authorised and market rates) : द्वि–धातुमान बनाये रखने के लिए स्वर्ण और चाँदी की

मुद्राओं की जो दरें सरकार द्वारा निश्चित की जाती हैं उन्हें बनाये रखना आवश्यक होता है, परन्तु व्यवहार में यह बहुत कठिन होता है।

### 3.3.2.3 बहु धातुमान (Multi-Metallism)

**बहु धातुमान से आशय एवं इसकी विशेषताएँ** (Meaning of Characteristics of Multi-metallism) :

बहु–धातुमान के अन्तर्गत कई धातुओं का एक ही साथ मूल्यमान के रुप में प्रयोग किया जाता है। इसमें सभी धातुओं के सिक्कों का टंकण स्वतंत्र ढलाई प्रणाली के अन्तर्गत किया जाता है। सभी सिक्के प्रामाणिक होने के साथ ही असीमित विधिग्राह्य भी होते हैं। इन सब सिक्कों के बीच विनिमय दर सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है।

बहु–धातुमान की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसमें सोना और चांदी के अतिरिक्त अन्य कौन–सी धातुओं को प्रधान मुद्रा के लिए चुना जाये। तांबा, लोहा, जस्ता आदि बहुत सस्ती धातुएं है। अतः उनकी सहायक मुद्रा बनाना ही अधिक युक्तिसंगत है। दूसरी समस्या यह है कि बहु–धातुमान के अन्तर्गत विभिन्न मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय दर बनाये रखना और कठिन होगा, क्योंकि द्वि–धातुमान में ही ग्रेशम का नियम लागू हो जाता है, फिर बहु–धातुमान में ग्रेशम के नियम को कैसे रोका जा सकेगा? इन कठिनाईयों के कारण ही सम्भवतः संसार के किसी भी देश में बहु–धातुमान का प्रयोग नहीं किया जाये।

### 3.3.2.4 मिश्रित धातुमान (Symmetallism)

**मिश्रित धातुमान से आशय एवं इसकी विशेषताएँ** (Meaning of Characteristics of Symmetallism) :

सबसे पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने 1881 में मिश्रित धातुमान का सुझाव प्रस्तुत किया। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में विवेचन किया है, द्वि–धातुमान की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसमें शीघ्र ही ग्रेशम का नियम लागू हो जाता था। मार्शल ऐसा मान लागू करने के पक्ष में थे जिसमें द्वि–धातुमान के सारे गुण विद्यमान हों, किन्तु उस पर ग्रेशम का नियम लागू न हो। इसे दृष्टि में रखकर मार्शल ने मिश्रित धातुमान का विचार रखा जिसकी निम्न विशेषताएँ थी–

1. सोने और चांदी दोनों ही धातुओं का मूल्यमान के रुप में प्रयोग किया जाये, लोगों को मुद्रा को स्वर्ण तथा चांदी में बदलने की सुविधा नहीं होनी चाहिए।
2. सोने और चांदी को एक निश्चित अनुपात में मिलाकर धातु की दर तैयार की जाये तथा साधारण जनता को मुद्रा के बदले वही छड़ बदलने की सुविधा मिले। इस प्रकार व्यक्ति को मुद्रा के बदले दोनों ही धातुओं को लेना पड़ेगा। अतः ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होगा। इसका कारण यह है कि सोने और चांदी की कीमतों में होने वाले परिवर्तनों का इस मान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

## 3.4 स्वर्णमान की परिभाषा एवं मूल तत्व (Definition and Essentials of Gold Standard)

स्वर्णमान के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि इस व्यवस्था में सोने की मुद्राएँ चलन में रहना आवश्यक है, किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। नीचे दी गयी परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

**रॉबर्टसन** (Robetson) : *''स्वर्णमान एक ऐसी स्थिति है जिसके अन्तर्गत एक देश अपनी मुद्रा की एक इकाई तथा स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा का मूल्य समान रखता है। (Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the values of its monetary units and the value of a defined weight of gold at an equality with one another)''*

**हाट्रे** (Hawtrey) : *''स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण का मूल्य मुद्रा में निश्चित कर दिया जाता है और इस प्रकार स्वर्ण तथा मुद्रा का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। (The foundation of the gold standard is the laying of the value of monetary units to the value of gold by fixing of price of gold)''*

**कौलबोर्न** (Coulborn) : *''स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत देश की मुख्य मुद्रा की इकाई एक निश्चित किस्म के स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तनशील होती है। (The gold standard is an arrangement where by the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality )''*

अर्थशास्त्री **क्राउथर** (Crowther) के अनुसार, *''जब मुद्रा किसी कानून द्वारा स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है तो ऐसी मुद्रा व्यवस्था को स्वर्णमान कहते हैं। (When.. this money is made by law freely interchangeable with gold at a fixed ratio, the currency is on the gold standard)''*

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्वर्णमान के निम्नलिखित मौलिक तत्व उभरकर सामने आते हैं –

1. स्वर्णमान में स्वर्ण मुद्राएँ चलन में रहना आवश्यक नहीं हैं।
2. देश की मुद्रा का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से स्वर्ण से जुड़ा रहता है।
3. देश की मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं होती है।
4. जनता सरकार से निश्चित कीमत पर असीमित मात्रा में या निर्धारित सीमा में सोना खरीद भी सकती है और बेच भी सकती है।
5. अन्तर्राष्ट्रीय लेन–देन के लिए स्वर्ण का आयात–निर्यात स्वतंत्र होता है।

**स्वर्णमान के दो मुख्य कार्य (The Two Main Functions of Gold Standard)-**

1. **आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता बनाये रखना** : चूँकि स्वर्ण का स्टॉक अपरिमित मात्रा (Unlimited Quantity) में उपलब्ध नहीं होता, इसलिए मुद्रा के अतिरिक्त निर्गमन का भय नहीं होता और देश में मुद्रा प्रसार की दशा पैदा नहीं हो सकती।

2. **विदेशी विनियम दरों में स्थायित्व बनाये रखना** : जब देश का भुगतान शेष (Balance of Payment) प्रतिकूल होता है, तब जनता विदेशों को भुगतान विदेशी मुद्रा के बजाए सोने के रुप में करना पसन्द करेगी क्योंकि सोना उसे निश्चित मूल्यों पर ही सरकार से प्राप्त हो जायेगाद्ध। इस प्रकार विदेशी मुद्रा के लिए माँग में वृद्धि नहीं होती और पफलस्वरुप विनिमय दरों में स्थिरता बनी रहती है।

**स्वर्णमान के स्वरुप (Forms of Gold Standard)**

समय एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वर्णमान का स्वरुप बदलता रहता है। आधुनिक समय तक इसके निम्नलिखित रुप प्रचलित हो चुके हैं –

1. **स्वर्ण मुद्रामान** (Gold Curency Standard)
2. **स्वर्ण धातुमान** (Gold Bullion Standard)
3. **स्वर्ण विनिमयमान** (Gold Exchange Standard)
4. **स्वर्ण निधिमान** (Gold Reserve Standard)
5. **स्वर्ण समतामान** (Gold Parity Standard)

इन सबका वर्णन नीचे किया जा रहा है–

## स्वर्णमान मुद्रामान (Gold Currency Standard)

स्वर्ण मुद्रामान स्वर्णमान का सबसे पुराना रुप है। इसको **स्वर्ण टंकनमान** (Gold Coin Standard), **परम्परागत स्वर्णमान** (Traditional Gold Standard), **कट्टर स्वर्णमान** (Orthodox Gold Standard) और **पूर्ण स्वर्णमान** (Full Gold Standard) भी कहा गया है।

### स्वर्ण मुद्रामान की विशेषताएँ (Characteristics of Gold Currency Standard)

इस व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. **चलन में सोने की मुद्रा** (Gold Coins in Circulation) : इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश में सोने के सिक्के चलन में रहते हैं। इन सिक्कों में एक निश्चित मात्राा में स्वर्ण होता है।

**2. स्वतंत्र टंकण** (Free Coinage) : सोने की मुद्राओं का मुक्त टंकण होता है, अर्थात् काई भी व्यक्ति टकसाल में सोना ले जाकर मुद्राएँ प्राप्त कर सकता है या ढलवा सकता है।

3. **असीमित विधिग्राह्यता** (Unlimited Legal Tender) : सोने की मुद्राएँ कानून द्वारा असीमित ग्राह्य घोषित की जाती हैं अर्थात् उनके द्वारा चाहे जितनी रकम का भुगतान किया जा सकता है।

4. **सहायक मुद्राएँ** (Subsidiary Money) : स्वर्ण की प्रधान मुद्राओं की सहायता के लिए देश में हल्की तथा सस्ती धातु की छोटी सहायक मुद्राएँ चलन में रहती हैं जिनके द्वारा छोटे लेन–देन सम्पन्न किये जाते हैं।

5. **कागज के नोट** (Paper Money) : अधिक बड़े भुगतान करने के लिए कागज के नोट भी चलन में रहते हैं जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं। इन नोटों की परिवर्तनशीलता के लिए कोष में शत–प्रतिशत स्वर्ण रखा जाता है।

6. **स्वतंत्र आयात–निर्यात** : विदेशी भुगतान तथा अन्य प्रकार के लेन–देन के लिए स्वर्ण के आयात तथा निर्यात में कोई बाधा नहीं रहती।

7. **स्वर्ण का महत्व** (Importance of Gold) : स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण ही सम्पूर्ण मुद्रा प्रणाली का आधार रहता है। स्वर्ण के गलाने, खरीदने, बेचने अथवा स्वर्ण के स्वतंत्र व्यवसाय पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहता। इस दृष्टि से सम्पूर्ण लेन–देन का आधार स्वर्ण रहता है।

### स्वर्ण मुद्रामान के गुण (Merits of Gold Currency Standard)

स्वर्ण मुद्रामान में निम्नलिखित गुण रहे हैं :

1. **स्वर्ण के मूल्य में समानता तथा स्थायित्व :** स्वर्ण मुद्रामान अपनाने वाले देशों में स्वर्ण का मूल्य अन्य देशों के समान रहता है, क्योंकि ज्यों ही स्वर्ण एक देश में महंगा होता है वह दूसरे देशों से आयात होना आरम्भ हो जाता है, जिससे स्वर्ण के कोषों में वृद्धि होने के कारण स्वर्ण के मूल्य फिर सामान्य स्तर पर आ जाते हैं। इस प्रकार सभी देशों में स्वर्ण का मूल्य समान रहता है और स्वर्ण के मूल्य में उतार–चढ़ाव भी नहीं होते।

2. **वस्तु मूल्यों में स्थायित्व** : स्वर्ण के मूल्यों में स्थायित्व रहने के कारण, स्वर्ण मुद्रामान अपनाने वाले देशों में वस्तुओं के मूल्य में भी स्थायित्व रहता है। क्योंकि मुद्रा का आधार स्वर्ण होता है, इसलिए स्वर्ण मूल्य में स्थायित्व रहने के कारण मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व रहना स्वाभाविक है।

3. **जनता का विश्वास** (Public Confidence) : स्वर्ण तथा वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व रहने के कारण जनता का मुद्रा व्यवस्था में विश्वास बना रहता है।

4. **सरल व्यवस्था** (Simplicity) : स्वर्ण मुद्रामान में सोने की मुद्राएँ चलन में रहती हैं और कागज के नोट, आदि अन्य प्रचलित मुद्राएँ स्वर्ण–मुद्राओं में बदली जा सकती हैं। अतः यह व्यवस्था जटिल अथवा उलझन भरी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि स्वर्ण मुद्रा का देश–विदेश में समान उपयोग है।

5. **विनिमय दरों के निर्धारण में सुगमता** : स्वर्ण मुद्रामान अपनाने से सभी देशों की मुद्राओं की आपसी विनियम दरें निश्चित करना सरल होता है और यह दरें प्रायः एक स्तर पर बनी रह सकती हैं, क्योंकि स्वर्ण के मूल्यों में परिवर्तन हुए बिना विनिमय दरों में भी उतार–चढ़ाव नहीं होते।

6. **स्वयं संचालित** (Automatic) : स्वर्ण मुद्रामान के अर्न्तगत मुद्रा की दर तथा स्वर्ण का मूल्य अपने आप सामान्य स्तर पर बने रहते हैं, क्योंकि यदि किसी देश के स्वर्ण का मूल्य बढ़ जाये तो उसमें स्वर्ण का आयात होने लगता है जिससे स्वर्ण की मात्राा बढ़कर उसके मूल्य कम हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी देश में स्वर्ण के मूल्य में कमी आने पर उस देश से स्वर्ण निर्यात होने लगता है जिससे स्वर्ण की मात्राा कम हो जाती है और मूल्य तथा मुद्रा की विनिमय दर उचित स्तर पर आ जाते हैं। यह कार्य बिना सरकारी हस्तक्षेप के सम्पन्न होता है। इसे ही **'स्वर्णमान की स्वयंचालकता'** (Automaticity of Gold Standard) कहा गया है। कैनन ने स्वर्णमान को इस गुण (स्वयं चालकता) के कारण ही **'मूर्ख सिद्ध और मक्कार सिद्ध'** (Fool-Proof and Knave-Proof) कहा है।

## स्वर्ण मुद्रामान के दोष (Demerits of Gold Currency Standard)

स्वर्ण मुद्रामान के निम्नलिखित दोष हैं :

1. **महंगी और बेलोचदार व्यवस्था** (Costly and Inelastic Standard) : स्वर्ण मुद्रामान एक महंगी व्यवस्था है जिसे विकासशील अथवा गरीब देश नहीं अपना सकते। इसके तीन स्पष्ट कारण हैं : 1. स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत मुद्राओं के लिए **स्वर्ण की बहुत आवश्यकता होती है,** 2. स्वर्ण की मुद्रा चलन में रहने के कारण **मुद्राओं में घिसाव** (Depreciation)**होने से बहुत सा स्वर्ण व्यर्थ नष्ट होता है,** 3. यदि किसी देश की **अर्थव्यवस्था विकासशील हो और वहाँ अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़े तो उसकी पूर्ति करना कठिन हो जाता है।**

2. **संकुचनशील** (Deflationary) : स्वर्ण मुद्रामान व्यवस्था में स्वर्ण कोषों के बिना मुद्रा ढालना या निकालना सम्भव नहीं होता। अतः स्वर्ण के अभाव में मुद्रा की कमी रहती है। इसलिए स्वर्ण मुद्रामान व्यवस्था को अवस्फीतिकारक कहा गया है।

3. **संकट काल में साथ नहीं होता** : स्वर्ण मुद्रामान व्यवस्था केवल शान्तिकाल की मित्रा (Fair Weather Friend) है। जब कभी समाज में आर्थिक या राजनीतिक अशान्ति उत्पन्न होने लगती है, जनता तथा सरकार स्वर्ण का संग्रह करने लगती है और मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर देनी पड़ती है। इस दृष्टि से **स्वर्ण मुद्रामान केवल अच्छे समय का मित्र** (Fair Weather Friend) होता है।

4. **मूल्य स्थिरता काल्पनिक** (Price Stability Imaginary) : स्वर्ण मुद्रामान को केवल इसलिए श्रेष्ठ माना गया है कि इसमें वस्तु मूल्यों में स्थापित रहता है। किन्तु आलोचकों के अनुसार स्वर्णमान में कीमत की स्थिरता काल्पनिक होती है क्योंकि सोने की कीमत में परिवर्तन हो जाने से कीमत स्तर में भी परिवर्तन हो जाता है।

5. **स्वयं–संचालकता काल्पनिक** (Automaticity is a Myth) : स्वर्णमान में स्वयं चालकता का गुण तभी तक विद्यमान रहता है जब तक इसे बनाये रखने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त होता रहे। चूंकि प्रथम विश्व–युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नहीं मिल पाया, स्वर्णमान की स्वयं–चालकता समाप्त हो गयी।

6. **स्वर्ण मुद्रामान अनावश्यक** (Superfluous) : स्वर्ण मुद्रामान को मुद्रा की विनिमय की दर तथा वस्तु मूल्यों में स्थिरता बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा गया है, परन्तु मूल्यों में स्थिरता तो सरकार की आर्थिक नीति पर निर्भर करती है। यदि शासन व्यवस्था में स्थिरता और कुशलता है और उचित विकास नीति का पालन किया जाता है तो अर्थव्यवस्था में कोई संकट उत्पन्न नहीं होने पाता। अतः मूल्य तथा विनियम दर में स्थायित्व लाने के लिए स्वर्ण मुद्रामान जैसे महंगी व्यवस्था काम में लाना उचित नहीं है।

स्वर्णमान के उपर्युक्त दोषों के कारण इसकी कुछ अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचना की है, जैसे **प्रो. रॉबर्टसन** ने इसे **'जंगली लोगों की रुचि को सन्तुष्ट करने वाला, और प्रो. हाट्रे ने इसे 'साख जगत में अराजकता उत्पन्न करने वाला'** कहा है।

## स्वर्ण धातुमान या स्वर्ण पत्रमान (Gold Bullion Standard)

**जब किसी देश में स्वर्ण मुद्रा चलन में नहीं रहती, किन्तु देश की सरकार अपनी मुद्रा के बदले एक निश्चित मात्रा में स्वर्ण उपलब्ध कराने का वचन देती है तब इस व्यवस्था को स्वर्ण धातुमान अथवा स्वर्ण पाटमान कहा जाता है।** स्वर्ण धातुमान में सरकार स्वर्ण का मूल्य प्रायः निश्चित कर देती है और फिर उसी दर पर सोने की खरीद और बिक्री करती है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद, विदेशी विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने के लिए स्वर्ण धातुमान को अपनाया गया।

## स्वर्ण धातुमान की विशेषताएँ (Characteristics of Gold Bullion Standard)

स्वर्ण धातुमान की निम्नलिखित विशेषताएँ रही हैं–

**1. सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता** : स्वर्ण धातुमान के अन्तर्गत सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता। विनिमय की सुविधा के लिए हल्की धातुओं के सिक्के तथा कागजी

नोट चलन में रहते हैं, किन्तु इन नोटों तथा सिक्कों की कीमत स्वर्ण में परिभाषित की जाती है।

**2. स्वतंत्र ढलाई नहीं होती** : स्वर्ण मुद्राएँ चलन में न रहने के कारण उनकी स्वतंत्र ढलाई या टंकण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

**3. कोष निधि** (Reserves) : कागज के नोटों के पीछे स्वर्ण का केवल आनुपातिक कोष ही रखा जाता है। वास्तव में, इस प्रणाली की यह मान्यता है कि सब लोग अपने नोटों को स्वर्ण में परिवर्तित करने के लिए प्रस्तुत नहीं करेंगे।

**4. स्वर्ण का मूल्य निर्धारण तथा मुद्रा की परिवर्तनशीलता** : स्वर्ण धातुमान में सोने का मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और निश्चित दर पर ही देश की कागजी मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।

**5. स्वर्ण की उपलब्धि** : स्वर्ण धातुमान में सरकार निश्चित दर पर किसी भी कार्य के लिए सोना देने का वचन देती है। अतः चाहे स्वर्ण की आवश्यकता अपने देश में काम में लाने के लिए हो अथवा विदेशी भुगतान के लिए, दोनों दशाओं में जनता निश्चित दर पर सभी कार्यों के लिए स्वर्ण प्राप्त कर सकती है।

**स्वर्ण धातुमान के गुण** (Merits of Gold Bullion Standard)

इस व्यवस्था के निम्नलिखित गुण रहे हैं :

**1. मितव्ययता** (Economy) : स्वर्ण धातुमान में स्वर्ण मुद्राएँ चलन में डालना आवश्यक नहीं है। अतः इसमें **मुद्रा ढालने का खर्च बच जाता है।** इसके अतिरिक्त स्वर्ण मुद्राएँ चलन में रहने से जो घिसाई (Depreciation) होती, उसकी भी बचत हो जाती है।

**2. स्वर्ण की बचत** : चूंकि इस मुद्रामान में सोने के सिक्के नहीं चलते, अतः सोने के प्रयोग में बचत हो जाती है और स्वर्ण का प्रयोग अन्यत्रा किया जा सकता है।

**3. सरल प्रणाली** : यह भी सरल प्रणाली है। इसमें जनता को यह पता रहता है कि उनके पास जो मुद्रा है उसके बदले एक निश्चित मात्रा में स्वर्ण मिल सकता है।

**4. जनता का विश्वास** (Public Confidence) : स्वर्ण धातुमान व्यवस्था में स्वर्ण मुद्राएँ चलन में नहीं होती, किन्तु सरकार जनता द्वारा मांगे जाने पर कागजी मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों को सदैव स्वर्ण में बदलने के लिए तैयार रहती है, अतः स्वर्णमान में लोगों का विश्वास बना रहता है।

**5. स्वयं चालकता का गुण** : इस मुद्रामान में यदि स्वर्णमान के नियमों का पालन किया जाये तो इसमें भी स्वर्ण धातुमान के समान स्वयं चालकता का गुण बना रहता है क्योंकि मुद्रा की माँग और पूर्ति अपने आप सन्तुलित हो जाती है।

**6. लोचदार** : स्वर्ण धातुमान में मुद्रा के पीछे शत–प्रतिशत स्वर्ण कोष नहीं रखा जाता। अतः मुद्रा में कमी या वृद्धि करने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस दृष्टि से यह व्यवस्था स्वर्ण मुद्रामान से अधिक लोचदार है।

**7. विनिमय दरों में स्थिरता** (Stability in Exchange Rates) : स्वर्ण धातुमान में मुद्रा के पीछे स्वर्ण की धरोहर या आड़ रहती है, अतः मुद्रा की मात्रा से अधिक विस्तार नहीं हो सकता। इसके परिणामस्वरुप मुद्रा की विनिमय दर में भी गिरावट आने की आशंका नहीं

रहती। इस प्रकार चलन में मुद्रा की मात्रा बहुत कम भी नहीं रह सकती। अतः विनियम दर में भी विशेष वृद्धि नहीं हो सकती।

**स्वर्ण धातुमान के दोष** (Demerits of Gold Bullion Standard)

स्वर्ण धातुमान में निम्नलिखित दोष रहे हैं :

**1. अनावश्यक कोष** (Idle Reserves) : स्वर्ण धातुमान के आलोचकों का कथन है कि इसके अन्तर्गत जो स्वर्ण कोष रखे जाते हैं, वे बेकार पड़े रहते हैं, उनका कोई उपयोग नहीं होता। अतः यह व्यवस्था भी विशेष मितव्ययतापूर्ण नहीं है।

**2. परिवर्तनशीलता का भ्रम होना** : स्वर्ण पिण्डमान में जो कोष रखे जाते हैं वे मुद्रा के बदले सोना देने के लिए होते हैं, किन्तु जब भी लोग स्वर्ण मांगने लगते हैं, तब ही सरकार इन्कार कर देती है। क्योंकि मुद्रा के पीछे शत–प्रतिशत सोना नहीं रखा जाता। अतः सारी पत्रा मुद्रा के बदले सोना नहीं दिया जा सकता। दूसरा कारण यह है कि सोने की मांग के कारण सरकार भयग्रस्त हो जाती है और कुछ समय पश्चात् ही सोना देने से इन्कार कर देती है। इस प्रकार मुद्रा के बदले सोना देने की बात केवल सैद्धान्तिक है। अतः मुद्रा की परिवर्तनशीलता एक धोखामात्र है।

**3. स्वयं–संचालकता भी एक भ्रम है** : स्वर्ण पिण्डमान का एक गुण यह बताया जाता है कि मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि अपने आप होती रहती है। यह धारणा भी सही नहीं है। इस मुद्रामान में सरकारी हस्तक्षेप के कारण ही मुद्रा प्रणाली कार्यशील होती है। चूंकि सिक्कों की स्वतंत्र ढलाई नहीं होती। अतः स्वयं–चालकता का गुण कम हो जाता है। अतः स्वर्ण पिण्डमान की स्वयं–चालकता (जिसका अर्थ है मुद्रा का मूल्य, विनिमय दर तथा स्वर्ण के मूल्यों का अपने आप ठीक स्तर पर आना) भी भ्रमपूर्ण ही है।

**4. जनता का कम विश्वास** : स्वर्ण धातुमान व्यवस्था में न तो सोने की मुद्राएँ चलती हैं, न ही प्रचलित मुद्राओं की परिवर्तनशीलता के लिए पर्याप्त शत–प्रतिशत सोना रहता है। अतः इस व्यवस्था में जनता का बहुत विश्वास नहीं रहता। यह विश्वास उस समय बिल्कुल टूट जाता है जबकि सरकार कुछ समय मुद्रा के बदले स्वर्ण देने के पश्चात् सोना देना बन्द कर देती है।

**5. जनता को स्वर्णमान का भुलावा** : कहने को तो देश में स्वर्णमान होता है, परनतु व्यवहार में जनता को नोटों के बदले सोना नहीं मिलता, जिस कारण वास्तविक रुप से पत्रमान ही प्रचलित होता है।

**6. अनुकूल परिस्थितियों में सम्भव** : संकटकाल में स्वर्ण पिण्डमान को बनाये रखना कठिन हो जाता है, क्योंकि स्वर्णकोषों की कमी के कारण इसका किसी भी सीमा तक विस्तार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि इसे अनुकूल परिस्थितियों का मित्र कहा जाता है।

## स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण धातुमान में तुलना
## (Comparison Between Gold Currency Standard and Gold Bullion Standard)

| स्वर्ण मुद्रामान | स्वर्ण धातुमान |
|---|---|
| 1. इसमें स्वर्ण मुद्राएँ चलन में रखना | इसमें स्वर्ण मुद्राएँ चलन में रखना आवश्यक |

| | |
|---|---|
| अनिवार्य है जिनका स्वतंत्र टंकण होता है। | नहीं है। |
| 2. इसके अन्तर्गत स्वर्ण तथा पत्र मुद्राएँ चलती हैं जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं। पत्र मुद्रा के पीछे शत–प्रतिशत कोष रखा जाता है। | इसमें मुख्य रुप से पत्र मुद्राएँ चलन में रहती हैं जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं। पत्र मुद्रा के पीछे केवल आनुपातिक कोष रखा जाता है। |
| 3. इस व्यवस्था में स्वर्ण मूल्य का मापक भी होता है और विनिमय का माध्यम भी। | इस व्यवस्था में स्वर्ण केवल मूल्य का मापक होता है, विनिमय का माध्यम नहीं होता। |
| 4. इस व्यवस्था में आन्तरिक मूल्य स्तर तथा विदेशी विनिमय दर दोनों में स्थायित्व रहता है। | इस पद्धति में विदेशी विनिमय दरों के स्थायित्व पर विशेष बल दिया जाता है। |
| 5. स्वर्ण मुद्रामान अधिक स्वचालित व्यवस्था है क्योंकि इसमें स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि होते ही मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर दी जाती है। | इस व्यवस्था में स्वर्ण कोष केवल आनुपातिक होता है, अतः स्वर्ण कोषों में वृद्धि होने पर भी मुद्रा की मात्रा की वृद्धि करना आवश्यक नहीं है। अतः यह व्यवस्था कम स्वचालित है। |
| 6. इसमें स्वर्ण मुद्राएँ चलन में रहती हैं जिनकी घिसावट होती है। अतः यह एक महंगी व्यवस्था है। | इसमें स्वर्ण मुद्राँ चलन में नहीं रहतीं, इससे स्वर्ण की घिसावट बच जाती है। अतः वह अपेक्षाकृत कम खर्चीली व्यवस्था है। |
| 7. इस व्यवस्था में जनता का विश्वास अधिक होता है, क्योंकि स्वर्ण मुद्राएँ स्वयं में भी मूल्यवान होती हैं। | इस व्यवस्था में जनता का कम विश्वास रहता है, क्योंकि स्वर्ण मुद्राएँ तो चलन में रहती नहीं और संकटकाल में प्रायः सरकार मुद्रा के बदल स्वर्ण देने से इन्कार कर देती है। |

## स्वर्ण विनिमयमान (Gold Exchanges Standard)

### स्वर्ण विनिमयमान का आशय

स्वर्ण विनिमयमान स्वर्णमान का वह स्वरुप है जिसमें एक देश अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्णमान अपनाने वाले किसी देश की मुद्रा से जोड़ देता है। देश में आन्तरिक उपयोग के लिए सांकेतिक मुद्राएँ चलन में रहती हैं जो अपरिवर्तनीय होती हैं। विदेशी भुगतानों के लिए देशी मुद्रा के बदल स्वर्णमान वाले देश की मुद्रा प्रदान की जाती है।

**क्राउथर** के अनुसार, **''स्वर्ण विनिमयमान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक का वैधानिक उत्तरदायित्व मुद्रा को स्वर्ण में बदलने का नहीं, वरन् किसी अन्य ऐसी मुद्रा में बदलने का होता है, जो कि स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनीय है।''**

### स्वर्ण विनिमयमान की विशेषताएँ

स्वर्ण विनिमयमान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

**1. स्वर्ण मुद्रा चलन में नहीं रहती–** स्वर्ण पिण्डमान की भाँति ही स्वर्ण विनिमयमान में भी सोने की मुद्रा चलन में रहना आवश्यक नहीं है। प्रायः कागज के नोट तथा सहायक सिक्के ही चलन में रहते हैं।

**2. मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या विदेशी मुद्रा में निश्चित –** स्वर्ण विनिमयमान में मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित किया जाता है, किन्तु अनेक बार किसी अन्य देश की मुद्रा में निश्चित किया जाता है जो कि स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है।

**3. विदेशों में स्वर्ण कोष–** स्वर्ण विनिमयमान के अन्तर्गत स्वर्ण या विदेशी मुद्रा के कोष किसी अन्य देश में रखे जाते हैं। यदि मुद्रा के विदेशी मूल्य में कमी आती है तो इस कोष से स्वर्ण निकालकर घाटे की पूर्ति की जाती है। अपने देश में भी सरकार एक कोष रखती है जिसमें विदेशी मुद्राएँ रखी जाती हैं।

**4. विदेशी भुगतान के लिए सोना या विदेशी विनिमय–** जनता को केवल विदेशी भुगतान के वास्ते ही सोना दिया जाता है। अनेक बार विदेशी भुगतान के लिए सोना देने के बजाये विदेशी मुद्रा ही देने की व्यवस्था कर दी जाती है। यह व्यवस्था विदेश में रखे गये कोष में से की जाती है।

**5. स्वर्ण के आयात–निर्यात स्वतंत्र नहीं–** स्वर्ण विनिमयमान में स्वर्ण न तो विनिमय का माध्यम होता है न मूल्य का मापक ही रहता है। स्वर्ण के आयात–निर्यात पर भी सरकारी नियंत्राण रहता है।

**स्वर्ण विनिमयमान की कार्यप्रणाली –**

इस मान के अन्तर्गत यदि देश के किसी व्यक्ति को विदेशों का भुगतान करना है, वह अपने देश की मुद्रा (कागजी या धात्विक) को अपनी सरकार या केन्द्रीय बैंक के समक्ष प्रस्तुत करता है। तब सरकार अथवा बैंक उसको विदेश स्थित स्वर्णकोष के ऊपर एक ड्राफ्ट दे देती है, जिसे वह विदेश भेज देता है। विदेशी व्यक्ति इस ड्राफ्ट का भुगतान अपने देश की सरकार या केन्द्री बैंक से ले लेता है।

यदि कोई विदेशी व्यक्ति स्वर्ण विनिमय मान अपनाने वाले देश के किसी व्यक्ति को भुगतान करना चाहता है, तो वह आवश्यक मात्रा में स्वर्ण अपने (विदेशी के) देश के स्वर्ण कोष में जमा करायेगा और उस व्यक्ति के पक्ष में ड्राफ्ट प्राप्त करेगा। तत्पश्चात् वह इस ड्राफ्ट को उस व्यक्ति के पास भेज देगा, जिसे वह व्यक्ति अपने देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक से भुना लेगा।

स्वर्ण विनिमयमान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

**स्वर्ण विनिमयमान के गुण :**

**1. कम खर्चीला–** इस मान में बहुत कम सोना कोष में रखना पड़ता है, क्योंकि सोना केवल विदेशी भुगतान के वास्ते दिया जाता है। इस दृष्टि से यह मान सस्ता है और गरीब एवं विकासशील देशों के लिए उपयुक्त है।

**2. लोचदार–** इस व्यवस्था में कोष में बहुत सोना नहीं रखना पड़ता, क्योकि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण पर आश्रित नहीं होती। अतः मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना आसान है।

**3. विनिमय दर में स्थायित्व–** स्वर्ण विनिमयमान में मुद्रा का सम्बन्ध किसी शक्तिशाली विदेशी मुद्रा से जोड़ा जाता है। अतः मुद्रा की विनिमय दर में अधिक उतार–चढ़ाव होने का भय नहीं रहता।

**4. विदेशी भुगतान में सुविधा –** इसके अन्तर्गत विदेशों में सोना और विदेशी विनिमय कोष रखे जाते हैं। इसलिए विदेशी भुगतान करना बहुत सरल हो जाता है।

**5. स्वर्ण के प्रयोग में बचत –** चूंकि इस मान में स्वर्ण का बहुत कम प्रयोग होता है, यह प्रणाली काफी सस्ती है। **प्रो. केण्ट** के अनुसार, ''**स्वर्ण विनिमयमान का विशेष लाभ स्वर्ण की मांग को कम करना तथा उसके प्रयोग में मितव्ययता करना था।**''

**स्वर्ण विनिमयमान के दोष :**

स्वर्ण विनिमयमान के दोष निम्नलिखित हैं–

**1. जटिल प्रणाली–** यह प्रणाली काफी जटिल है। इसकी कार्य पद्धति को एक साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता और कभी–कभी तो पढ़े–लिखे व्यक्ति भी उसे समझने में असमर्थ रहते हैं।

**2. प्रबन्ध में कठिनाई –** स्वर्ण विनिमयमान का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मुद्रा की विनिमय दर बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। विदेशी भुगतानों के लिए भी सरकार को विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है।

**3. विदेशों में कोष –** इस प्रणाली में सोना या विदेशी विनिमय विदेशों में रखने पड़ते हैं। कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि इन कोषों पर प्रायः बहुत कम ब्याज मिलता है। यह बात सही भी है। विकासशील देशों में प्रायः पूँजी का अभाव रहता है और उन्हें विदेशों में मंहगी पूँजी आयात करनी पड़ती है। इस दृष्टि से स्वर्ण विनिमयमान इन देशों के लिए बहुत उपयोगी नहीं है।

**4. एक देश का दूसरे पर निर्भर हो जाना –** स्वर्ण विनिमयमान में देश की मुद्रा का किसी विदेशी मुद्रा से गठबन्धन करना पड़ता है। यदि उस विदेशी मुद्रा के मूल्य में उतार–चढ़ाव होते हैं तो देश की मुद्रा के मूल्य में भी उतार–चढ़ाव होने लगते हैं। यदि आधार देश स्वर्णमान का परित्याग करता है तो स्वर्ण विनिमयमान वाले देश का सम्बन्ध भी स्वर्ण के साथ टूट जाता है।

**5. मुद्रा स्फीति क भय –** स्वर्ण विनिमयमान में मुद्रा–व्यवस्था बहुत लोचदार होती है, किन्तु उसमें मुद्रा–स्फीति का भय सदा बना रहता है।

**6. जनता का अविश्वास –** स्वर्ण विनिमयमान में मुद्रा के पीछे साधारण कोष ही होते हैं और केवल विदेशी भुगतान के लिए ही स्वयं दिया जाता है। अतः इस व्यवस्था में जनता का विश्वास साधारण ही रहता है।

**स्वर्ण विनिमयमान का प्रयोग –**

यह मान सर्वप्रथम जावा ने अपनाया, तत्पश्चात् हॉलैण्ड, रुस और आस्ट्रिया आदि देशों ने अपनाया। भारत में यह मान 1900 से 1917 तक प्रचलित रहा। इसके अन्तर्गत रुपये को ब्रिटिश पौण्ड से जोड़ दिया गया और भारतीय रुपये की विनिमय दर 1 रु.=16 पैंसा निर्धारित की गयी थी।

# स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard)

## स्वर्ण निधिमान का आशय एवं उद्देश्य

स्वर्ण निधिमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी स्थापना 1936 में हुई। जब अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का पतन हो गया, तब किसी अन्य ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक था जिससे बड़े–बड़े देशों की मुद्राओं में आपसी सम्बन्ध बने रह सकें। इस उद्देश्य से सन् 1936 में अमरीका, फाँस और ब्रिटेन में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत इन देशों में आपसी भुगतान करने की व्यवस्था की गयी। इस समझौते में हॉलैण्ड, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड बाद में शामिल हो गये। इस समझौते के द्वारा जिस नये मुद्रामान की स्थापना की गयी, वह **'स्वर्ण निधिमान'** कहलाता है, इसे अपनाने वाले देशों में अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने के लिए विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना की गयी। विनिमय की स्थिरता प्राप्त करने के लिए ये कोष विदेशी मुद्रा को बेचने एवं खरीदने का कार्य करते थे तथा स्वर्ण का आयात–निर्यात कर सकते थे। स्वर्ण निधिमान एक सीमित स्वर्णमान था और इस मुद्रामान का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले उतार–चढ़ाव को रोककर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं भुगतान की समस्याओं का निराकरण करना था।

## स्वर्ण निधिमान की विशेषताएँ

स्वर्ण निधिमान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

**1. स्वर्ण का मूल्य** – समझौता करने वाले देशों ने स्वर्ण का मूल्य अपनी–अपनी मुद्राओं में निश्चित कर दिया। इस मूल्य में सबकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं हो सकता था।

**2. विनिमय दरें निश्चित** – समझौते में शामिल देशों ने अपनी मुद्राओं को विनिमय दरें भी आपस में निश्चित कर दी। इन दरों में भी आपसी सहमति से ही परिवर्तन हो सकता था।

**3. स्वर्ण का आयात–निर्यात नियंत्रित** – इन देशों में स्वर्ण का आयात–निर्यात भी स्वतंत्र नहीं था। सोने का कुल भण्डार अपने–अपने देश के केन्द्रीय बैंक में सुरक्षित रहता था आज़ैर स्वर्ण में लेन–देन सरकारी आदेश द्वारा ही हो सकता था।

**4. मुद्रा की परिवर्तनशीलता** – स्वर्ण निधिमान में मुद्राओं के मूल्य स्वर्ण में निर्धारित अवश्य थे, किन्तु मुद्रा के बदले स्वर्ण देने की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार स्वर्ण न तो विनिमय का माध्यम था और न ही मूल्य का मापक।

**5. स्वर्ण कोषों की गोपनीयता** – स्वर्ण निधिमान में केन्द्रीय बैंक के पास जो स्वर्ण कोष रखे जाते थे उन्हें भी गुप्त रखा जाता था। जनता को उनकी राशि की जानकारी नहीं दी जाती थी। स्वर्ण के विदेशी लेन–देन के बारे में भी जनता को पता नहीं चलता था।

## स्वर्ण निधिमान के संचालन की विधि

प्रायः सभी देशों ने अपनी मुद्राओं की विनिमय दरों में स्थायित्व लाने की दृष्टि से ऐसे कोषों का निर्माण किया जिनमें विदेशी मुद्रा के भण्डार सुरक्षित रखे जाते थे, इन्हें विनिमय समानीकरण कोष कहते थे। जब भी किसी देश की मुद्रा के लिए माँग बढ़ती और इसके फलस्वरुप विनिमय दर में ऊँचा होने की प्रवृत्ति प्रकट होती, तब ही इन भण्डारों से उस मुद्रा को बेचकर उसकी पूर्ति बढ़ा दी जाती और इस प्रकार विनिमय दर को ठीक स्तर पर रखा जाता था। इसके विपरीत, यदि किसी देश के लिए माँग कम होने के कारण

विनिमय दर गिरने की प्रवृत्ति दिखती, तो कोष से उस देश की मुद्रा को खरीद लिया जाता था और इस प्रकार बाजार में उस मुद्रा की पूर्ति को कम करके विनिमय दर को नीचे गिरने से रोका जाता था। वह थी कोष की कार्य प्रणाली जिसके द्वारा विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दरों में स्थायित्व रखा जाता था।

यदि किसी देश के पास अन्य देश की मुद्रा का कोष बढ़ जाता था, तो वह इसकी सूचना उस देश को देता था, जो फिर स्वर्ण देकर अपनी मुद्रा वापस ले लेता था। प्रथम देश प्राप्त हुए स्वर्ण को कोष में रख देता था और अपनी मुद्राएँ जारी कर देता था। (इसी के कारण इस मान का नाम स्वर्ण निधिमान रखा गया था।)

## स्वर्ण निधिमान के गुण–दोष

**गुण** – (i) स्वर्ण का आयात–निर्यात सरकार के हाथों में रहने के कारण **स्वर्ण का मूल्य स्थिर** रहता था, ;ii) विनिमय दरों को **आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हेर–फेर किये बिना ही,** विनिमय समानीकरण कोष द्वारा, स्थिर रखा जा सकता था, (iii) देश की अर्थव्यवस्था **विदेशी प्रभावों** से मुक्त रहती थी, जबकि स्वर्णमान के अन्तर्गत यह बात नहीं थी, (iv) यह मुद्रा व्यवस्था **लोचपूर्ण** थी, एवं (v) स्वर्ण का प्रयोग मौद्रिक कार्य में न होने के कारण यह मुद्रामान अत्यधिक **मितव्ययी** था।

**दोष** – 1. यह प्रणाली कोष में पर्याप्त स्वर्ण रहने पर कार्यशील रह सकती थी, 2. इसकी सहायता के लिए देशों में सहयोग रहना आवश्यक था, 3. कोष गोपनीय रहने से जनता को वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता था, इसलिए इस प्रणाली में उसका विश्वास कम था।

## स्वर्ण निधिमान का पतन

स्वर्ण निधिमान एक अजीब ढंग का मान था जिसमें स्वर्णमान के अधिकांश नियमों का पालन नहीं किया गया था। यह मान केवल कुछ देशों में आपसी लेन–देन को सुविधाजनक बनाने के लिए अपनाया गया था। यह कोई अन्तर्राष्ट्रीय मान नहीं था। इस मान का प्रयोग सन् 1939 तक हुआ क्योंकि इस वर्ष सितम्बर में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध प्रारम्भ होने से विभिन्न देशों में हुआ समझौता टूट गया और स्वर्ण निधिमान समाप्त हो गया।

## स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard)

वर्तमान युग में कोई भी ऐसी मुद्रा व्यवस्था नहीं अपनायी जा सकती जो प्रत्यक्ष रुप से स्वर्ण पर आधारित हो। इसका कारण यह है कि संसार के सभी देशों के पास स्वर्ण की कमी है। स्वर्ण का वार्षिक उत्पादन भी मुद्रा की आवश्यकता को पूरा करने के लिए काफी नहीं है। इस बात को ध्यान में रखकर ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के द्वारा एक नये मुद्रामान की स्थापना की गयी, जो सब प्रकार के स्वर्णमानों से सस्था था और जिसमें सब प्रकार के स्वर्णमानों के गुण मौजूद थे।

## अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और समतामान

स्वर्ण समतामान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) के सभी सदस्य देश उसके पास अपने कुछ स्वर्ण कोष रखते थे, जिसकी मात्रा मुद्रा कोष ने निर्धारित की हुई थी। इसके अतिरिक्त, सभी सदस्य देशों की मुद्राओं का

मूल्य स्वर्ण तथा डॉलर में निश्चित किया गया था। देश की मुद्रा के स्वर्ण मूल्य के आधार पर अन्य देशों की मुद्राओं से उसकी विनिमय दर निश्चित की जाती थी। चूंकि विनिमय दरों में और मुद्रा के स्वर्ण मूल्य में समता रखी जाती थी इसलिए यह व्यवस्था '**स्वर्ण समतामान**' कहलायी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ समय तक विनिमय दरों में पर्याप्त स्थिरता रही। यदि किसी देश की विनिमय दर में एक सीमा से अधिक परिवर्तन होता था, तो मुद्रा कोष अपने अनुशासनात्मक उपायों के द्वारा सुधारने में मद्द करता था।

**स्वर्ण समतामान की विशेषताएँ :**

स्वर्ण समतामान की निम्नलिखित विशेषताएँ रही हैं–

**1. देशी मुद्रा का स्वर्ण से सम्बन्ध न होना** – इस मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण देश में विनिमय का माध्यम नहीं होता न वह मूल्य मापक का ही कार्य करता है। देश में जो पत्र मुद्रा और धातु मुद्राएँ चलन में होती हैं ये भी स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं होती।

**2. विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में शामिल** – मुद्रा कोष के सभी देशों की मुद्राओं के मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिये गये। सदस्य देशों द्वारा जमा किया गया स्वर्ण केवल कोष के रुप में रहता था तथा इसे किसी देश को भुगतान के लिए नहीं दिया जा सकता था।

**3. विनिमय दरों का निर्धारण** – अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सब देशों की मुद्राओं के मूल्य आपस में निर्धारित किये गये। इस प्रकार सब देशों की मुद्राओं की विनिमय दरें आपस में निश्चित की गयी। इन दरों पर ही सारा विदेशी लेन–देन होता था।

**4. मुद्रा कोष में सहायता** – जब किसी सदस्य देश के सामने विदेशी भुगतान की समस्या उत्पन्न होती, तब उसके द्वारा याचना करने पर मुद्रा कोष भुगतान के लिए व्यवस्था कर देता था, अर्थात् विदेशी भुगतान के लिए मुद्रा कोष से किसी भी मुद्रा में मिल जाता था।

**5. मौद्रिक सहयोग** – स्वर्ण समतामान में मुद्रा कोष के सदस्य देश मिल–जुलकर या एक–दूसरे की सहमति से मुद्रा तथा भुगतान नीति अपनाते थे। इससे विदेशी लेन–देन तथा भुगतान में कोई विदेशी समस्या उत्पन्न नहीं हो पाती थी।

**6. आन्तरिक मुद्रा–व्यवस्था में स्वतंत्र ता** – देश की आन्तरिक मुद्रा व्यवस्था में अन्य देशों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। मुद्रा कोष भी हस्तक्षेप करने से बचता था।

**7. स्वर्ण का आयात–निर्यात स्वतंत्र न होना** – विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का आयात–निर्यात स्वतंत्र नहीं था।

**स्वर्ण समतामान के गुणः**

**1.** यह मान **पर्याप्त लोचपूर्ण** था क्योंकि इसके अन्तर्गत सदस्य देशों को विशेष परिस्थितियों में अपनी विनिमय दरों में परिवर्तन करने की छूट थी।

2. इस मान के अन्तर्गत विभिन्न सदस्य देशों में **सहयोग और सद्भावना** का विस्तार हुआ।

**3. विनिमय दरें** भी, 1971 के पूर्व तक काफी स्थिर बनी रही।

**क्या स्वर्ण समतामान स्वर्ण विनिमयमान का ही अन्तर्राष्ट्रीय रुप था?**

कुछ अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सहयोग से जिस मुद्रामान की व्यवस्था हुई थी, वह सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमयमान था। इसके निम्नलिखित कारण दिये जाते हैं :

**1. मुद्रा का मूल्य निर्धारण –** स्वर्ण समतामान में भी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित किया गया जैसे स्वर्ण विनिमयमान में होता है।

**2. स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय कोष –** स्वर्ण विनिमयमान में स्वर्ण और विदेशी विनिमय के कोष विदेश में रखे जाते थे ताकि भुगतान में सुविधा रहे। स्वर्ण समतामान में स्वर्ण तथा अनेक मुद्राओं के कोष अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास रखे गये जिनका प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा होता था।

**3. विदेशी भुगतान –** मुद्रा कोष द्वारा रखे गये इन कोषों का प्रयोग सदस्य देशों की विदेशी भुगतान सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिए किया जाता था। स्वर्ण विनिमयमान में भी विदेश में रखे गये, कोष विदेशी भुगतान के काम में लिये जाते थे।

इस प्रकार स्वर्ण समतामान स्वर्ण विनिमयमान से बहुत मिलता–जुलता था, इसमें अन्तर केवल यह था कि इसका प्रबन्ध सब देश अलग–अलग नहीं करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक केन्द्रीय स्थान से इसका संचालन करता था।

**स्वर्ण समतामान का पतन –**

सन् 1971 में अमरीका ने डॉलर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता का समाप्त कर दिया। इससे समता दरों का जो ढाँचा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने बड़े प्रयत्नपूर्वक अनेक वर्षों में तैयार किया था, टूट गया। डॉलर का दो बार अवमूल्यन हुआ। अन्य प्रभावशाली देशों ने भी अपनी मुद्राओं की विनिमय दरों को स्वतंत्र रुप से निर्धारित होने के लिए छोड़ दिया। मुद्रा कोष ने भी अपने हिसाब–किताब के लिए डॉलर के बजाय SDR का प्रयोग करना शुरु किया। SDR (विशेष आहरण अधिकार या Special Drawing Rights) की एक इकाई का मूल्य 01 जनवरी, 1981 से पांच देशों की मुद्राओं पर आधरित कर दिया गया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के तत्वाधन में स्वर्ण समतामान के बजाय SDR मान (SDR Standard) कायम हो गया।

## 3.5 पत्र–मुद्रामान (Paper Standard)

### 3.5.1 पत्र–मुद्रामान का आशय (Meaning of Paper Standard)

पत्र मुद्रामान आज के युग में सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है, क्योंकि यह **सरल, लोचदार तथा मितव्ययतापूर्ण** है। पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत देश में पत्र मुद्रा ही मुख्य मुद्रा होती है और धातु की अनेक सहायक मुद्राएं चलन में रहती हैं। पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत कागज के नोट किसी भी धातु में परिवर्तनशील नहीं होते और न ही उसके पीछे कोष रखने की आवश्यकता होती है। यह मुद्रा व्यवस्था सरकार की साख पर चलती है और इसे प्रायः आर्थिक अथवा राजनीतिक संकट की अवस्था में अपनाया जाता है। इसीलिए इसे **साख मान, प्रादिष्ट मान अथवा प्रबन्धित मान** भी कहा जाता है।

## 3.5.2 पत्र–मुद्रामान के गुण (Merits of Paper Standard)

पत्र–मुद्रामान के निम्नलिखित गुण हैं:

1. **सस्ती मुद्रा प्रणाली** : पत्र मुद्रामान बहुत सस्ता होता है, क्योंकि कागज के नोट निकालना सरल है, उनकी घिसावट होने पर नये नोट निकालने में विशेष खर्च नहीं होता है।
2. **धातु की बचत** : कागजी नोटों का दैनिक जीवन में प्रयोग करने से सोने–चांदी की बचत हो जाती है और सोने–चांदी का प्रयोग कोष रखने या विदेशी भुगतान करने में हो सकता है।
3. **लोचपूर्ण होना** : पत्र मुद्रामान बहुत लोचपूर्ण है, क्योंकि इस व्यवस्था में मुद्रा की मात्रा में सुगमता से परिवर्तन किया जा सकता है।
4. **विकास योजना में सहायक** : पत्र मुद्रामान एक सस्ती और सरल व्यवस्था है जिससे विकास के लिए राशि प्राप्त की जा सकती है। इस दृष्टि से पत्रमान आर्थिक विकास मे सहायक है।
5. **भुगतान में सुविधा** : पत्र मुद्रामान व्यवस्था भुगतान की दृष्टि से बहुत सुविधाजनक है, क्योंकि गणना करने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा जमा रखने में पत्र मुद्रा बहुत सुविधा प्रदान करती है।
6. **बैंकिंग विकास को बल** : पत्र मुद्रामान व्यवस्था के कारण ही संसार में बैंकिंग व्यवस्था का विकास हुआ है, क्योंकि कागजी नोटों में लेन–देन, गिनती तथा जमा आदि करने की बहुत सुविधा रहती है।
7. **एकरुपता** : एक ही वर्ग की मुद्रा का रुप, रंग और आकार–प्रकार समान होता है, जैसे कि एक रुपये के नोट अलग आकार व रंग के, दो रुपये के नोट दूसरे आकार–प्रकार, रंग आदि के होते हैं। इससे मुद्रा व्यवस्था बहुत वैज्ञानिक बन जाती है और सभी लोग भुगतान करने में सुविधा अनुभव करते हैं।
8. **जालसाजी से रक्षा** : नोट का कागज प्रायः बढ़िया कागज व विशेष प्रकार की प्रेस मे छपते हैं और उन पर विशेष चिन्ह रहता है जो साधारण प्रेसों द्वारा अंकित नहीं हो सकता। अतः जाली नोटों का पकड़ा जाना बहुत सरल होता है।
9. **उत्पत्ति साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव होना** : धातुमान की प्रवृत्ति संकुचन की होती है। चूंकि धातुमान के अन्तर्गत धातु की उपलब्धि सीमित होने के कारण मुद्रा की न्यूनता रहती है। इसलिए उत्पादन बढ़ाने के लिए, बनाये गये कार्यक्रम के लिए वित्त का अभाव होता है और फलस्वरुप उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता। लेकिन पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत घाटे की वित्त व्यवस्था के द्वारा उत्पादन कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त धन जुटा लिया जाता है, जिससे साधनों का पूर्ण उपयोग करना सम्भव होता है।

## 3.5.3 पत्र–मुद्रामान के दोष (Demerits of Paper Standard)

पत्र–मुद्रामान के निम्नलिखित दोष भी हैं:

1. **सीमित कार्य–क्षेत्र** : पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत निकाले गये नोट अपने–अपने देश में ही लेन–देन के लिए उपयोगी होते हैं। ये विदेशों में उपयोगी नहीं होते।
2. **स्वयं संचालकता नहीं** : पत्र मुद्रामान प्रायः एक प्रबन्धित मान है अर्थात् देश के केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्राएं निकालने में सरकार द्वारा बनाये गये नियमों का

पालन करना पड़ता है और मुद्रा की मात्रा, समय आदि का भी ध्यान रखना होता है।

3. **एक देश की अस्थिरता का दूसरे देशों पर प्रभाव** : स्वर्णमान की भांति ही प्रबन्धित पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत भी एक देश का आर्थिक संकट दूसरे देशों की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।
4. **विमुद्रीकरण का भय** : पत्र मुद्रामान का एक गम्भीर दोष यह है कि सरकार जब चाहे किसी वर्ग के नोटों को रद्द करने की घोषणा कर सकती है, जैसा कि भारत सरकार ने 1946, 1978 और 2016 में किया था। इससे अनेक लोगों को बहुत हानि उठानी पड़ती है।
5. **मूल्य में कमी के दुष्परिणाम** : पत्र मुद्रा की अधिक निकासी कर दिये जाने पर मुद्रा का मूल्य देश में और देश से बाहर कम हो जाता है, जिसके कई दुष्परिणाम होते हैं, जैसे (1) जनता का मुद्रा पर से विश्वास घटना, (2) वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर उतार–चढ़ाव होना, (3) बचत–प्रवृत्ति घटना एवं (4) विदेशी व्यापार में बाधा पड़ना।
6. **विदेशी विनिमय दरों में घट–बढ़** : चूंकि इस मुद्रा व्यवस्था में देश की मुद्रा का सम्बन्ध किसी भी धातु से नहीं होता, इसलिए विदेशी विनिमय दरों में उतार–चढ़ाव की कोई सीमा नहीं होती, जैसे कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा में ही उतार–चढ़ाव होते हैं।
7. **आन्तरिक कीमत स्तर स्थिर न रहना** : पत्र मुद्रा का अपना कोई मूल्य स्वतंत्र या निहित मूल्य नहीं होता। अतः इसका मूल्य घटने की कोई सीमा नहीं होती और संकटकाल में तो वह शून्य तक घट सकता है। इस प्रकार, आन्तरिक कीमत स्तर में भी बहुत उथल–पुथल रहती है और वह स्थिर नहीं रह पाता।
8. **मुद्रा प्रसार का भय** : पत्र मुद्रामान का सबसे गम्भीर दोष यह है कि इसमें मुद्रा प्रसार का भय रहता है। मुद्रा के पीछे सरकार के कोई कोष तो रखना नहीं पड़ता। अतः अनेक बार सरकारी अपनी गलत नीतियों को छिपाने के लिए या अपनी उचित–अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में मुद्रा निकाल देती है। इस प्रकार के मुद्रा प्रसार से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और जनता को कष्ट होता है।

   यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो मुद्रा प्रसार का कारण पत्र–मुद्रामान नहीं बल्कि गलत सरकारी नीतियाँ होती हैं। यदि सरकार मुद्रा की मात्रा पर उचित नियंत्रण रखने का प्रयत्न करे तो मुद्रा प्रसार नहीं हो सकता। अतः मुद्रा प्रसार के लिए पत्र मुद्रामान नहीं सरकारी नीति दोषी होती हैं।
9. **विदेशी भुगतान में कठिनाई** : पत्र मुद्रामान का एक दोष यह बताया जाता है कि इससे विदेशी भुगतान में कठिनाई रहती है। यह बात सही है कि पत्र मुद्रामान विदेशी भुगतान के लिए उपयोगी नहीं है, किन्तु किसी भी मुद्रामान का मूल उद्देश्य अपने देश में लेन–देन को सुविधाजनक बनाना होता है। विदेशी भुगतान की व्यवस्था व्यापारिक बैंकों की कुशलता तथा विदेशी मुद्रा की आय पर निर्भर करती है, मुद्रामान पर नहीं। यदि देश से पर्याप्त माल निर्यात होता रहे तो विदेशी भुगतान में कोई कठिनाई नहीं होगी।

## 3.6 सारांश (Summary)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके है कि मुद्रा की विभिन्न प्रकार कौन–कौन से है तथा इसके कार्यो के आधार पर इसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है।

मुद्रा का वर्गीकरण को तीन भागों में किया जाता है– प्रकृति के आधार पर, वैधानिक मान्यता के आधार पर, तथा पदार्थ के आधार पर ।

## 3.7 शब्दावली

- **वस्तु विनिमय** – वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का आदा–प्रदान।
- **बैंक मुद्रा** – व्यापारिक बैंकों द्वारा सृजित माँग जमा।
- **बाह्य मुद्रा** – सरकारी ऋण पर आधारित मुद्रा।
- **आन्तरिक मुद्रा** – आर्थिक इकाइयों के ऋण पर आधारित मुद्रा।
- **अर्द्ध मुद्रा** – ऐसी परिसम्पतियॉ, जो तरलता का गुण रहते हुये भी स्पष्ट रूप में मुद्रा नहीं कही जा सकती

## 3.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1. मुद्रा का सामान्य अर्थ है।

(क) करेन्सी
(ख) करेन्सी तथा बैंको की सम्पूर्ण जमा राशियॉ
(ग) करेन्सी तथा मांग जमा राशियॉ
(घ) सम्पूर्ण चलनिधि

2. मुद्रा का अनिवार्य कार्य क्या है–

(क) मूल्य मापन
(ख) मूल्य संचय
(ग) मूल्य हस्तान्तरण
(घ) साख व्यवस्था का आधार

3. मुद्रा एक अच्छा.....है, किन्तु बुरा.....।

4. नैप अर्थशास्त्री ने मुद्रा की.....परिभाषा का प्रतिपादन किया।

5. मूल्य मापक मुद्रा का.....कार्य है।

6. मूल्य संचय मुद्रा का.....कार्य है।

7. वर्तमान समय में मुद्रा अर्थ विज्ञान की धुरी है। सही/गलत

8. राबर्टसन ने मुद्रा के लिये संकुचित दृष्टिकोण की परिभाषा दी। सही/गलत

उत्तर : 1. (ख) 2. (क) 3. सेवक, स्वामी 4. वैधानिक 5. प्राथमिक 6. सहायक 7. सही 8. सही

## 3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5. डा0 जे0सी0 पन्त एवं जे0पी0 मिश्रा – अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

6. डा0 टी0टी0 सेठी – मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
7. डा0 टी0टी0 सेठी – समष्टि अर्थशास्त्र
8. डा0 एम एल झिंगन – मौदिक अर्थशास्त्र

## 3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Dwivedi, D.N. (2008) ***Macro Economics***, 7th edition, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi.
- Ahuja, H.L. (2010) ***Principles of Macro Economics***, S. Chand and Company Ltd. New Delhi.
- Colander, D. C., (2008) ***Economics***, McGraw Hill Education, New Delhi.
- Mishra, S.K. and V.K. Puri (2003) ***Modern Macro-Economics Theory***, Himalaya Publishing House, New Delhi.

## 3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा का वर्गीकरण कितने प्रकार से किया जा सकता हैं ?
2. मौद्रिकमान किसें कहते हैं ?
3. धातुमान के प्रकार बताये हैं ?
4. स्वर्णमान किसें कहते हैं ?
5. पत्र मान किसें कहते हैं ?

# इकाई–4 मुद्रा के मूल्य निर्धारण के परम्परागत सिद्धान्त (फिशर एवं क्रैम्बिज आदि)

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 मुद्रा के मूल्य का अर्थ
4.4 मुद्रा का मूल्य के निर्धारण तत्व
  4.4.1 मुद्रा की मांग
  4.4.2 मुद्रा की पूर्ति
4.5 मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्त
4.6 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
  4.6.1 फिशर का लेन–देन समीकरण
  4.6.2 फिशर समीकरण की मान्यताएँ
  4.6.3 समीकरण की व्याख्या
  4.6.4 फिशर सिद्धान्त की आलोचानाएँ
4.7 क्रैम्बिज समीकरण या नकद शेष समीकरण
  4.7.1 कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो द्वारा दो मौलिक परिवर्तन
  4.7.2 नकद शेष समीकरण के विभिन्न रूपांतर
4.8 फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरण की तुलना
4.9 कैम्ब्रिज सिद्धान्त की आलोचनाएँ
4.10 सारांश
4.11 शब्दावली
4.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
4.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.15 निबन्धात्मक प्रश्न

## 4.1 प्रस्तावना (Introduction)

मुद्रा वस्तुतः एक ऐसी वस्तु है जिसके माध्यम से अन्य वस्तुओं का क्रय किया जा सकता है। वस्तुओं के क्रय के साथ–साथ ऋणों का भुगतान भी बिना किसी बाधा के संभव हो जाता है। मुद्रा की क्रयशक्ति उसके द्वारा क्रय किये गये वस्तुओं से निर्धारित होती है। प्रस्तुत इकाई में मुद्रा के मूल्य एवं उसके निर्धारण सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तो को विस्तृत रूप से समझाने का प्रयास किया गया है।

यह कहना उचित होगा कि मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय शक्ति होती है। प्रस्तुत इकाई में मुद्रा का मूल्य, वस्तु का मूल्य एवं मुद्रा की मात्रा के मध्य सम्बन्ध को दृष्टिगत किया गया है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण सिद्धान्तो को विस्तृत रूप से समझने के लिये है विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये समीकरणों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इन सिद्धान्तों से पूर्व मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य के मध्य अन्तर का उल्लेख भी महत्पूर्ण है।

## 4.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त् आपको यह ज्ञात हो सकेगा कि–

- ✓ मुद्रा का मूल्य से क्या अभिप्राय है।
- ✓ मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में क्या अंतर है?
- ✓ मुद्रा के मूल्य के निर्धारक तत्व क्या है?
- ✓ मुद्रा की चलन गति से क्या अभिप्राय है?
- ✓ मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त कौन से है?
- ✓ फिशर एवं क्रेम्बिज सिद्धान्त में क्या समानता एवं असमानता है?
- ✓ कौन सा मूल्य निर्धारण सिद्धान्त श्रेष्ठ है और क्यों?

## 4.3 मुद्रा के मूल्य का अर्थ (Meaning of Value of Money)

अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में दो मत प्रस्तुत किये गये है। पहले मत के अनुसार जो एण्डरसन (Anderson) एवं उनके समर्थकों द्वारा पुष्ट किया गया है, मुद्रा के निरपेक्ष मूल्य पर जोर किया गया है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा के दो स्वरूप है– धातु मुद्रा एवं पत्र मुद्रा। अतः सोने, चाँदी और बहुमूल्य धातु से बनी मुद्रा का मूल्य अधिक होगा जबकि पत्र मुद्रा या कागज मुद्रा का मूल्य न के बराबर ही होगा।

वही दूसरी ओर कुछ अथ्रशास्त्रियों का मत है कि मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति (Purchasing power) के द्वारा निर्धारित होगा। अर्थात मुद्रा की इकाई के बदले में कितनी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय किया जा सकता है, यही मुद्रा की क्रयशक्ति है और यही मुद्रा का मूल्य है।

**प्रो. रॉबर्टसन** ने अपने पुस्तक "Money" में मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में लिखा है, *''मुद्रा की अपनी कोई उपयोगिता नहीं होती है। इसकी उपयोगिता इसके विनिमय मूल्य (exchange value) से उत्पन्न होती है। (By value of money, we mean the amount of things is general which will be given in exchange for a unit of money)''*

सामान्य रूप से सबसे प्रचलित अर्थ मुद्रा के मूल्य की मुद्रा की क्रयशक्ति ही है अर्थात् मुद्रा की एक इकाई के बदले में कितनी वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त की जा सकती है।

मुद्रा के मूल्य के विभिन्न वर्षो के तुलनात्मक अध्ययन से माप सूचकांकों के अध्ययन मे सहायता मिलती है। यही क्रय शक्ति ही मुद्रा का मूल्य है।

मुद्रा के मूल्य के संकुचित अर्थ से अभिप्राय मुद्रा का आन्तरिक मूल्य ही है। परन्तु विस्तृत अर्थ में मुद्रा के मूल्य का तात्पर्य मुद्रा के इस आन्तरिक मूल्य के साथ–साथ उसके बाह्य मूल्य (external value) से भी है।

इसे दृष्टिगत रखते हुये मुद्रा के मूल्य को दो भागो में बांटा जा सकता है।

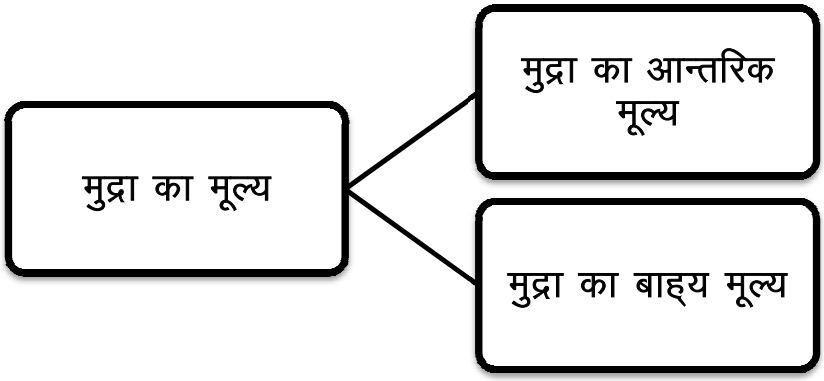


1. **मुद्रा का आन्तरिक मूल्य–** जब अर्थव्यवस्था में मूल्य या कीमत स्तर के आधार पर वस्तुओं व सेवाओं की खरीदी गयी मात्रा का उल्लेख होता है तो सार रूप में यह मुद्रा का आन्तरिक मूल्य है। यदि मुद्रा की एक इकाई से वस्तुओं एवं सेवाओं की अधिक मात्रा का क्रय कर सकते है तो हम यह कहते है कि मुद्रा का मूल्य अधिक है और विलोमशः। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं एवं सेवाओं के सामान्य मूल्य में विपरीत संबंध है। कीमत स्तर बढ़ने पर मुद्रा का मूल्य गिरता है और कीमत स्तर कम होने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ता है। इस सम्बन्ध को प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

$$\mathbf{M_V = \frac{1}{P}}$$

यहाँ $M_V$ = मुद्रा का मूल्य एवं P = सामान्य कीमत स्तर।

2. **मुद्रा का बाह्य मूल्य** – मुद्रा के बाह्य मूल्य से आशय मुद्रा की एक इकाई के बदले किसी देश की कितनी मुद्रा प्राप्त हो जाने से है अर्थात किसी देश की मुद्रा की एक इकाई अन्य देश के मुद्रा की कितनी इकाई खरीद सकती है। अन्य शब्दों में इसे ***विदेशी विनिमय दर*** कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि डालर की एक इकाई प्राप्त करने के लिये 60 रूपये देने पड़ते है। तो विनिमय दर होगी $1 = Rs. 60। यह भी कहा जा सकता है कि एक डालर का मूल्य 60 रूपये है। अतः अमेरिका का 1 डालर भारत में 60 रूपये की वस्तुओ एवं सेवाओं का क्रय कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया है कि मुद्रा के बाह्य एवं आन्तरिक मूल्य में कोई मौलिक अंतर नहीं है।

   उपरोक्त विभिन्न मतों के अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य का एक अन्य प्रचलित अर्थ है– **ब्याज की दर** अर्थात मुद्रा को, एक निश्चित अवधि, प्रायः एक वर्ष के लिये, उधार देने पर कितनी रकम मिल सकती है। प्रायः इस अर्थ को बहुत कम प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के मूल्य की विभिन्न परिभाषाएं दी गयी है–

**किनले (Kinley)** के अनुसार *''मुद्रा का मूल्य सीमान्त विनिमय द्वारा प्राप्त हुयी सेवाओं के पंजीकृत मूल्य के बराबर होता है। (The value of money is the capitalized value services rendered in the marginal exchange.)''*

**प्रो. चैण्डलर (Prof. Chandler)** के अनुसार *''मुद्रा के मूल्य का अर्थ है– मुद्रा की क्रय शक्ति– प्रत्येक इकाई की वस्तुओं व सेवाओं को प्राप्त करने की क्षमता।'' (By the term the value of money is meant the purchasing power of money -the ability of each unit to command goods and excesses in exchange)''*

सारांश रूप में जैसा कि केन्स ने कहा है कि किसी विशेष दशा में मुद्रा की क्रय शक्ति वस्तुओ और सेवाओं की उस मात्रा पर निर्भर करता है, जो मुद्रा की एक इकाई से क्रय की जा सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा एवं अन्य वस्तुओं में कोई अंतर नहीं माना और अन्य वस्तुओं की ही भांति वे मुद्रा को भी एक वस्तु के रूप में मानते थे। उनके अनुसार जिस प्रकार एक वस्तु का मूल्य उसकी मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी उसकी मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है।

## 4.4 मुद्रा का मूल्य के निर्धारक तत्व (Determinante Factors of Value of Money):–

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा के मूल्य के दो निर्धारक तत्व है

1. मुद्रा की मांग
2. मुद्रा की पूर्ति

### 4.4.1 मुद्रा की मांग (Demand of Money)

मुद्रा की मांग विनिमय के माध्यम के लिये की जाती है। यह एक स्थैतिक विचारधारा है। प्रावैगिक विचारधारा के अनुसार मुद्रा की मांग मूल्य संचय के लिये की जाती है।

स्थैतिक दशाओं के अन्तर्गत *''मुद्रा की लेने देन मांग पर राष्ट्रीय आय के आकार का दो आयो के मध्य अवधि का : भुगतान प्रणाली का और साख के प्रयोग की सीमा जैसे तत्वो का प्रभाव पड़ता है।'*

उदाहरण के लिये, राष्ट्रीय आय का आकार जितना बड़ा होगा, मुद्रा की सौदा मांग उतनी हो अधिक होगी।

प्रावैगिक दशाओं में मुद्रा की माँग से आशय उस नकद राशि से है जो व्यक्ति अपने पास रखना चाहता है। **लार्ड कीन्स** के अनुसार, मुद्रा की मांग से अभिप्राय तरलता अथवा नकदी की मांग से है। इस दृष्टिकोण को नकद शेष दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) भी कहा जाता है जिसे आगे विस्तृत रूप से सिद्धान्त के रूप में समझाया भी गया है।

### 4.4.2 मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा की पूर्ति से आशय राष्ट्रीय मुद्रा के उस कुल स्टॉक से है, जिस पर देश की जनता का स्वामित्व होता है। इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों, केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारों की नकद राशियों को मुद्रा पूर्ति का अंग नही माना जाता क्योंकि ये देश में वास्तविक प्रचलन में नहीं होती।

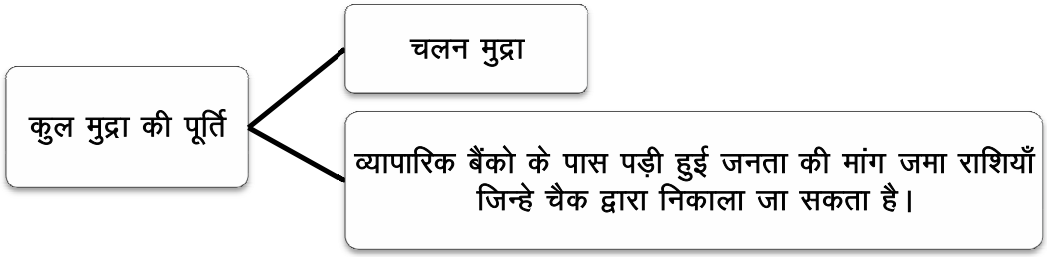


## 4.5 मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories related to Value Determination of Money)

मुद्रा के मूल्य निर्धारण को लेकर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किये। इसे एक चित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है–

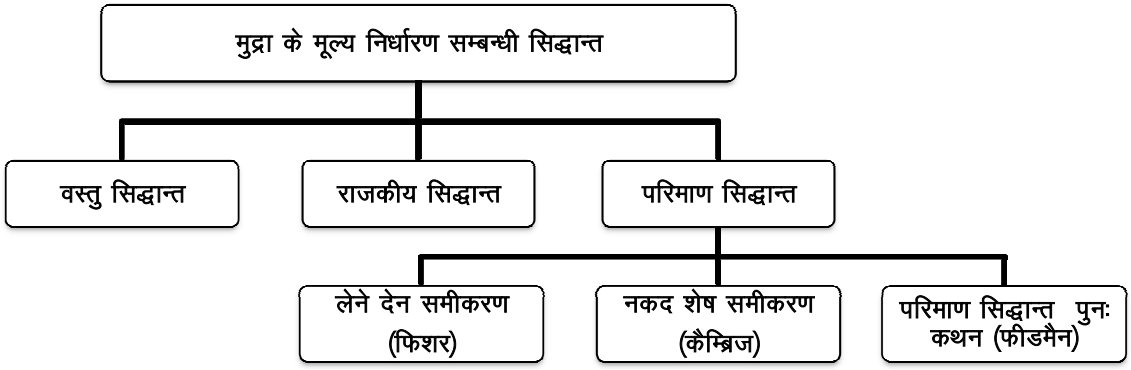


## 4.6 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

प्रस्तुत इकाई में हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को दो दृष्टिकोणों का अध्ययन करेगें।

- लेन–देन समीकरण – फिशर
- नकदी शेष समीकरण– कैम्ब्रिज

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन क्यों होते है? इस सिद्धान्त के माध्यम से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बहुत पुराना है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार इसका विवेचन **जॉन बोडिन** (Jean Bodin-1530-1596) द्वारा किया गया। कुछ का विचार है कि 15 वीं सदीं के इटली के विचारक **डेवन जट्टी** (Davan Zatti) ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया, किन्तु इस सिद्धान्त की क्रमबद्ध व्याख्या एक अंग्रेजी विचारक जॉन लॉक द्वारा 1691 की गयी। 1752 में **डेविड हयूम** (David Hume) द्वारा इसकी व्याख्या की गयी।

तत्पश्चात् अनेक अर्थशास्त्री जैसे **एडम स्मिथ**, **रिकार्डो**, **जे.एस. मिल** ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों में फिशर ने इस सिद्धान्त को एक समीकरण का रूप प्रदान कर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के मत का समर्थन किया। इसके बाद पीगू और मिल्टन फ्रीडमैन ने इस सिद्धान्त की नवीन रूप में व्याख्या की। इन प्राचीन वर्णनों में मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य में पारस्परिक संबंध की व्याख्या की गयी थी, परन्तु यह नहीं बताया गया था कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप मुद्रा के मूल्य का परिवर्तन किस अनुपात में होगा। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि मुद्रा का मात्रा और मूल्य के पारस्परिक संबंध को आनुपातिक संबंध नहीं समझा गया था।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical economists) ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को स्पष्ट रूप प्रदान किया। उन्होंने यह बातया कि मुद्रा की मात्रा मूल्य के बीच विपरीत सम्बन्ध है साथ ही यह संबंध समानुपातिक भी है।

**जे.एस. मिल** (J.S. Mill) के अनुसार *"यदि अन्य बातें यथा स्थिर रहें तो मुद्रा के मूल्य में इसके परिमाण की विपरीत दशा में परिवर्तन होते है। परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसी अनुपात में बढ़ाती है।(The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity; every increase of quantity lowers the value and every dimunition raising it in a ratio exactly equivalent)"*

**एफ. डब्लू. टॉसिंग** (F.W. Taussig) के अनुसार, यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाय तो अन्य बातों के समान रहने पर कीमते भी पहले की तुलना में दुगुनी हो जायेगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना में आधा ही जायेगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाय तो अन्य बातें समान रहने पर कीमते भी पहले की तुलना में आधी हो जायेगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना मे दुगुना हो जायेगा।

### 4.6.1 फिशर का लेन–देन समीकरण (Fisher's Transaction Equation)

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के नकद लेन–देन दृष्टिकोण की व्याख्या अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री इरविंग फिशर द्वारा की गयी है। मुद्रा को वस्तुओं और सेवाओं के लेन–देन में सर्वमान्य भुगतान के रूप में देखने के कारण इस दृष्टिकोण को ***नकद लेन–देन दृष्टिकोण*** कहा गया है।

फिशर ने मुद्रा को वस्तु के रूप में माना है। अतः मुद्रा का मूल्य भी वस्तु के मूल्य की भांति ही निर्धारित होता है। अतः इस विचित्र वस्तु के रूप में मुद्रा का मूल्य भी उसकी मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

मुद्रा की पूर्ति से तात्पर्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल मात्रा के प्रचलन से है जबकि मुद्रा के मांग से तात्पर्य उन समस्त वस्तुओं व सेवाओं की उस मात्रा से है, जो किसी समय क्रय–विक्रय के लिये प्रस्तावित की जाती है। अतः वस्तुएं तथा मुद्रा की मात्रा एक रूप में एक दूसरे की पूर्ति व मांग है।

**मुद्रा की पूर्ति** (Supply of Money)– फिशर के अनुसार मुद्रा की पूर्ति का अर्थ अर्थव्यवस्था में किसी समय मुद्रा की उस कुल मात्रा से है जो वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिये प्रचलन में विद्यमान है। मुद्रा की पूर्ति में मुद्रा की कुल मात्रा के साथ उसका प्रचलन वेग विद्यमान है। मुद्रा की पूर्ति में मुद्रा की कुल मात्रा के साथ उसके प्रचलन वेग (Velocity of Circulation) को भी सम्मिलित किया जाता है।

**मुद्रा का प्रचलन वेग** (Velocity of Money)– मुद्रा के प्रचलन वेग से तात्पर्य है कि एक निश्चित समयवधि (सामान्य रूप में एक वर्ष) में वस्तुओं वे सेवाओं को खरीदने में औसतन मुद्रा की किसी निश्चित मात्रा का कितनी बार प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि एक 10 रूपये का नोट एक वर्ष में 20 बार प्रयोग किया गया तो उसकी चलन वेग 200 होगा। चूँकि आर्थिक क्रियाओं के चक्रीय प्रवाह (Circular Flow) में मुद्रा की कोई एक निश्चित इकाई एक से अधिक बार प्रयुक्त होती है तो उस मुद्रा का चलन वेग होना स्वाभाविक है। फिशर के अनुसार मुद्रा के प्रचलन वेग के संबंध में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यह मुद्रा की विभिन्न इकाइयों के अलग–अलग प्रचलन वेग को न दिखाकर अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण मुद्रा के औसत प्रचलन वेग को दिखाती है। अतः

मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा की मात्रा * मुद्रा का चलन वेग

$$\boldsymbol{MS = M * V}$$

जहां

MS= मुद्रा की पूर्ति,

M = मुद्रा की मात्रा,

V= मुद्रा का चलन वेग

**मुद्रा की मांग** (Demand for Money)– मुद्रा की मांग से तात्पर्य उस मात्रा से है, जो बाजार में विक्रय हेतु प्रस्तावित की जाती है। मुद्रा की मांग अर्थव्यवस्था की कुल व्यापारिक वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा के रूप में दिखायी जा सकती है। अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण वस्तुओं ओर सेवाओं के मूल्य को ज्ञात करके मुद्रा की मांग का सही माप निकाला जा सकता है। यदि कुल लेन–देन की मात्रा के लिये J का उपयोग किया जाए तथा इनकी औसत कीमत के लिये P का तो किसी समयावधि में मुद्रा की मांग को निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है–

मुद्रा की मांग = सामान्य कीमत स्तर * वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग

$$\boldsymbol{MD = P * T}$$

जहां

MD= मुद्रा की मांग

P = सामान्य कीमत स्तर,

T =वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग,

PT वस्तुओं एवं सेवाओं के कुल लेन–देन से विक्रेता की कुल मौद्रिक प्राप्ति को भी दर्शाता है।

**फिशर का विनिमय समीकरण** (Fisher's Equation of Exchange)

मुद्रा के मूल्य के निर्धारण के लिये फिशर ने मुद्रा की पूर्ति तथा मांग से सम्बन्धित विनिमय का समीकरण प्रस्तुत किया। समीकरण यह दिखाता है कि मुद्रा का मूल्य वहां निर्धारित होता है जहां उसकी पूर्ति उसकी मांग के बराबर होती है।

इस प्रकार मुद्रा की पूति = मुद्रा की मात्रा

$$\boldsymbol{MV = PT}$$

M = प्रचलन में मुद्रा की मात्रा

V = मुद्रा का चलन वेग

P = सामान्य कीमत स्तर

T = वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा या व्यापार की कुल मात्रा

**फिशर का संशोधित समीकरण** (Fisher's Equation of Exchange) –उपर्युक्त समीकरण की एक अपूर्णता है कि इसमें साख मुद्रा को सम्मिलित नहीं किया गया। वर्तमान में साख मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखते है। अतः फिशर ने अपने समीकरण को संशोधित करते हुये निम्नलिखित समीकरण प्रस्तुत किया।

$$\boldsymbol{MV + M^1V^1 = PT}$$

$$\boldsymbol{P = \frac{MV + M^1V^1}{T}}$$

$M^1$ = साख मुद्रा की मात्रा

$V^1$ = साख मुद्रा का चलन वेग

मुद्रा मूल्य का उपर्युक्त समीकरण वास्तव में एक स्वयंसिद्ध (Axiom) है जो प्रत्येक दशाओ में लागू होता है।

## 4.6.2 फिशर समीकरण की मान्यताएँ (Assumptions of Fisher's Equation)

फिशर के परिमाण सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार से है–

1. व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की मांग में कोई परिवर्तन न हो।
2. वस्तु विनिमय द्वारा सम्पन्न होने वाले सौदो में कोई परिवर्तन न हो।
3. साख मुद्रा तथा चलन मुद्रा के अनुपात में कोई परिवर्तन न हो।

4. मुद्रा की चलन गति में कोई परिवर्तन न हो।
5. मूल्य स्तर (P) निष्क्रिय रहता है। अर्थात M, $M^1$, T को प्रभावित करने की अपेक्षा स्वयं उनके द्वारा प्रभावित होता है।
6. मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर केबल और केवल P में परिवर्तन होता है।

## 4.6.3 समीकरण की व्याख्या (Explanation of the Equation)

फिशर द्वारा दिया गया संशोधित समीकरण $MV + M^1V^1 = PT$ मुद्रा के मूल्य निर्धारण पर प्रकाश डालता है। इस समीकरण में V, $V^1$ और T को स्थिर मान लिया गया है। स्वयं फिशर के ही शब्दों में अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया गया कार्य यथास्थिर रहता है। वस्तु विनिमय तथा मुद्रा विनिमय के अनुपात में कोई परिवर्तन नही होता और वस्तुओं की चलन गति भी परिवर्तित नही होती।

फिशर द्वारा दी गयी मान्यताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि

$$M = P$$

$$\Delta M \rightarrow P$$

$$\Delta M = \Delta P$$

अतः यह स्पष्ट है कि P में होने वाले परिवर्तन केवल M परिवर्तनों के कारण ही होते है। P एवं M में सीधा एवं आनुपातिक संबंध है।

$$\boldsymbol{2MV = 2PT}$$

अर्थात् यदि मुद्रा की पूर्ति से बढ़कर दुगुनी होते हुये 2MV हो जाती है तो मुद्रा की मांग (PT) भी दुगुनी होकर 2PT हो जायेगी। चूंकि (वस्तुओं एवं सेवाओ का मात्रा) स्थिर है, अतः मुद्रा की मांग बढ़ने का एक मात्र अर्थ है कि मूल्य स्तर बढ़ जायेगे।

M तथा P में सीधा संबंध है जबकि मुद्रा के मूल्य में विपरीत संबंध है। तात्पर्य कि मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर कीमत स्तर (P) बढ़ जाता है जबकि मुद्रा का मूल्य घट जाता है। मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक संबंध है (Direct and Proportional) जबकि मुद्रा के मुल्य में ठीक उसी रूप में विपरीत संबंध है। यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाय तो कीमत स्तर भी दुगुना हो जायेगा और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायेगा और विलोमशः। वस्तुओ ओर सेवाओ (T) की मात्रा बढ़ने से मूल्य स्तर गिर जाता है और मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। T के कम होने पर ठीक उसका उलटा प्रभाव होगा।गैर मौद्रिक शक्तियों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन निष्कर्षो को एक रेखाचित्र के माध्यम से भी प्रदर्शित किया जा सकता है मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर के बीच आनुपातिकता का नियम दिखाया जा सकता है।

चित्र 4.1 में OX अक्ष पर मुद्रा का मात्रा एवं OY अक्ष पर कीमत स्तर लिया गया है। मुद्रा की मात्रा $M_1$ होने पर कीमत स्तर $OP_1$ है। मुद्रा की मात्र में

वृद्धि $OM_2$ होने पर कीमत स्तर भी उतना ही बढ़कर $OP_2$ हो जाता ळें यह वृद्धि पूर्णतः आनुपाति है। इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा $OM_1$ से घटर उसी अनुपात में OP हो जाती है। A, B, C बिन्दुओं कीमत देने पर हमे OL रेखा प्राप्त होती है जो मुद्रा की मात्रा एवं कीमत के पारस्परिक संबंध को दर्शाती हैं

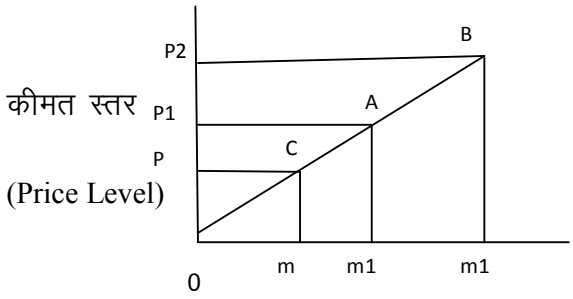


मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money)

चित्र 4.1

## 4.6.4 फिशर सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticism of Fisher's Theory)

**केन्ज** एवं **केन्जोन्तर** अर्थशास्त्रियों जैसे **क्राउथर**, **हॉम** आदि अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से आलोचनाएँ की–

1. **एक समानार्थक धारणा** (A Tautological Concept) केन्ज के शब्दों में, *"मुद्रा का परिमाण सिद्धांत एक स्वयंसिद्ध सत्य है, जो सभी परिस्थितियों में लागू होता है, यद्यपि इसका कोई महत्व नही है।"* यह सिंद्धान्त ऐसी कोई बात नही बताता जिसे लोग पहले से नहीं जानते। परन्तु यह सिद्धान्त हमें यह नहीं बताता कि मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन की वास्तविक प्रक्रिया क्या है तथा इन तत्वों में से कौन सा तत्व कारण है और कौन सा परिणाम? यह तो केवल एक समानता ही बताता है।
2. **अवास्तविक मान्यताएँ** (Unrealistic Assumptions)– यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कीमत स्तर पर केवल मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन का ही प्रभाव पड़ता है। V, $V^1$ एवं T जैसे तत्वों को समीकरण में स्थिर मान लिया गया है। कीमत स्तर पर उसका कोई प्रभाव न पड़ने की मान्यता अवास्तविक लगती है। वास्तविक जीवन में ये तत्व कभी नही रहते। और इनका कीमत स्तर में भी परिवर्तन होता है।
3. **एक पक्षीय सिद्धान्त** (One sided Theory)– इस सिद्धान्त में मुद्रा की मांग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल दिया गया है। फिशर ने मुद्रा की मांग को स्थिर मान लिया है। उसके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में

परिवर्तन करने से कीमत स्तर में परिवर्तन हो जाता है। अतः यह एकपक्षीय सिद्धान्त है।

4. **विनिमय का माध्यम** (Medium of exchange) इस सिद्धान्त ने मुद्रा के केवल विनिमय के माध्यम कार्य को ही महत्व दिया गया है। मुद्रा के मूल्य संचय (Store of value) कार्य की अवहेलना की गयी है।
5. **चर स्वतन्त्र नही है** (Variables not independent)– फिशर ने अपने सिद्धान्त में यह माना है कि V, $V^1$, T, M, $M^1$ स्वतंन्त्र चर है अर्थात् एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
6. **कीमत स्तर एक निष्क्रिय तत्व नहीं है** (Price level not a passive element)– कीमत स्तर निष्क्रिय तत्व नही वरन् एक सक्रिय तत्व है। कीमतों मे होने वाली वृद्धि से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है क्योंकि जब कीमत स्तर में परिवर्तन होता है तो इसका प्रभाव व्यापार की मात्रा (T) पर पड़ता है। कीमतों में वृद्धि लाभों में वृद्धि लाती हैं परिणामस्वरूप व्यापार एवं मुद्रा की मात्रा दोनों में वृद्धि होती है।
7. **व्यापार चक्रो की व्याख्या करने में असफल** (Fails to explain trade cycles)– **क्राउथर** (Crowther) के अनुसार *''परिमाण सिद्धान्त अधिक से अधिक व्यापार चक्रो के कारणों का अपूर्ण मार्गदर्शक है। (The quantity theory is at best an imperfect guide to the cause of trade cycle)'* यह सिद्धान्त यह बताने में असफल है कि तेजी के दिनों में बिना मुद्रा की मात्रा में वृद्धि किये कीमत क्यों बढ़ जाती है और मन्दी के दिनों में मुद्रा की चलन गति को स्थिर मान लेता है। पर वास्तव में मुद्रा की चलन गति मे भी परिवर्तन होता है।
8. **केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति मे ही लागू** (Applicable only in case of full employment)– यह सिद्धांत केवल पूर्ण रोजगार मे ही लागू होता है। किन्तु केन्ज के अनुसार, अर्थव्यवस्था में अपूर्ण रोजगार की भी स्थिति पायी जा सकती है। ऐसी दशा में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने पर कीमतों में नही, वरन् उत्पादन में वृद्धि होती है।
9. **ब्याज की दर के प्रभाव की अवहेलना** (It ignores the effect of rate interest)– यह सिद्धान्त कीमतों पर ब्याज की दर के प्रभाव को स्वीकार नही करता। केन्ज, हेयक, हाट्रे के अनुसार यह धारणा गलत है कि मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर में सीधा प्रत्यक्ष संबंध है। वास्तव में मुद्रा की मात्रा में होने वाला परिवर्तन ब्याज दर को प्रभावित करता है तथा ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन कीमत स्तर में परिवर्तन उत्पन्न करता है। अतः मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में प्रत्यक्ष नही वरन् परोक्ष संबंध है।

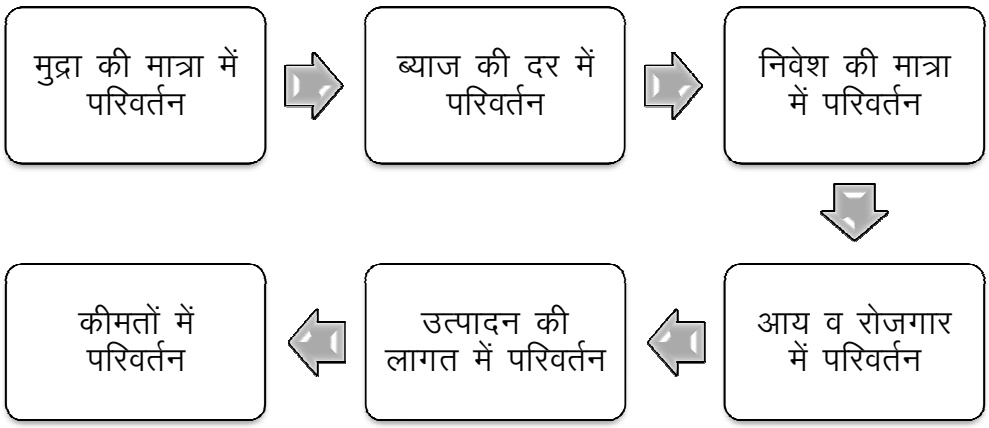


**श्रीमती रॉबिन्सन** के अनुसार, *''मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो का बहुत अधिक महत्व है। उनका महत्व ब्याज की दर पर उनके पड़ने वाले प्रभाव पर निर्भर करता है। किन्तु जो मुद्रा का सिद्धान्त ब्याज की दर का वर्णन नही करता मुद्रा का सिद्धान्त कहलाने के योग्य नही है।''*

10. **चलन गति को मापना कठिन है** (Difficult to Measure velocity)– फिशर के अनुसार मुद्रा की चलन गति है मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय में कितने हाथो में प्रयुक्त होती से है। परन्तु मुद्रा की चलन गति को मापना अत्यन्त जटिल है। इसकी गणना करना सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त मुद्रा की कुल मात्रा जानने के लिये निजी कोषों में संचित मुद्रा को जानना आवश्यक है। जहां काला धन भी अर्थव्यवस्था में विद्यमान है यह समस्या और कठिन हो जाती है। अल्पकाल में तो चलन गति स्थिर मानी जा सकती है, परन्तु दीर्घकाल में इसमें परिवर्तन अवश्य होता है।
11. **समीकरण में अमौद्रिक तत्वों का समावेश न होना–** (Does not included the non mondeary factors)– आलोचको के अनुसार, कीमत स्तर को केवल मुद्रा की मात्रा ही प्रभावित नही करती वरन् अनेक अमौद्रिक तत्व जैसे राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। इन तत्वों की इस सिद्धान्त में अवहेलना की गयी है।

    उपरोक्त आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फिशर का समीकरण वास्तविक रूप से कई स्थानों पर कभी मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर के बीच सीधा संबंध को स्थापित किया और मुद्रा के मूल्य एवं कीमत स्तर के बीच विपरीत संबंध को स्थापित किया। मुद्रा के कार्य में विनिमय के माध्यम को लेते हुये परम्परावादी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

## 4.7 क्रैम्बिज समीकरण या नकद शेष समीकरण (Cambridge Equation or Cash Balance Equation)

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, इंग्लैड के कई अर्थशास्त्रियों जैसे **मार्शल**, **पी. राब्र्टसन**, **कीन्स** ने मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त के नकद शेष समीकरण का प्रतिपादन किया। इसे कैम्ब्रिज समीकरण भी कहते है।

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने फिशर के सिद्धान्त में आवश्यक सुधार करके उसे अधिक मान्य बनाया और प्राप्त निष्कर्षो को अधिक दृढ़ता से सिद्ध किया। परम्परावादी सिद्धान्त की **''आनुपातिकता नियम''** को मानते हुये वे अपने विश्लेषण से इस बात को सिद्ध भी करते है कि मुद्रा की मात्रा दुगुनी करने पर उसका मूल्य आधा रह जाता है कीमत स्तर दुगुना हो जाता है।

### 4.7.1 कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो द्वारा दो मौलिक परिवर्तन (Two basic changes made by Cambridge Economists)

1. मुद्रा की पूर्ति को नकद शेष रूप में प्रदर्शित किया। अतः मुद्रा को किसी एक समयावधि के ऊपर (over a period of time) न दिखाकर उसे एक निश्चित समय (At a point of time)पर दिखाया। MV के स्थान पर केवल नकद शेष के रूष के रूप में मुद्रा की मात्रा के M लिया पर दिखाया। MV के स्थान पर केवल नकद शेष के रूप में मुद्रा की मात्रा का M लिया।

मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा मुद्रा की मांग को अधिक महत्व दिया। जबकि फिशर के सिद्धान्त में मुद्रा की मांग (PT) को मुद्रा के मूल्य निर्धारण मे अधिक महत्वपूर्ण दिखाया गया है।

अतः इस सिद्धान्त को मुद्रा की मांग का सिद्धान्त (Demand Theory of Money) भी कहा जाता है।

| **मुद्रा की पूर्ति (M)** | **मुद्रा की मांग (K)** |
|---|---|
| ↓ | ↓ |
| *नोट + सिक्के + मांग जमाएं* | *नकद शेष का जोड़* |
| (एक निश्चित समय बिन्दु पर जनता के पास में उपलब्ध नोट, सिक्को तथा बैंक में जमाए) | (मुद्रा को नकद शेष के रूप रखने की लोगों की इच्छा) |

**नकद शेष क्या है**– नकद शेष वार्षिक वास्तविक आय का वह अनुपात है जिसे मुद्रा के विनिमय के माध्यम कार्य को न लेकर मूल्य के संचय को आधार लिया गया है। मुद्रा की मांग या नकद शेष में वृद्धि होने पर कीमत घटेंगी क्योंकि लोग अपनी आय का बड़ा भाग नकद रूप में अपने पास रखना चाहेंगे तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये उनकी मांग कम होगी। ओर विलोमशः।

### 4.7.2 नकद शेष समीकरण के विभिन्न रूपांतर (Different Variants of Cash Balance Equation)

नकद शेष समीकरण के विभिन्न रूप है। इनमे से महत्वपूर्ण की व्याख्या निम्नलिखित है–

❖ **मॉर्शल का समीकरण** (Marshall's Equation)–

$$M = KPY$$

M = बहिजात रूप से निर्धारित मुद्रा की पूर्ति

K = आय का वह भाग जिसे लोग अपने पास नकद रूप मे रखते है।

Y = मौद्रिक आय।

P = सामान्य कीमत स्तर

इस प्रकार–

$$\boldsymbol{P = \frac{M}{KY}}$$

अथवा

$$\mathbf{Vm = \frac{KY}{M}}$$

(Vm = मुद्रा का मूल्य)

❖ **पीगू का समीकरण** (Pigou's Equation)–

$$\boldsymbol{P = \frac{KR}{M}}$$

P= मुद्रा की क्रय शक्ति अथवा मुद्रा का मूल्य

R= कुल वास्तविक आय

K= वास्तविक आय का वह भाग जिसे लोग नकद रूप में रखना चाहते है।

बाद में पीगू ने बैंक शेषों तथा जमाओं को मुद्रा की मांग में सम्मिलित करते हुये निम्न समीकरण बनाया–

$$\boldsymbol{P = \frac{KR}{M\{C + L\,(1 - C)\}}}$$

यहाँ, C = लोगों द्वारा बैंक मुद्रा एवं प्रतीक सिक्कों के रूप में रखी हुयी कुल वास्तविक आय का अनुपात है।

(1-C) = बैंक नोटों का बैंक शेषों से अनुपात

वास्तविक वैध मुद्रा का वह अनुपात है जिसे बैंक अपने ग्राहकों द्वारा धारित नोटों तथा कोषों के बदले में रखते हैं।

❖ **रॉबर्टसन का समीकरण** (Robertson's Equation)–

रार्बटसन के अनुसार,

$$\boldsymbol{M = PKT}$$

या

$$P = \frac{M}{KT}$$

यहाँ

P = कीमत स्तर

M = मुद्रा की पूर्ति

T = समय के एक निश्चित बिन्दु पर वस्तुओं तथा सेवाओ की खरीदी गयी मात्रा

K = T का वह भाग जिसे लोग नकद रूप में रखना चाहते है।

- **केन्ज का समीकरण** (Keynes' Equation)–

केन्ज ने अपनी पुस्तक "A Tract on Monetary Reforms (1923)" में अपना वास्तविक शेष समीकरण (Real Balance Equation) दिया। जो कैम्ब्रिज समीकरण का संशोधित रूप है। केन्स के अनुसार

$$n = PK$$

K = नकदी के रूप में उपभोग इकाईयों की संख्या

n = प्रचलन में कुल करेंसी

P = उपभोग इकाई की कीमत

बाद में केन्ज ने अपने वास्तविक शेष समीकरण में विस्तार किया

$$n = P(K + rk^1)$$

जहां

r = बैंको के नकद कोष का इनकी जमाओं से अनुपात

$K^1$ = उपभोग इकाइयों की संख्या जिन्हे समाज बैंक जमाओं के रूप में रखना चाहता है।

इस समीकरण को P के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है।

$$P = \frac{n}{k} + rk^1$$

केन्ज के अनुसार यदि K, $K^1$ तथा r स्थितंक हो तो P ठीक उसी अनुपात मे परिवर्तित होगा जिस अनुपात में n में परिवर्तन होगा।

केन्ज का समीकरण कैम्ब्रिज समीकरण के समान है। है क्योंकि इसके परिवर्तित रूप $P = n/k+rk^1$ तथा $P = M/KR$ में कोई अंतर नही है।

## 4.8 फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरण की तुलना (Comparison of Fisher's equation and Cambridge equation)

फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरणों के विश्लेषण के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दोनों ही–नकदी लेने देन एवं नकदी शेष समीकरणों में कोई आधारभूत या मौलिक अंतर नही है। मात्र विश्लेषण विधि मे ही अंतर है। इस पर भी कैम्ब्रिज समीकरण को फिशर समीकरण से अधिक श्रेष्ठ एवं मान्यता प्राप्त दिया गया है।

व्यवहार में V एवं K में एक विपरीत संबंध पाया जाता है–

$$\boldsymbol{V = \frac{1}{K}}$$

$$\boldsymbol{K = \frac{1}{V}}$$

Mv = PT (फिशर समीकरण)

जहां

PT = राष्ट्रीय आय (Y) है।

अतः

$$\boldsymbol{PT = Y}$$

एवं

$$\boldsymbol{V = \frac{1}{K}}$$

अतः

$$\boldsymbol{K = \frac{M}{PT} = \frac{1M}{V}}$$

अब यदि फिशर के समीकरण में V के स्थान पर 1/ K रखे तो हमे कैम्ब्रिज समीकरण प्राप्त हो जाता है–

$$\boldsymbol{MV = PT}$$

$$\boldsymbol{M * \frac{1}{K} = PT, \qquad \frac{M}{K} = PT}$$

M = PKT ( कैम्ब्रिज का रॉबर्टसन समीकरण)

कैम्ब्रिज के K को स्थान पर 1/V रखे तो फिशर समीकरण प्राप्त हो जाता है।

$$\boldsymbol{M = PKT}$$

$$\boldsymbol{M = \frac{PT}{V}}$$

$$\boldsymbol{MV = PT}$$ (फिशर समीकरण)

फिशर का MV तथा कैम्ब्रिज का M समान है। दोनों समीकरणो में मुद्रा की मात्रा को मूल्य निर्धारण के लिये एक महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

1. जहाँ मुद्रा को फिशर ने बहाव (Flow) के रूप में अभिव्यक्त किया है वहीं कैम्ब्रिज ने मुद्रा के संचित (Stock) रूप का अधिक महत्व दिया।
2. जहाँ फिशर ने मुद्रा की पूर्ति का महत्व दिया है वही कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की भाग को अधिक महत्व दिया गया है।
3. फिशर ने समय की एक अवधि की ओर संकेत किया तो कैम्ब्रिज ने समय की एक निश्चित बिन्दु की बात कही।
4. फिशर ने मुद्रा के चलन गति (V) पर अधिक बल दिया वो कैम्ब्रिज ने नकद शेषों (K) पर जो दिया।
5. फिशर की व्याख्या दीर्घकालीन है तो कैम्ब्रिज की अल्पकालीन व्याख्या है।
6. जहाँ फिशर के समीकरण में T के अंतर्गत सभी प्रकार के लेनदेन सम्मिलित किया जाते है वहीं कैम्ब्रिज समीकरण में R का संबंध वास्तविक आय से है। P का अभिप्राय फिशर समीकरण मे सामान्य कीमत स्तर से है तो कैम्ब्रिज समीकरण मे इसका संबंध अंतिम उपभोग की वस्तुओं तक सीमित है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दोनों समीकरणों मे भिन्नता भी विद्यमान है और कैम्ब्रिज समीकरण को एक नवीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिससे इसकी श्रेष्ठता सर्वोपरि है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दोनों समीकरणों मे भिन्नता भी विद्यमान है और कैम्ब्रिज समीकरण को एक नवीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिससे इसकी श्रेष्ठता सर्वोपरि है।

## 4.9 कैम्ब्रिज सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms of Cambridge Equation)

1. **अवास्तविक मान्यताएँ** (Unrealistic Assumption)– इस सिद्धान्त में कुछ तत्वों जैसे K एवं T को स्थिर मान लिया गया है। वास्तविक जीवन में K, T, R आदि कोई भी तत्व स्थिर नहीं है।
2. **केवल उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित** (Only related to consumption goods)– यह समीकरण केवल उपभोग वस्तुओं से संबंधित है मुद्रा की मांग पर ध्यान देता है, जबकि वास्तविक जीवन में मुद्रा की मांग अनेक कारणों से की जाती है।
3. **अपूर्ण सिद्धान्त केवल चालू खातों को षामिल** (Includes only Current Account)– बैंको के चालू खातो को ही मुद्रा की मांग माना गया है। यह आय का एक भाग होती है। परन्तु प्रायः लोग बैंक से ऋण लेते है जिनकी रकम खाते में जमा होती है। परन्तु इसका आय से कोई सीधा संबंध नहीं है। अतः इन्हें नकद शेषो में सम्मिलित किया जाय अथवा नही, यह भी प्रश्न है।
4. **चक्रीय तर्क** (Vicious Cycle)– इस सिद्धान्त में एक ओर कीमत स्तर (P) नकद शेष (K) द्वारा निर्धारित होती है परन्तु वही दूसरी ओर, यही कीमत स्तर नकद शेष को निर्धारित भी करती है। यह एक दोष है। क्योंकि यह कारण परिणाम संबंध सझाने में असफल रहा।
5. **ब्याज दर के प्रभाव की अवहेलना** (Ignoures the effects of role of Interest)– यह मान्यता गलत है कि मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर में प्रत्यक्ष संबंध पाया जाता है। वास्तव में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर पहले ब्याज की दर में परिवर्तन होता है जिसके कारण निवेश की मात्रा परिवर्तित होती है और फिर

उत्पादन की लागत में परिवर्तन होता है। उत्पादन की लागतो में परिवर्तन से कीमतो में परिवर्तन होता है।

6. **वास्तविक तत्वों के प्रभावो की अवहेलना** (Ignoures the influence of real Factors)– इस सिद्धान्त के अनुसार, मुद्रा की मांग से परिवर्तन के फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है। ऐसे में कई वास्तविक तत्व जैसे बचत, निवेश, आय आदि के प्रभाव को महत्व नही दिया गया जो सही नही है।
7. **मूल्य सिद्धान्त तथा मुद्रा सिद्धान्त मे समन्वय का अभाव** (Lack integration between the theory of Value and Theory of Money)– **पेटिनकिन** के अनुसार नकद शेष समीकरण मूल्य सिद्धान्त एवं मुद्रा सिद्धान्त का समन्वय नही करता। डान पेटिनकिन के अनुसार उनके द्वारा दिया गया वास्तविक शेष प्रभाव दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करता है। कीमत स्तर में परिवर्तन होने के कारण वास्तविक आय में परिवर्तन होता है। जिसका प्रभाव वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति पर पड़ता है। और परिणामतः सापेक्ष कीमतों को भी प्रभावित करता है। इस सिद्धान्त में इसकी अवहेलना करता है।

## 4.10 सारांश (Summary)

मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति (Purchasing power) के द्वारा निर्धारित होगा। अर्थात मुद्रा की इकाई के बदले में कितनी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय किया जा सकता है, यही मुद्रा की क्रयशक्ति है और यही मुद्रा का मूल्य है। मुद्रा के मूल्य के संकुचित अर्थ से अभिप्राय मुद्रा का आन्तरिक मूल्य ही है। परन्तु विस्तृत अर्थ में मुद्रा के मूल्य का तात्पर्य मुद्रा के इस आन्तरिक मूल्य के साथ–साथ उसके बाह्य मूल्य (external value) से भी है।मुद्रा के मूल्य के दो निर्धारक तत्व है 1. मुद्रा की मांग 2. मुद्रा की पूर्ति।

मुद्रा के मूल्य निर्धारण को लेकर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किये। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बहुत पुराना है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical economists) ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को स्पष्ट रूप प्रदान किया। उन्होंने यह बातया कि मुद्रा की मात्रा मूल्य के बीच विपरीत सम्बन्ध है साथ ही यह संबंध समानुपातिक भी है। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के नकद लेन–देन दृष्टिकोण की व्याख्या अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **इरविंग फिशर** द्वारा की गयी है। मुद्रा को वस्तुओं और सेवाओं के लेन–देन में सर्वमान्य भुगतान के रूप में देखने के कारण इस दृष्टिकोण को ***नकद लेन–देन दृष्टिकोण*** कहा गया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों में फिशर ने इस सिद्धान्त को एक समीकरण का रूप प्रदान कर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के मत का समर्थन किया। इसके बाद पीगू और मिल्टन फ्रीडमैन ने इस सिद्धान्त की नवीन रूप में व्याख्या की। कैंम्ब्रिज विश्वविद्यालय, इंग्लैड के कई अर्थशास्त्रियों जैसे **मार्शल**, **पी. राब्र्टसन**, **केन्ज** ने मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त के नकद शेष समीकरण का प्रतिपादन किया। इसे कैम्ब्रिज समीकरण भी कहते है।

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने फिशर के सिद्धान्त में आवश्यक सुधार करके उसे अधिक मान्य बनाया और प्राप्त निष्कर्षो को अधिक दृढ़ता से सिद्ध किया। परम्परावादी सिद्धान्त की **''आनुपातिकता नियम''** को मानते हुये वे अपने विश्लेषण से इस बात को सिद्ध भी करते है कि मुद्रा की मात्रा दुगुनी करने पर उसका मूल्य आधा रह जाता है कीमत स्तर दुगुना हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि दोनों समीकरणों मे भिन्नता भी विद्यमान है

और कैम्ब्रिज समीकरण को एक नवीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिससे इसकी श्रेष्ठता सर्वोपरि है।

## 4.11 शब्दावली

- **मुद्रा का चलन वेग** – मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय में कितने हाथों में प्रयुक्त होती है।
- **मुद्रा का मूल्य** – मुद्रा की क्रयशक्ति
- **मुद्रा की पूर्ति** – मुद्रा की कुल मात्रा एवं मुद्रा के चलन वेग का गुणनफल
- **स्वयं सिद्ध** – जो प्रत्येक दशा में लागू होता है।
- **पूर्ण रोजगार** – ऐसी दशा उत्पादन की मात्रा बढ़ाना सम्भव नही

## 4.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

### रिक्त स्थानों की पूर्ति करो–

1. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में कीमत स्तर एक ..... तत्व है।
2. V एवं K में ..... संबंध है।
3. फिशर का समीकरण व्यापार चक्र की व्याख्या करने में ..... है।
4. कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की ..... को महत्व देता है।
5. फिशर मुद्रा के ..... कार्य को मानते थे जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त मुद्रा के ..... .....कार्य को मानते थे।

उत्तर : 1. निष्क्रिय 2. विपरीत 3. असमर्थ 4. मांग 5. विनिमय, संचय

## 4.13 संदर्भ सहित सूची


1. डॉ. जे.सी. पन्त एवं जे.पी. मिश्रा– अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. डॉ. एस.एन. गुप्ता– मुद्रा बैंकिग एवं राजस्व, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. डॉ. टी.टी. सेठी– मुद्रा बैकिंग एवं अन्राष्ट्रीय व्यापार लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. डॉ. एम.एल. निगम– समष्टि अर्थशास्त्र, वृदा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
5. डॉ. एच.एल. आहूजा– उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त, एस.चन्द एण्ड, नई दिल्ली।


## 4.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री


- Seth, M.L. (2010) : 'Money Banking and International Trade', Published by – Laxmi narayan Agrawal, Agra.
- Vaish, M.C. (1989) : Money Banking and International Trade, Published By – Wiley Eastern Limited.
- Mithani, D.M. (2004), "Macro Economics", Published by Himalaya Publishing House.
- Gupta, S.B. (1988), 'Monetary Economics' – Institutions, Theory and Policy, Published by S. Chand & Co. Pvt. Ltd.
- Shapirio, Edward (1989) 'Macro Economic Analysis' Published by Galgotia Publications Pvt. Ltd.

- सिन्हा, वी0सी0 (2009) 'अर्थशास्त्र', बी0ए0 द्वितीय वर्ष, एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
- लाल, एस0 एन0 (2004), मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।


## 4.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये?
2. मुद्रा संबंधी फिशर समीकरण तथा कैम्ब्रिज समीकरण में क्या मुख्य अंतर है? आप इनमें से किसे श्रेष्ठ मानते है?
3. मुद्रा के मूल्य का क्या अर्थ है? मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन किस प्रकार मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करता है?
4. फिशर के सिद्धान्त की मान्यताओं सहित आलोचना कीजिये।

# इकाई–5 मुद्रा के मूल्य निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्त (फ्रीडमैन)

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 मिल्टन फ्रीडमैन का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
5.4 आधुनिक परिमाण सिद्धान्त की आलोचना
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

## 5.1 प्रस्तावना (Introduction)

शिकागो के अर्थशास्त्री **मिल्टन फ्रीडमैन** को 1976 में, मौद्रिक अर्थशास्त्र, विशेष रूप से मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त, में विशेष योगदान के लिए, नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। 1936 में कींस द्वारा "The General Theory of Employment, Interest and Money" में परम्परारगत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कटु आलोचना करने के बाद उसकी सर्वमान्यता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा हो गया। वर्तमान समय यदि परिमाण सिद्धान्त अपने मान सम्मान को वापस पा सका तो इसका श्रेय मिल्टन फ्रीडमैन को ही जाता है।

इस इकाई में मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा दिए गये मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है। जिसे हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आधुनिक सिद्धान्त के नाम से भी जानते है।

## 5.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपमें मुद्रा परिमाण के आधुनिक सिद्धान्त की समझ विकसित करना है। साथ ही साथ आपको यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि परिमाण सिद्धान्त को पुनः प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी। आप परम्परागत एवं आधुनिक सिद्धान्त के बीच तुलना करने योग्य हो सकेंगे।

## 5.3 मिल्टन फ्रीडमैन का मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (Milton Friedmen's Quantity Theory of Money)

परम्परागत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की मुख्य भूमिका विनिमय के माध्यम के रूप में है। फिशर के बाद मुद्रा के संचय कार्य पर अधिक जोर दिया गया। फ्रीडमैन ने मुद्रा को सम्पत्ति के रूप में परिभाषित किया। अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति अनेक रूपों में पायी जाती है और प्रत्येक रूप में वह कुछ न कुछ अंश तक संचय के उद्देश्य को पूरा करती है। वास्तव में परम्परागत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की मांग का सिद्धान्त है जबकि परिमाण सिद्धान्त का समीकरण, मांग के सामान्य सिद्धान्त के विस्तार के रूप में है। यह उत्पादन, मौद्रिक आय तथा कीमत स्तर का सिद्धान्त नहीं है। इसके निर्धारण हेतु मुद्रा की मांग में कुछ अतिरिक्त चरों को सम्मिलित करना पड़ेगा।

फ्रीडमैन के अनुसार सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ मिलकर सम्पत्ति सूची (Asset Portfolio) का निर्माण करती है जिसमें मुद्रा भी शामिल है। यही कारण है कि एक सम्पत्ति की मांग दूसरी सम्पत्ति की मांग पर भी निर्भर करता है। अतः कहा जा सकता है कि व्यवहार में बहु सम्पत्ति बाजार मॉडल (Multi-Asets Market Model) पाया जाता है, जिनमें विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों का व्यापार होता है। इसी रास्ते का सहारा लेकर फ्रीडमैन ने अपनी पुस्तक "Studies in Quantiy Theory of Money" में सामान्य कीमत सिद्धान्त तथा मुद्रा के सिद्धान्त को समन्वित करने का प्रयास किया।

सम्पत्ति की मांग का प्रतिपक्ष ही पूँजी की पूर्ति को व्यक्त करता है। दूसरी तरफ सम्पत्ति की पूर्ति का प्रतिपक्ष वित्तीय पूँजी की मांग को व्यक्त करता है। व्यय से अधिक आय बजटीय घाटे को व्यक्त करता है। यह घाटे का क्षेत्र पूँजी की मांग उत्पन्न करता है, दूसरे शब्दों सम्पत्ति की पूर्ति को। अतिरेक की स्थिति में इसका ठीक उल्टा होगा।

इसीलिए मुद्रा की मांग का सिद्धान्त, पूँजी सिद्धान्त का ही एक भाग बन जाता है।

**मुद्रा की मांग का आधार –**

मुद्रा की मांग सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा की जाती है। स्वामी अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित भाग, जिसे सम्पत्ति सूची (Asset Portfolio) कहा जाता है, अपने पास रखता है। उद्यमी विभिन्न प्रकार के उत्पादन साधनों की मांग उत्पन्न करते हैं। उद्यमियों का उत्पादन फलन, मुद्रा की मांग का निर्धारण करता है। उत्पादन के अन्य साधनों की मांग की भांति मुद्रा की मांग भी तकनीकी दशाओं पर निर्भर करती है। सम्पत्ति सूची में परिवर्तन विनिमय द्वारा होता है तथा उत्पादन साधनों की मांग में परिवर्तन उत्पादन के द्वारा होता है। मुद्रा की मांग इस परिवर्तन की प्रक्रिया को सहायता प्रदान करती है।

प्रत्येक अभिकर्ता का उद्देश्य अपने लाभ को अनुकूलतम करना होता है। सम्पत्ति का स्वामी अपनी 'सम्पत्ति सूची' को पुनः समायोजित करके उपयोगिता को अधिकतम करता है। उद्यमी अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करता है।

**वस्तुओं की मांग की व्याख्या –**

वस्तुओं की मांग की व्याख्या चुनाव के सिद्धान्त (Theory of Choice) के माध्यम से की जा सकती है। अनधिमान वक्र (Indifference Curve) का आकार एवं ढाल x तथा y दो वस्तुओं के बीच सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (व्यक्तिनिष्ठ) को व्यक्त करता है। चयनकर्ता अपनी वास्तविक आय (Real Income) तथा सापेक्षिक कीमतों को ध्यान में रखकर अपनी उपयोगिता को अधिकतम करता है। उपभोक्ता की उपयोगिता अधिकतम तब होती तब व्यक्तिनिष्ठ सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (तटस्थता वक्र का ढाल) तथा वस्तुनिष्ठ सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (कीमत रेखा का ढाल) दोनों बराबर होते हैं। यह बिन्दु तटस्थता वक्र तथा कीमत रेखा के स्पर्श बिन्दु से परिलक्षित होता है। चयन के सिद्धान्त के समान मुद्रा की मांग निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है–

(i) **सम्पत्ति की कुल मात्रा**– सम्पत्ति सूची के आकार को निर्धारित करता है। सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति को विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों में विभाजित करता है, जिसमें मुद्रा भी एक है। मान लिया सम्पत्ति का एक समूह $A_1, A_2, A_3.....A_n$ है। सम्पत्ति की कुल मात्रा बजट अवरोधक (Budget Constraint) का काम करती है।

(ii) **उपभोक्ता की भाँति** – सम्पत्ति का स्वामी भी मूल्य को दिया हुआ मान लेता है। सापेक्षिक कीमतें तथा विभिन्न सम्पत्तियों पर प्रतिफल की दर सम्पत्ति सूची की संरचना (Composition of Asset Portfolio) को निर्धारित करती है।

(iii) **सम्पत्ति के स्वामी** – सम्पत्ति के स्वामी का सम्पत्ति के लिए एक निश्ति अधिमान सूची होती है। सम्पत्ति के प्रति व्यक्तिनिष्ठ अधिमान सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारणों से प्रभावित होता है। यह मान लिया गया है कि सम्पत्ति के प्रति अधिमान का पैमान समय के साथ अपरिवर्तित रहता है। अल्पकाल में केवल 'बाह्य झटके' (Exogenous Shocks) ही अधिमान सूची को प्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति सूची का एक निश्चित आकार एवं संरचना होती है।

परन्तु चयन के सिद्धान्त को सम्पत्ति के सन्दर्भ में ज्यों का त्यों लागू नहीं किया जा सकता है क्योंकि सम्पत्ति के दो स्वरूप हैं–(a) स्टॉक तथा (b) प्रवाह। स्टॉक का

सम्बन्ध एक समय बिन्दु से है जबकि प्रवाह का सम्बन्ध समयावधि से है। प्रत्येक सम्पत्ति अपने धारक को एक निश्चित प्रवाह की गारण्टी प्रदान करती है। इसे ही प्रतिफल की दर या सम्पत्ति की उपज कहते हैं। प्रत्येक सम्पत्ति, उपज, आकार तथा गुणवत्ता के आधार पर एक–दूसरे से भिन्न होती है। यही चुनाव की समस्या उत्पन्न करती है। परन्तु स्टॉक में प्रतिफल की दर से गुणा करके आय (प्रवाह) में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी प्रकार आय में प्रतिफल की दर से भाग देकर पूँजीगत मूल्य ज्ञात किया जा सकता है।

आय (प्रवाह) $y = w \cdot r$

पूँजीगत मूल्य $w = y / r$

जहाँ –

$y =$ Income (flow)

$w =$ Wealth (Capitalised Value)

$r =$ Rate of Return (प्रतिफल की दर)

सम्पत्ति की सापेक्षिक कीमतें सम्पत्ति के चयन का निर्देशन करती है।

**मुद्रा का मांग फलन** (Money Demand Function)-

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरान्त हम अब इस स्थिति में पहुँच चुके हैं कि मुद्रा के मांग फलन का निर्धारण कर सकें। एक सम्पत्ति के रूप में मुद्रा की मांग के निम्नलिखित निर्धारक हैं–

**सम्पत्ति का स्टॉक** –

सम्पत्ति की कुल मात्रा सम्पत्ति सूची (Asset Portfolio) के आकार को निर्धारित करती है। कुल सम्पत्ति मानवीय एवं गैर मानवीय सम्पत्ति (Human and Non-Human Wealth) से मिलकर बनती है। मानवीय सम्पत्ति भी जीवनकाल में आय उत्पन्न करती है। अतः सम्पत्ति मुद्रा की मांग का निर्धारण करती है। पूँजीगत मूल्य में प्रतिफल की दर से गुणा करने पर दूसरा निर्धारक आय प्राप्त होता है।

मुद्रा के सिद्धान्त में आय को स्थायी आय के रूप में स्वीकार किया गया है, यह मापित आय (Measured Income) से भिन्न है। स्थायी आय, दीर्घकालनी आय को इंगित करता है, जिसे प्रत्याशित आय भी कहते हैं। इसके घटक निम्नलिखित हैं–

- वर्तमान सम्पत्ति से आय
- वार्षिक आय में अल्प उतार–चढ़ाव तथा
- भविष्य में कमाने की क्षमता

अर्थात् स्थायी आय की अवधारणा भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों पर आधारित हैं। अतः स्थायी आय मुद्रा की मांग का प्रथम निर्धारक हैं।

➢ सम्पत्ति को मानवीय तथा गैर मानीवय दोनों रूपों में रखा जा सकता है। मान लिया गैर मानवीय पूँजी का मानवीय पूँजी से अनुपात (w) है। गैर मानवीय पूँजी का तो सीधे बाजार में व्यापार होता है परन्तु मानवीय पूँजी के बारे में ऐसा नहीं है। अतः w में परिवर्तन मुद्रा की मांग का दूसरा निर्धारक है।

- विभिन्न परिसम्पत्तियों पर मिलने वाला प्रतिफल भी मुद्रा की मांग को प्रभावित करता है। सम्पत्ति का स्वामी उसी संयोग का चुनाव करता है जो सूची के उत्पाद को अधिकतम कर सके। उत्पादक उद्यमी सम्पत्ति को निर्गमित करके या उसे बेचकर पूँजी खरीदते हैं। जब उद्यमी पूँजी खरीदता है तब उसे लागत चुकानी पड़ती है। ऐसे में लाभ तब अधिकतम होगा जब सम्पत्ति की सापेक्षित प्रतिफल दर तथा पूँजी खरीदने की लागत दोनों बराबर हों। अतः सम्पत्ति के स्वामी तथा उद्यमी दोनों की मुद्रा की मांग को एक समान चर प्रभावित करते हैं।
- सम्पत्ति सूची की संरचना में शामिल मुद्रा, बाण्ड, इक्वीटी तथा भौतिक वस्तुएँ, इन चारों की उपज मुद्रा की मांग को निर्धारित करते हैं। मुद्रा की उपज को क्रयशक्ति $\left(\frac{1}{P}\right)$ के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। अतः यह मुद्रा की मांग का तीसरा निर्धारक है।
- बाण्ड की उपज को $r_b$ से दर्शाया जा सकता है। बाण्ड पर मिलने वाला ब्याज बाजार ब्याज के बराबर नहीं भी हो सकता है। अतः $r_b$ मुद्रा की मांग का चौथा निर्धारक है।
- इक्वीटी भी तनिक अन्तर के साथ बाण्ड ही है। इस पर मिलने वाला प्रतिफल कीमत स्तर में परिवर्तन से सम्बद्ध रहता है। अतः इक्वीटी के प्रतिफल में तीन तत्व शामिल रहते हैं, मौद्रिक उपज ($r_e$) कीमत स्तर तथा आय का धनात्मक एवम् ऋणात्मक मूल्य (I) अतः $r_e$ मुद्रा की मांग का पाँचवाँ निर्धारक है।

  अन्त में भौतिक वस्तुओं का प्रतिफल आर्थिक एवं गैर–आर्थिक (Pecuniary or Non-Pecuniary) रूप में होता है। भौतिक वस्तुओं की मौद्रिक उपज पुनः $\frac{1}{P} \cdot \frac{\partial P}{\partial t}$ पर निर्भर करता है। भौतिक वस्तुओं के पूँजीगत मूल्य में वृद्धि या कमी कमी कीमत परिवर्तन से सम्बन्धित है। इस प्रकार $\frac{1}{P} \cdot \frac{\partial P}{\partial t}$ मुद्रा की मांग का छठवाँ निर्धारक है।
- सम्पत्ति सूची में सम्पत्ति के स्वामी तथा उत्पादक उद्यमी के रुचि एवं अधिमान महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः रूचि एवं अधिमान, जिसके लिए 'u' का प्रयोग किया जा सकता है, मुद्रा की मांग का सातवां निर्धारक है।

  अतः मुद्रा मांग के फलन को इस प्रकार लिखा जा सकता है–

$$M = f\left(P,\ y,\ \frac{1}{P}.\frac{\partial P}{\partial t},\ r_b,\ r_e,\ w,\ u\right)$$

जहाँ–

M = मुद्रा की कुल मांग

P = सामान्य कीमत स्तर

y = कुल आय का प्रवाह

$\frac{1}{P} \cdot \frac{\partial P}{\partial t}$ = भौतिक वस्तुओं के मौद्रिक प्रतिफल का आकार

$r_b$ = बाण्ड की उपज (बाण्ड की बाजार ब्याज दर)

$r_e$ = इक्वीटी की उपज

w = मानवीय एवं गैर मानवीय सम्पत्ति का अनुपात

u = रूचि एवं अधिमान व्यक्त करने वाला चर

## 5.4 आधुनिक परिमाण सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Quantity Theory of Money)

फ्रीडमैन के दृष्टिकोण की दो आधारों पर आलोचना की जाती है।

1. फ्रीडमैन का तर्क है कि समाज में नकद शेष की मांग के निर्धारण में ब्याज दर की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण नहीं रहती है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ब्याज दर में वृद्धि निश्चित रूप से नकद रखने की लागत को बढ़ा देगा और नकद की मांग को कम कर देगा, परिणामस्वरूप बैंकों में जमा में वृद्धि ही जायेगी। ब्याज दर कम होने पर इसके विपरीत व्यवहार देखने को मिलेगा। अतः यह मान्यता कि जमा ब्याज के प्रति बेलोचदार होती है सही नहीं है।
2. दूसरी मान्यता यह है कि किसी समाज में मुद्रा की पूर्ति आय तथा कीमत स्तर में परिवर्तन से स्वतन्त्र होती है। बल्कि मुद्रा की पूर्ति आय एवं कीमत स्तर का निर्धारण करती है। परन्तु अनुभव पर आधारित अध्ययन यह बताते हैं कि आय तथा कीमत स्तर भी समान रूप से मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

### आधुनिक सिद्धान्त की श्रेष्ठता –

अनेक आलोचनाओं के बावजूद यह सिद्धान्त परम्परागत परिमाण सिद्धान्त से श्रेष्ठ है। यह पूर्व सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक बेहतर एवं व्यापक रूप से मुद्रा की मांग की व्याख्या करता है। फ्रिडमैन ने स्वयं अपने योगदान के सैद्धान्तिक स्वरूप का अनुभव के द्वारा परीक्षण किया तथा उसकी प्रामाणिकता को स्थापित किया।

## 5.5 सारांश (Summary)

मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को पुनः स्थापित कियाय। फ्रीडमैन ने स्पष्ट किया कि यह मुद्रा की मांग का सिद्धान्त है। उत्पादन, आय या कीमत का सिद्धान्त नहीं है। इन्होंने सम्पत्ति के वृहत् रूप को परिभाषित किया। मानवीय तथा गैर मानवीय पूँजी के साथ–साथ भौतिक एवम् अभौतिक पूँजी को भी सम्मिलित किया। फ्रीडमैन ने बहुत स्पष्ट एवम् व्यापक मुद्रा के मांग फलन को व्युत्पन्न किया। फ्रीडमैन का मांग फलन कीमत स्तर, बॉण्ड, इक्विटी, आय, कीमत स्तर में परिवर्तन की दर आय और रुचि चर पर निर्भर करता है।

## 5.6 शब्दावली

- एसेट पोर्टफोलियो (Asset Portfolio) सम्पत्ति सूची
- मौद्रिक आय (Nominal Income) – मौद्रिक रूप में व्यक्त आय

- उत्पादन फलन (Production Function) उत्पादन तथा उत्पादन साधनों के बीच विद्यमान फलनात्मक सम्बन्ध
- सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (Marginal Rate of Substitution) x वस्तु की एक इकाई पाने के लिए y वस्तु की छोड़ी जाने वाली मात्रा
- कीमत रेखा (Budget Line or Price Line) दो वस्तुओं x तथा y के कीमत अनुपात को व्यक्त करती है।
- वास्तविक आय (Real Income) मौद्रिक आय में कीमत से भाग देकर वास्तविक आय ज्ञात की जाती है।
- उपयोगिता (Utility) इच्छा को सन्तुष्ट करने की क्षमता

## 5.7 अभ्यास प्रश्न

**अभ्यास प्रश्न –**

1. फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को किस रूप में प्रस्तुत किया।
2. फ्रीडमैन ने किन कारकों को मुद्रा की मांग का निर्धारक माना।
3. फ्रीडमैन के परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध में कौन सा कथन सहीं नहीं है।

(अ) वास्तविक आय तथा मुद्रा की मांग के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है।

(ब) ब्याज दर तथा मुद्रा की मांग के बीच प्रत्यक्ष समबन्ध पाया जाता है।

(स) कीमत स्तर तथा मुद्रा की मांग के बीच विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है।

(द) कीमत स्तर में परिवर्तन तथा मुद्रा की मांग के बीच प्रत्यक्ष एवं आनुपातिक सम्बन्ध पाया जाता है।

**अभ्यास प्रश्न के उत्तर–**

**उत्तर – 3(द)**

## 5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- Seth, M.L. (2010) : 'Money Banking and International Trade', Published by – Laxmi narayan Agrawal, Agra.
- Vaish, M.C. (1989) : Money Banking and International Trade, Published By – Wiley Eastern Limited.
- Mithani, D.M. (2004), "Macro Economics", Published by Himalaya Publishing House.
- Gupta, S.B. (1988), 'Monetary Economics' – Institutions, Theory and Policy, Published by S. Chand & Co. Pvt. Ltd.
- Shapirio, Edward (1989) 'Macro Economic Analysis' Published by Galgotia Publications Pvt. Ltd.


## 5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री


- सिंह, एस0के0 (2010) 'लोक वित्त के सिद्धान्त', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

- सिन्हा, वी0सी0 (2009) 'अर्थशास्त्र', बी0ए0 द्वितीय वर्ष, एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा
- लाल, एस0एन0 (2004), मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- मिश्र, जे0पी0 (2008) 'अर्थशास्त्र' (मुद्रा एवं बैंकिंग), बी0ए0 द्वितीय वर्ष हेतु, विज्डम पब्लिकेशन्स, वाराणसी


## 5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. फ्रीडमैन के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. स्पष्ट कीजिए कि फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया।
3. इस बात की व्याख्या कीजिए कि कैसे मिल्टन फ्रीडमैन का परिमाण सिद्धान्त मूलतः मुद्रा की मांग का सिद्धान्त है।

# इकाई–6 मुद्रा स्फीति, अवस्फीति, विस्फीति, संस्फीति एवं स्फीतिबद्ध गतिरोध


6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 मुद्रास्फीति से आशय
6.4 मुद्रा स्फीति के प्रकार
  6.4.1 सामान्य मूल्य मुद्रा स्फीति
  6.4.2 प्रतिबन्धित मुद्रास्फीति
  6.4.3 अनियन्त्रित स्फीति
  6.4.4 पूर्ण तथा अर्द्धस्फीति
  6.4.5 कारण के आधार पर मुद्रास्फीति
  6.4.6 गति के अनुसार मुद्रास्फीति
  6.4.7 समय के अनुसार स्फीति
  6.4.8 आकार के अनुसार स्फीति
  6.4.9 नियन्त्रण के अनुसार स्फीति
  6.4.10 निष्क्रिय मुद्रा स्फीति
6.5 मुद्रास्फीति के कारण
  6.5.1 मांग पक्ष
  6.5.2 पूर्ति पक्ष
6.6 मुद्रा स्फीति के प्रभाव
6.7 मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय
6.8 मुद्रा अवस्फीति अथवा मुद्रा संकुचन
6.9 मुद्रा अवस्फीति एवं मुद्रा विस्फीति
  6.9.1 मुद्रा अवस्फीति के कारण
  6.9.2 मुद्रा अवस्फीति के प्रभाव
  6.9.3 मुद्रा अवस्फीति के नियन्त्रण के उपाय
6.10 मुद्रा संस्फीति
  6.10.1 मुद्रा संस्फीति के नियन्त्रण के उपाय
6.11 स्फीतिबद्ध गतिरोध अथवा निस्पन्द स्फीति या स्फीति गतिहीनता
  6.11.1 निस्पन्द स्फीति के कारण
  6.11.2 स्फीतिबद्ध गतिरोध अथवा निस्पन्द स्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय
6.12 सारांश
6.13 शब्दावली
6.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.15 संदर्भ सहित सूची
6.16 निबंधात्मक प्रश्न

## 6.1 प्रस्तावना (Introduction)

वर्तमान समय में विश्व के विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों में मुद्रा स्फीति की समस्या आर्थिक नीतियों का प्रमुख लक्ष्य बनी हुयी है। मुद्रास्फीति किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिये कितनी महत्वपूर्ण है अथवा कितनी दुष्प्रभावी है अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों एवं लोगों पर इसका कितना प्रभाव पड़ता है, यह मात्र अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र तक ही सीमित नही है। सिद्धान्तों एवं विश्लेषणों की परिधि के परे स्फीति ने आम चर्चा के विषय का स्थान पा लिया है। मुद्रास्फीति, अवस्फीति, संस्फीति, स्फीतिबद्ध गतिरोध जैसे अवधाराणाओं का आशय समझना अति आवश्यक हो गया है।

मुद्रास्फीति हो या अवस्फीति या कोई और प्रकार, अर्थव्यवस्था पर इनका प्रभाव पड़ने के कारण इनका अध्ययन महत्वपूर्ण है। इनको नियन्त्रण करने के विभिन्न उपायों से अवलोकित होना और उसे किस हद तक अर्थव्यवस्था पर लागू किया जा सकता है इसका ज्ञान अतिआवश्यक है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अधिकतर मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन देखे जाते है। इस दृष्टि से इन अवधारणाओं के महत्व को समझना, इनके विभिन्न रूपों का ज्ञान महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत अध्याय इन्ही सब विषय क्षेत्र पर प्रकाश डालता है। मुद्रास्फीति के प्रकार, उसके प्रभावित क्षेत्र एवं उसके नियन्त्रण के उपायों को समझना नितान्त आवश्यक है जिससे अर्थव्यवस्था पर विभिन्न नीतियों को लागू करके उसकी दशा को सुधारा जा सकता है। विकासशील एवं अर्द्धविकसित देशों में जहाँ मुद्रास्फीति से लोग प्रभावित होते है वही सुस्ती और बेरोजगारी भी एक समस्या बनी हुयी है। ऐसी स्फीतिबद्ध गतिरोध को नियन्त्रण करने के उपाय को भी इस अध्याय में समझाने का प्रयास किया गया है।

## 6.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत अध्याय मुद्रास्फीति के विभिन्न रूपों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालता है। मुद्रास्फीति किस प्रकार अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों वर्गो एवं लोगों को प्रभावित करती है और मुद्रास्फीति एक आम चर्चा का विषय क्यों बन गया है, इस अध्याय को पढ़कर यह समझा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन जिससे कि सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन होता है, किसी भी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है। एक अर्द्धविकसित देश की अर्थवयवस्था अलग तरह प्रभावित होती है और एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति की समस्या भिन्न है।

प्रस्तुत इकाई उन सभी तंत्रों पर प्रकाश डालती है जिससे मुद्रास्फीति का नियन्त्रण राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों के तहत उपयुक्त तरीके से हो सके।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह जान सकेंगे कि–

- ✓ मुद्रा स्फीति क्या है?
- ✓ मुद्रा स्फीति के कौन–कौन से रूप है?
- ✓ मुद्रास्फीति का अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्र पर क्या–क्या प्रभाव पड़ते हैं?
- ✓ मुद्रास्फीति को नियन्त्रण करने के क्या उपाय है?
- ✓ अवस्फीति, संस्फीति से क्या आशय है?

- ✓ स्फीतिबद्ध गतिरोध क्या है और किस प्रकार के अर्थव्यवस्था में हो सकती है इसके नियन्त्रण के क्या उपाय हो सकते है।

## 6.3 मुद्रा स्फीति से आशय (Meaning of Inflation)

जब मुद्रा की मात्रा अर्थव्यवस्था में बढ़ जाती है और उसका मूल्य कम हो जाता है तथा साथ ही साथ कीमत स्तर में भी बृद्धि होती है तो मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है। सामान्यतः कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर वृद्धि को मुद्रा स्फीति कहते है। इसकी दशा में सरकारी बजट में लगातार घाटा रहता है। अत्यधिक भाग होने पर वस्तुओं एवं सेवाओं की पूर्ति उसे पूरा नही कर पाती तो कीमतों पर इसका प्रभाव पड़ने लगता है। कीमतों में इस सतत् वृद्धि को मुद्रास्फीति कहा जाता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न परिभाषाएँ इस संदर्भ में प्रस्तुत की–

**सेम्यूलसन** (Samuelson) के शब्दों में, *''मुद्रा स्फीति से हमारा अभिप्राय उस समय से है जिससे कीमते बढ़ी रही होती है। (By inflation we mean a time of generally rising prices)''*

**गार्डनर एक्ले** (Gardner Ackley)– *''हम मुद्रा स्फीति की परिभाषा बढ़ी हुयी कीमतों के रूप में देते है न कि ऊँची कीमतो के रूप में। (We define inflation as rising prices and not as high prices)''*

**शेपीरो** (Shapiro) के अनुसार, *''मुद्रा स्फीति सामान्य कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर और अत्यधिक वृद्धि है। (Inflation is persistent and appreciable rise in general price level)''*

**कोलबोर्न** (Colbourne) के अनुसार, *''मुद्रास्फीति वह अवस्था है जिसमें बहुत अधिक मुद्रा बहुत कम वस्तुओं का पीछा करती है। (Inflation is the stage of too much money chasing too few goods)''*

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मुद्रास्फीति कीमत स्तर के निरन्तर बढ़ने की प्रक्रिया है। (Inflation is the process of persistent rise in price level)

## 6.4 मुद्रा स्फीति के प्रकार (Types of Inflation)

अर्थव्यवस्था में मूल्य स्तर वृद्धि की दरों उनके प्रभावों तथा प्रमुख प्रकार को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है–

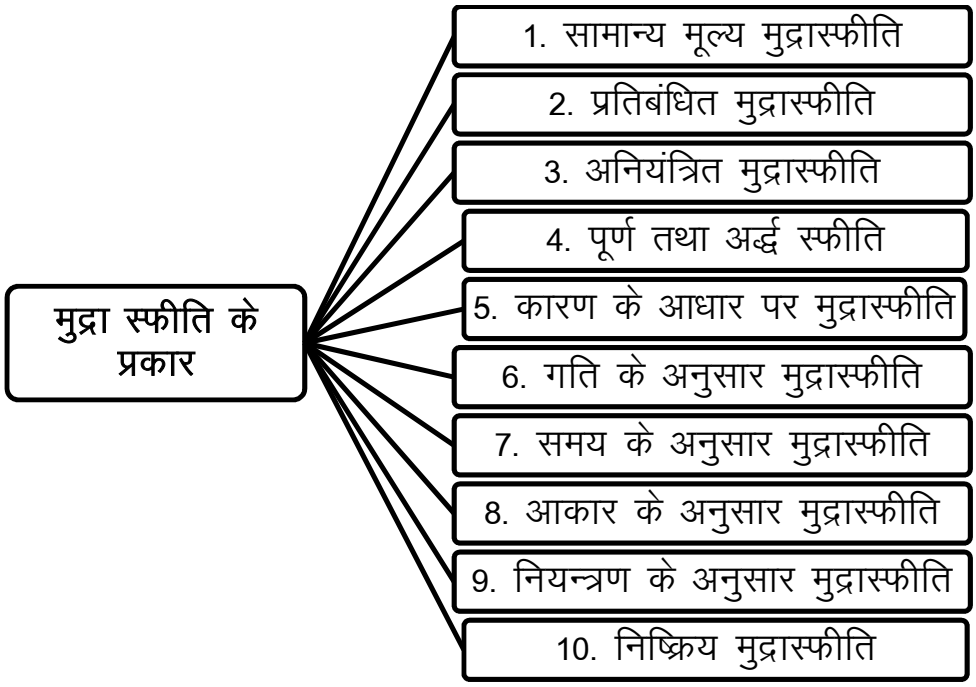


## 6.4.1 सामान्य मूल्य मुद्रा स्फीति (Ordinary Price Inflation)

इसे स्वतन्त्र या मंद मुद्रास्फीति भी कहते है। बिना सरकारी नियन्त्रण के होने वाली यह मुद्रास्फीति लोगों की आय के बढ़ने से अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा के उस अनुपात में न बढ़ने पर मूल्यों में होने वाली स्वाभाविक वृद्धि है। यह मन्द मुद्रास्फीति भी है क्योंकि उत्पादन में धीरे–धीरे वृद्धि होती रहती है जिससे अर्थव्यवस्था में कोई हानिकारिक प्रभाव नहीं पड़ता।

## 6.4.2 प्रतिबन्धित मुद्रास्फीति (Suppresed Inflation)

मूल्यों के वृद्धि में नियंत्रण लगाने से मूल्य स्तर का बढ़ना रूक जाता है जैसे राशनिग या प्रत्यक्ष मूल्य नियन्त्रण रीति से सरकार मूल्यों में होने वाली वृद्धि को रोक देती है। परन्तु भविष्य में यह रोकी गयी मुद्रास्फीति फिर से उत्पन्न होती है। मूल्य में वृद्धि को उत्पन्न होने वाली शक्तियां अर्थव्यवस्था में मौजूद रहती है जिससे कि समय पड़ने पर यह मुद्रास्फीति का रूप धारण कर लेती है।

## 6.4.3 अनियन्त्रित मुद्रास्फीति (Uncontrolled Inflation)

जब मुद्रा का चलन इतना बढ़ जाता है तो प्रायः मुद्रा के मूल्य में भारी गिरावट आ जाती है। सरकार की सारी नीतियां भी कारगर सिद्ध नहीं हो पाती है। शीघ्रता से बढ़ते हुये इस मूल्य वृद्धि का अर्थव्यवस्था पर भीषण प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी बैंक जमाएँ समाप्त हो जाती है और लोग मुद्रा के बदले वस्तुओं ओर सेवाओं को खरीदने लगते है जिससे कि पूर्ति कम होने लगती है और मुद्रास्फीति को पोषित करती है। 1920–23 में जर्मनी में इतनी अत्यधिक मुद्रास्फीति हो गयी कि उसका नियन्त्रण असम्भव हो गया।

## 6.4.4 पूर्ण तथा अर्द्धस्फीति (Final and Semi Inflation)

यह वर्गीकरण केन्स द्वारा किया गया। पूर्ण रोजगार की अवस्था से पहले मुद्रा की मात्रा में वृद्धि रोजगार में बढ़ोत्तरी के साथ उत्पादन लागतो मे वृद्धि करेगा जिससे कीमते भी बढ़ जायेगी। पूर्ण रोजगार की अवस्था से पहले इस स्थिति को केन्स ने अर्द्ध स्फीति (Semi inflation) का नाम दिया है। एक बार जब पूर्ण रोजगार का बिन्दु पहुँच जाता है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि का रोजगार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और अब केवल कीमतें ही बढ़ेगी। ऐसी स्थिति पूर्ण स्फीति की स्थिति होगी।

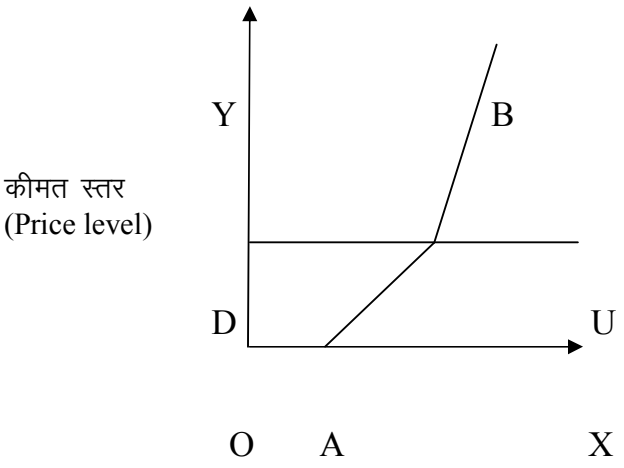


DU रेखा पूर्ण रोजगार की रेखा है जो x अक्ष के समान्तरण खीची गयी है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि इस रेखा के पहले तक उत्पादन को भी बढ़ायेगी और अर्द्ध स्फीति की दशा रहेगी। एक बार जब अर्थव्यवस्था इस रेखा को पार कर जाती है तो इसका अर्थ यह होता है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति आ चुकी है और उत्पादन में वृद्धि नही हो सकती क्योंकि साधनों का पूर्ण उपयोग हो चुका है। ऐसी स्थिति को पूर्ण स्फीति की दशा कहा गया है। आधुनिक अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार की स्थिति को कल्पना मात्र ही मानते है।

## 6.4.5 कारण के आधार पर मुद्रास्फीति (Inflation on the basis of causes)

कई कारणों से मुद्रास्फीति उत्पन्न हो सकती है। यदि वस्तुओं की पूर्ति में कमी के कारण कीमत स्तर में वृद्धि होती है तो उस स्थिति को वस्तु स्फीति (Commodity inflation) कहते है।

यदि मुद्रा का मात्रा में अत्यधिक वृद्धि के कारण कीमत बढ़ती है तो उसे चलन स्फीति (currency inflation) करते है । यदि साख की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि के कारण स्फीति होती है तो उसे साख स्फीति (credit inflation) कहा जाता है। करो में वृद्धि अथवा अन्य वित्तीय कारणों से यदि कीमतों में वृद्धि होती है और स्फीति उत्पन्न होती है तो उसे वित्तीय स्फीति (fiscal inflation) कहते है। कारणों के आधार पर स्फीति को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

- मांग जनित मुद्रास्फीति
- लागत जनित मुद्रास्फीति

1. **मांग जनित मुद्रास्फीति** (Demand Pull Inflation)– जब लोगों की आय बढ़ने के कारण उनके द्वारा वस्तु एवं सेवाओं की मांग अत्यधिक बढ़ जाती है और उसकी पूर्ति उत्पादन में वृद्धि न होने के कारण नही हो पाती है तो इससे कीमतों में अत्यधिक वृद्धि उत्पन्न हो जाती है। मांग में वृद्धि होने के कारण जनित मुद्रास्फीति को मांग जनित मुद्रास्फीति कहा गया है।
2. **लागत जनित मुद्रास्फीति** (Cost Push Inflation) – यह सिद्धान्त मुद्रास्फीति का एक नवीन सिद्धान्त है। 1960 के पश्चात् अमेरिका तथा दूसरे विकसित देशों में पाई जाने वाली विशेष परिस्थितियों के कारण इसका जन्म हुआ। एक तरफ कीमतों में वृद्धि और उत्पादन एवं मांग में कमी, उत्पादन लागतों में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप लागत जनित मुद्रास्फीति उत्पन्न होती है।

**प्रो. ए.एस. केंम्पना** के अनुसार *''लागत प्रेरित स्फीति लागतो में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस स्थिति में कुल मांग अपर्याप्त होती है। साधन बेरोजगार होते है।'*

**रेनलर्ट** के अनुसार *''लागत प्रेरित स्फीति सिद्धान्त का आधार यह है कि श्रम तथा व्यापार दोनों में ही संगठित समूह, अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत सामान्य प्रतिस्पर्धा बाजारों में प्रचलित कीमतों से ऊँची रखते है।''*

इस तरह की मुद्रास्फीति कई कारणों से हो सकती है जैसे–

1) मजदूरी की दर में वृद्धि
2) लाभ की दर में वृद्धि
3) प्रमुख कच्चे माल की लागत में वृद्धि

क्रियाओं के आधार पर भी मुद्रास्फीति के विभिन्न रूप हो सकते है।

1. **घाटा प्रेरित स्फीति** (Deficit Induced Inflation)– जब सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करती है तो उस घाटे की पूर्ति अधिक मुद्रा चलन में जारी करती है तो इस प्रक्रिया तो हीनार्थ प्रबन्धन कहते है। ऐसा करने से मुद्रास्फीति को स्थिति उत्पन्न होती है।
2. **वेतन प्रेरित स्फीति** (Wage Induced Inflation)– जब मजदूरी में वृद्धि का अनुपात श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से अधिक है तो उत्पादन लागत एवं कीमत स्तर में वृद्धि होती है।
3. **लाभ प्रेरित स्फीति** (Profit Induced Inflation)– उत्पादन लागत में कमी होने पर कीमतों को नीचे गिरने में जब कृत्रिम उपायों द्वारा रोका जाता है तो उत्पादकों के लाभ में वृद्धि होता है। कीमते बढ़ती तो नही पर नीचे आ जाती है। इस प्रकार की स्थिति को केन्स ने लाभ प्रेरित स्फीति कहा है।

## 6.4.6 गति के अनुसार मुद्रास्फीति (Inflation by Speed)

गति के आधार पर मुद्रास्फीति को चार भागों में बांटा गया है–

1. **रेंगती स्फीति** (Creeping Inflation)– जब कीमत स्तर में धीरे–धीरे वृद्धि होती है, तो उेस रेंगती स्फीति कहा जाता है। यह अर्थव्यवस्था के लिये विकासोन्मुख

होती है। केन्स का यही विचार है कि ऐसी स्फीति अर्थव्यवस्था के लिये उपयुक्त है। कीमत स्तर मे दो–तीन प्रतिशत तक की वृद्धि को रेंगती हुयी स्फीति कहा गया है।

2. **चलती स्फीति** (Walking Inflation)– कीमतों में वृद्धि की गति बढ़ जाने से रेंगती स्फीति चलतीं स्फीति में परिवर्तित हो जाती है। किसी दशक में कीमतों में होने वाली वृद्धि 30–40 प्रतिशत होने पर चलती स्फीति उत्पन्न होती है।
3. **दौड़ती स्फीति** (Running Inflation)– कीमतों में अत्यधिक वृद्धि जिसके फलस्वरूप थोडे ही समय में कीमत पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाती है तो उसे दौड़ते स्फीति कहा जाता है। ऐसे में स्थिर आय वालों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किसी दशक में स्फीति की दर 80 से 100 प्रतिशत होने पर दौड़ती स्फीति उत्पन्न होती है और यह बचतों को हतोत्साहित करती है। इसको थामने के शीघ्र उपाय करना आवश्यक हो जाता है।
4. **सरपट दौड़ती स्फीति** (Galloping inflation or Hyper Inflation)– कुछ अर्थशास्त्री इसे मुद्रास्फीति का भयंकर राक्षस कहते है। प्रथम युद्ध के पश्चात् जर्मनी में इसी प्रकार की स्फीति उत्पन्न हुयी। मुद्रा का मूल्य इतना अधिक गिर गया कि मुद्रा पर से लोगो का विश्वास खत्म हो गया। कीमते एक समय एक साल में दस लाख गुना अधिक हो गयी थी। ऐसे में सारी अर्थव्यवस्था अस्त–व्यस्त हो जाती है। और निर्धन वर्ग के लिये अति हानिकारक हो जाती है।

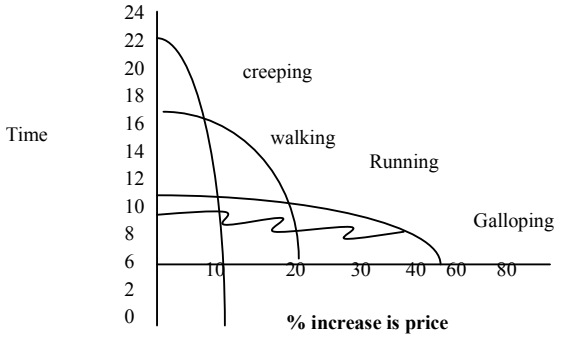


चित्र 6.1

चित्र 6.1 में गति के आधार पर मुद्रास्फीति के रूपों को प्रदर्शित किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी इन रूपों का समझा जा सकता है।

1. रेंगती स्फीति– 2 प्रतिशत के करीब वार्षिक वृद्धि पर
2. चलती स्फीति – 2–5 प्रतिशत के करीब वार्षिक वृद्धि पर
3. दौड़ती स्फीति– 5–10 प्रतिशत के करीब वार्षिक वृद्धि पर
4. सरपट दौड़ती स्फीति– 10 से अधिक प्रतिशत के करीब वार्षिक वृद्धि पर

### 6.4.7 समय के अनुसार मुद्रास्फीति (Inflation by Time)

समय के अनुसार मुद्रास्फीति को राजनीतिक स्थिति के आधार पर भी वर्गाकृत किया जा सकता है।

1. **युद्धकालीन मुद्रा स्फीति** (Pre war inflation)– ऐसे काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि उत्पादन के ढाँचे में परिवर्तन तथा विदेशी व्यापार की समस्याओं के कारण मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।
2. **युद्ध पष्चात् स्फीति** (Post war Inflaction)– ऐसी स्थिति में दो कारणों से मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति जारी रह सकती है। युद्ध के पश्चात् नष्ट हुयी मशीनों जहाजों, पुलों, रेलवे लाइनों आदिका फिर से निर्माण करने के लिये सरकार द्वारा अधिक व्यय किया जाता है। सरकारी ऋणो की वापसी के फलस्वरूप भी लोगों के पास मुद्रा का मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु उत्पादन में धीमी वृद्धि के कारण वस्तुओं एवं सेवाओं में अधिक वृद्धि नहीं हो पाती है। अतः युद्ध के बाद भी कीमतों में वृद्धि जारी रहती है।
3. **षांतिकालीन मुद्रा स्फीति** (Peace time Inflation)– आर्थिक विकास के कार्याक्रमों को पूरा करने और आर्थिक नियोजन हेतु सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था अपनानी पड़ती है जिससे अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। फलस्वरूप कीमतों में जो वृद्धि होती है, उसे शान्तिकालीन मुद्रा स्फीति कहते है।

### 6.4.8 आकार के अनुसार मुद्रास्फीति (Inflation by Size)

आकार के अनुसार मुद्रास्फीति को दो भागों में विभाजित किया जाता है।

1. **व्यापक मुद्रास्फीति** (Comprehensive Inflation)– जब सभी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो, तो उसे व्यापक स्फीति कहते है।
2. **खण्डीय मुद्रास्फीति** (Sectional Inflation)– जब कुछ विशेष वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो तो उसे खण्डीय स्फीति कहते है। यह प्रायः अस्थायी प्रकार की होती है।

### 6.4.9 नियन्त्रण के अनुसार मुद्रास्फीति (Inflation by Content)

1. **खुली मुद्रास्फीति** (Open Inflation)– जब कीमतो मे वृद्धि का किसी पर नियन्त्रण न हो, जब स्वतन्त्र रूप से वृद्धि हो तो खुली स्फीति होती है।
2. **दबी मुद्रास्फीति** (Puppressed Inflation)– जब सरकार द्वारा कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग के माध्यम से कीमतों की वृद्धि को रोका जाता है उसे दबी स्फीति कहा जाता है।

### 6.4.10 निष्क्रिय मुद्रास्फीति (Internal Inflation)

जब मुद्रस्फीति एक ही दर पर लगातार बढ़ती जाती है तो उसे निष्क्रिय मुद्रास्फीति कहते है। **सैम्यूलसन** तथा **नारडस** ने इसकी तुलना एक ऐसे कुत्ते से की है जो एक स्थान पर सोता है, शान्ति भंग की स्थिति में दूसरी जगह चला जाता है और फिर सो जाता है यही दशा निष्क्रिय मुद्रास्फीति की है।

## 6.5 मुद्रा स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

मुद्रास्फीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारणों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है– (1) मांग पक्ष (2) पूर्ति पक्ष

### 6.5.1 मांग पक्ष (Demand Side)

निम्नलिखित कारणों से मुद्रास्फीति उत्पन्न होती है।

1. सार्वजनिक व्यय में वृद्धि (Increase in the Public Expenditure)
2. घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing)
3. सस्ती मौद्रिक नीति (Cheap Monetary Policy)
4. व्यय योग्य आय में वृद्धि (Increase in the Disposable Income)
5. काले धन में वृद्धि (Increase in the Black Money)
6. निवेश में वृद्धि (Increase in Investment)
7. करों में कमी (Decrease in Taxes)
8. सार्वजनिक ऋण में कमी (Decrease inPublic Debt)
9. जनसंख्या में वृद्धि (Increase in the Population)
10. निर्यात में वृद्धि (Increase in the Exports)

### 6.5.2 पूर्ति पक्ष (Supply Side)

पूर्ति पक्ष से अभिप्राय वस्तुओं या उत्पादन की वह उपलब्ध मात्रा है जिस पर लोग अपनी आय व्यय कर सकते है। मुद्रा स्फीति की अवस्था में पूर्ति में उस अनुपात में वृद्धि नही होती जिस अनुपात में मांग में वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में असन्तुलन आ जाता है। इस असन्तुलन के कारण ही कीमतों में वृद्धि होने लगती है। पूर्ति पक्ष पर मुख्य रूप से निम्नलिखित तत्वों का प्रभाव पड़ता है–

1. उत्पादन में कमी (Less Production)
2. कृत्रिम अभाव (Artificial Scarcity)
3. सरकार की कर नीति (Taxation Policy of the Government)
4. खाद्यान्न में कमी (Scarcity in Food Grains)
5. औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes)
6. तकनीकी परिवर्तन (Technological Changes)
7. कच्चे माल की कमी (Lack of Raw Materials)
8. प्राकृतिक विपतितयां (Natural Calamities)
9. उत्पादन का ढांचा (Structure of Production)
10. युद्ध (Wars)
11. अन्तर्राष्ट्रीय कारण (International Causes)
12. सरकार की नई औद्योगिक नीति (New Industrial Policy of the Government)
13. उत्पादन में गतिरोध (Obstacles in Production)

## 6.6 मुद्रा स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

मुद्रास्फीति का अर्थव्यवस्था के आर्थिक व सामाजिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मूल्य वृद्धि से हर आय वर्ग के लोगों पर अलग–अलग प्रभाव पड़ता है। एक तरफ जहां कुछ अर्थशास्त्री यह मानते है कि रेंगती हुयी मुद्रस्फीति अर्थव्यवस्था के उत्पादन, रोजगार एवं आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है वहीं यही रेंगती स्फीति की दर बढ़ जाने पर यह उतनी ही हानिकारक भी हो सकता है। देश की आम जनता खुद को और भी निम्न वर्ग का महसूस करने लगती है।

1. **ऋणी और ऋणदाताओ पर प्रभाव** (Effects on Debtors and Creditors)– स्फीति के कारण ऋणी वर्ग को लाभ होता है क्योंकि वास्तविक मूल्य पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। परन्तु ऋणदाता को हानि होती है क्योंकि कीमतो में वृद्धि से मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और उसे दी हुयी ऋण का उन्हें वास्तविक मूल्य कम मिलता है।
2. **निवेषकर्ता पर प्रभाव** (Effects on Investors)– ऐसे निवेश कर्ता जो प्रतिभूतियों डिबेन्चर्स आदि में निवेश करके निश्चित आय प्राप्त करते है, उन्हें स्फीति से हानि प्राप्त होती है क्योंकि मुद्रा का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है। वही ऐसे निवेशकर्त्ता जो किसी कम्पनी के शेयर खरीदे होते है उनकी आय मुद्रास्फीति के दौरान बढ़ती जाती है और उन्हें लाभ प्राप्त होता है।
3. **उद्यमियों पर प्रभाव** (Effects on Enterpreneurs)– यह वो वर्ग है जिसे स्फीति से लाभ प्राप्त होता है। इसके कई कारण हो सकते है जैसे वस्तुओं की माँग का बढ़ जाना, जिससे उत्पादन बढ़ता है और ऊँची कीमते प्राप्त होती है। दूसरा स्फीति से पूर्व ही उनके द्वारा कच्चा माल खरीदा गया होता है। यहां तक की मजदूरी में होने वाली वृद्धि कीमतो में वृद्धि की अपेक्षा कम होती है। ऋण लिये हुये उद्यमी को स्फीति की दशा में लाभ ही प्राप्त करते है।
4. **कृषको पर प्रभाव** (Effects on Farmers)– किसानों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि वे फसलों के उत्पादक होते है। उनके कृषक वस्तुओं की कीमत लागतों की अपेक्षा अधिक होती है।
5. **निष्चित आय वर्ग पर प्रभाव** (Effects on Fixed Salaried Class)– इस वर्ग में श्रमिक, क्लर्को, अध्यापक और अन्य नौकरी पेशा लोग सम्मिलित है। इन्हें निःसन्देह अधिक हानि उठानी पड़ती है। वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों में वृद्धि होने पर भी इनकी मौद्रिक आय में कोई वृद्धि नहीं होती। परणिामस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम भी हो जाने से वे कम वस्तुएँ एवं सेवाएँ खरीद पाते है।
6. **बचत पर प्रभाव** (Effects on Saving)– एक तरफ मुद्रा का मूल्य का कम होना एवं कीमतो का बढ़ाना, लोगो के बचत प्रवृत्ति को हतोत्साहित करता है। बचतो की सम्भावना कम हो जाती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है।
7. **रोजगार पर प्रभाव** (Effects on Employment)– रोजगार पर प्रभाव अनुकूल होता है क्योंकि उत्पादको को लाभ होता है जिससे वे अधिक उत्पादन करते है, नये–नये उद्योग स्थापित करने की संभावनाएँ बढ़ जाती है। यह सब स्फीति की प्रारम्भिक अवस्था में दृष्टिगत होता है जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति नही आ पाती। एक बार जब पूर्ण राजगार की स्थिति आ जाती है तब साधन प्रयुक्त होने की दृष्टि में उत्पादन नही बढ़ता और सम्पूर्ण प्रभाव कीमत पर पड़ता है। कम आय वाले लोग, वस्तुएं नहीं खरीद पाते, मांग कम होने लगती है और बेरोजगारी फैल जाता है।
8. **भुगतान संतुलन पर प्रभाव** (Effect on Balance of Payments)– स्फीति का अर्थव्यवस्था के भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। विदेशी वस्तुओं का आयात बढ़ जाता है क्योंकि देश में लोगों की मांग बढ़ जाती है। निर्यात हतोत्साहित होते है क्योंकि देश में लोगो की मांग को पूरा करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे में अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में टिक नही पाती है। मुद्रास्फीति ऐसे में अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में टिक नही पाती। मुद्रास्फीति

एक बाधक के रूप में कार्य करती है जब आयात कम करके निर्यात को प्रोत्साहन करना होता है। ऐसे में भुगतान संतुलन की स्थिति और भी जटिल हो जाती है।

9. **सार्वजनिक ऋणों पर प्रभाव** (Effects on Public Debt)– कीमतों में वृद्धि का असर सरकार द्वारा प्रारम्भ की गयी योजनाओं पर पड़ता है। उनका व्यय बढ़ जाता है। और सरकार को जनता से ऋण लेना पड़ता है।
10. **नैतिक प्रभाव** (Moral Effect)– स्फीति से नैतिकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यापारी वर्ग मुनाफाखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि जैसे प्रवृत्तियों में लिप्त हो जाते है। एन्ड्यु ***डॉ. व्हाइट*** ने अपनी पुस्तक *"Flat money Inflation in France"* में लिखा कि *"**फ्रांसीसी क्रान्ति काल में मुद्रा प्रसार के कारण फ्रांस के प्रमुख षहरों में विलासिता तथा दुराचार, जो लूटने की अपेक्षा गम्भीर दोष थे, चारो ओर फैल गये थे।**"* सरकारी कर्मचारी भी भ्रष्ट हो जाते है।
11. **सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव** (Social and Politcal Effects)– स्फीति का हानिकारक प्रभाव सामाजिक एवं राजनैतिक स्तर पर आर्थिक प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। मुद्रास्फीति के कारण जनता के रोष, असन्तोष फैल जाता है। स्फीति के कारण ही जर्मनी, इटली, फ्रांस, स्पेन आदि में राजनैतिक परिवर्तन हुये। जिस समाज में निरन्तर मुद्रा स्फीति रहती है उसमें निःसन्देह सट्टेबाजों एवं जमाखोरी की अधिक लाभ प्राप्त होता है न कि शिक्षक या गुरूओं का।
12. **मुद्रा में अविश्वास** (No Confidence in Money)– **प्रो. हाट्रे** के शब्दों में *"**मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा में अविश्वास उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप दीर्घकालीन ऋणो का देना बहुत कम हो जाता है।**"* ब्याज की दर भी ऊँची हो जाती है।

एक बार मुद्रा का कुचक्र उत्पन्न होता है तो मूल्य बढ़ने से आय, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर बढ़ते है और फिर लागत आदि बढ़ने पर कमते बढ़ने लगती है। आगे चलकर सट्टेबाजी की प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हो जाती है। इन सब कारणों से मूल्य में पुनः वृद्धि होने लगती है जब एक बार मूल्य बढ़ जाता है तो स्वतः ऐसी क्रियाएं होने लगती है जिससे मूल्यों ने पुनः होने लगती है। इस कुचक्र के द्वारा स्फीतिकारी रूप पूरी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।

## 6.7 मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय (Measures to Control Inflation)

मुद्रास्फीति वैध होते हुये भी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। **हाट्रे** के शब्दों में, *"**यदि मुद्रा स्फीति को प्रारम्भ मे ही पैर जमाने की अनुमति दे दी जाय, तो इसके नियन्त्रण से बाहर होने की सम्भावना कम हो जाती है।**"*

निम्नलिखित उपायों द्वारा मुद्रास्फीति को रोका जा सकता है।

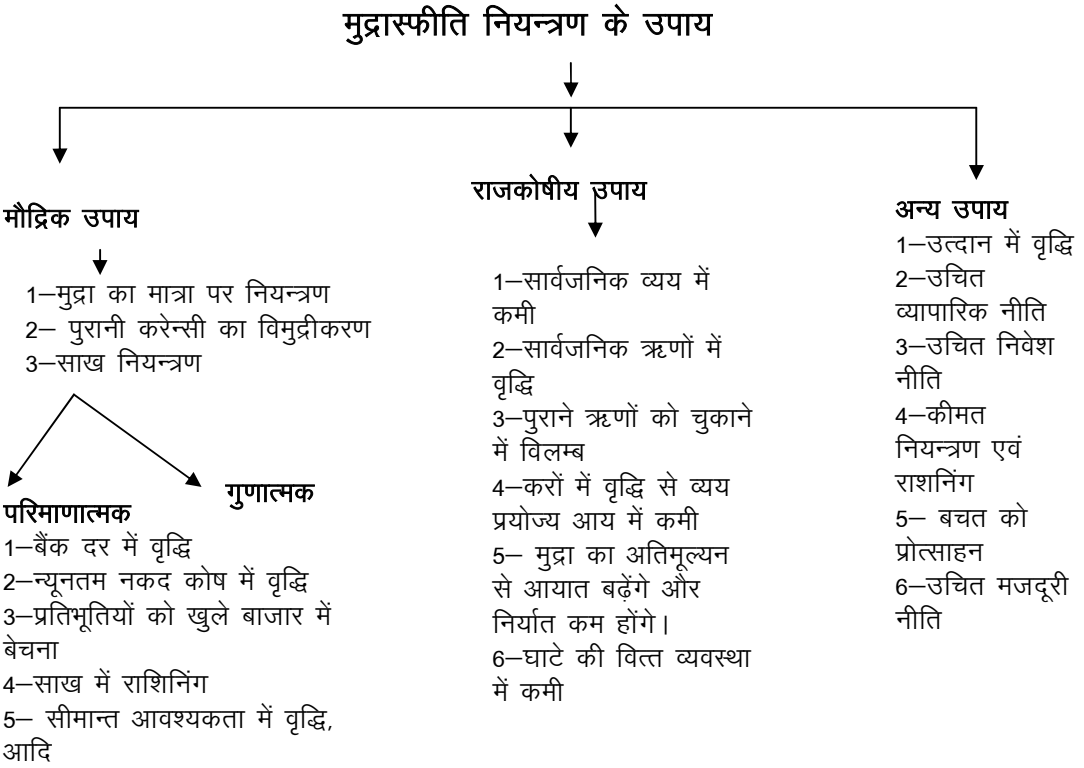


उपरोक्त उपायों द्वारा मुद्रास्फीति को नियन्त्रण किया जा सकता है। यह इसलिये आवश्यक है जिससे कि अर्थव्यवस्था पर इसका हानिकारक प्रभाव न पड़े। सट्टेबाजी को नियन्त्रण करने से मूल्यों का स्तर अनायास बढ़ने से रोका जा सकता है। सरकार भी लाभ वितरण पर प्रतिबन्ध लगाकर हिस्सेदारो के लाभ को उपभोग पर व्यय करने से रोक सकती है। इससे उस सीमा तक मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण सम्भव होगा।

## 6.8 मुद्रा अवस्फीति अथवा मुद्रा संकुचन (Deflation)

मुद्रा अवस्फीति की विपरीत स्थिति को मुद्रा संकुचन कहते है। जब किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमते गिरती है अथवा मुद्रा को मूल्य बढ़ता है तो उसे मुद्रा अवस्फीति की दशा कहते है।

**क्राउथर** के शब्दों में *''मुद्रा संकुचन वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य बढ़ता है और वस्तुओं का मूल्य घटता है।''* यह प्रकार का आर्थिक रोग है जहाँ कीमतों के पतन के फलस्वरूप आय, उत्पादन एवं रोजगार के स्तरों में गिरावट आती है।

## 6.9 मुद्रा अवस्फीति एवं मुद्रा विस्फीति (Deflation and Disinflation)

यह कहना कदापि उचित नही होगा कि मुद्रा के मूल्य में वृद्धि और कीमतों मे कमी मुद्रा संकुचन है। यह एक अस्पष्ट और दोषपूर्ण आशय है। मुद्रा संकुचन के फलस्वरूप आय, उत्पादन, रोजगार आदि के स्तरो में भी गिरावट आती है। यह स्थिति मुद्रा अवस्फीति की होती है। किन्तु यदि कीमतों में गिरावट के परिणामस्वरूप उत्पादन और रोजगार के स्तरों में किसी प्रकार की गिरावट नही आती तब यह स्थिति मुद्रा विस्फीति (Disinflation) की स्थिति कही जायेगी।

मुद्रा संकुचन मूलरूप में सरकारी नीति के कारण ही होता है। जब देश का भुगतान संतुलन निरन्तर पक्ष मे हो, विदेशी से स्वर्ण अथवा पूंजी का निरन्तर आयात होने पर भी न तो मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो और न ही वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने दी जाय तो मुद्रा विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

**प्रो. ए.सी. पीगू**– मुद्रा संकुचन कीमत स्तर में गिरावट की वह अवस्था है जो उस समय उपस्थित होती है जबकि वस्तुओं और सेवाओं की उत्पादन (मुद्रा की मांग) मौद्रिक आय (मुद्रा की पूर्ति) की तुलना में तेजी से बढ़ता है।

सबसे उपयुक्त परिभाषा **पॉल एन्जिंग** द्वारा दी गयी है– ''***मुद्रा अवस्फीति व असन्तुलन को ऐसी स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें क्रय शक्ति का संकुचन कीमत स्तर में गिरावट का कारण या परिणाम होता है।***' मुद्रा अपस्फीति वह प्रक्रिया है जब मुद्रास्फीति की स्थिति को सामान्य स्तर पर लाने के लिये मुद्रा की मात्रा में क्रमशः कमी की जाती है।

दोनों मुद्रा अवस्फीति एवं अपस्फीति का उद्देश्य वस्तुओं के मूल्यों और मुद्रा का मात्रा में कमी करना होता है परन्तु संकुचन की मात्रा आवश्यकता से भी कम कर दी जाती है। जबकि अपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को एक असामान्य ऊँचे स्तर (Extraordinary high level) से कम कर धीरे–धीरे सामान्य स्तर पर लाने की चेष्टा की जाती है।

**कॉलबोर्न** के अनुसार ''***कीमतो, आय तथा व्यय में जो भी गिरावट लाभकारी होगी वह अपस्फीति कहलाएगी।***'

दोनों मुद्रा अवस्फीति और मुद्रा अपस्फीति में निम्नलिखित अंतर है।

1. **उद्देश्य** (Objective)– मुद्रा संकुचन का प्रभाव दे''ा में जहां मंदी की स्थिति उत्पन्न करता है वही मुद्र अपस्फीति मूल्य स्तर की सामान्य अवस्था में लाने के वास्ते की जाती है।
2. **स्वाभाविक अथवा योजनाबद्ध** (Natural or Planned)– मुद्रा संकुचन प्रायः अपने आप स्वतः परिस्थितिवश हो जाता है जबकि मुद्रा अपस्फीति एक निश्चित नीति के अनुसार की जाती है। सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक इसके लिये सक्रिय कदम उठाते है।
3. **मुद्रा की मात्रा** (Quantity of Money)– मुद्रा अपस्फीति मे मुद्रा की मात्रा को घटाकर सामान्य स्तर तक लाया जाता है जबकि मुद्रा अवस्फीति मे मुद्रा की मात्रा सामान्य स्तर से गिरकर बहुत नीचे चली जाती है।
4. **परिणाम** (Consequence)– मुद्रा अपस्फीति के फलस्वरूप देश की सामान्य स्थिति उत्पन्न होती है जबकि मुद्रा संकुचन में मुद्रा की मात्रा सामान्य स्तर से गिरकर बहुत नीचे चली जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक तरफ मुद्रा संकुचन है, जो देश की अर्थव्यवस्था के लिये एक आर्थिक रोग है, हानिकारक है, वही दूसरी ओर मुद्रा अपस्फीति है, जो देश की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिये होती है।

मुद्रा अपस्फीति के लिये सरकारी ऋण पत्रों को बेचकर अथवा नये–नये कर लगाकर चलन से अतिरिक्त मुद्रा कम करने का प्रयास किया जाता है। बचतो को प्रोत्साहन देकर, पूर्ण क्षमता से अधिक उत्पादन करके शीघ्र अतिशीघ्र उसमें वृद्धि करके

मुद्रा का मात्रा के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाता है अन्यथा पुरानी मुद्रा का एक बड़ा भाग रद्द करने के विकल्प भी उठाया जाता है जैसा कि जर्मनी में किया गया था।

यह निश्चित रूप से स्वीकार करने योग्य है कि मुद्रा अपस्फीति सदा बिगड़ी हुयी स्थिति में सुधार लाने के लिये किया जाता है।

## 6.9.1 मुद्रा अवस्फीति के कारण (Causes of Deflation)

1. **मुद्रा की मात्रा में कमी** (Reduction in the Quantity of money)–सरकार द्वारा अपरिवर्तनशील नोटो एवं प्रादिष्ट मुद्रा की प्रचलन को कुछ अंशों में बन्द कर देती है परन्तु नये नोटो को जारी भी नही करती देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जाती है। यह भी संभावना है कि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहे परन्तु वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो मुद्रा संकुचन की दशा उत्पन्न होती है।
2. **बैंक दर में वृद्धि** (Increase in Bank Rate)– केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि के फलस्वरूप साख महंगा हो जाता है। साख की मात्रा कम हो जाने से कीमतो का गिरना प्रारम्भ हो जाता है। और अर्थव्यवस्था में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
3. **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operation)– जब केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियां बेची जाती है तो अर्थव्यवस्था से मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। बैंको में जमा राशि भी कम हो जाती है क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियां खरीदने के लिये लोग अपनी जमा राशि बैंकों से निकालकर इसके लिये भुगतान करते है। साख निर्माण शक्ति कम हो जाने से साख मुद्रा संकुचन हो जाते है।
4. **सरकार का कराधान प्रणाली** (Taxation Policy of the Inflation)– सरकार द्वारा भारी मात्रा में कर लगाने पर सार्वजनिक व्यय के द्वारा इसका प्रयोग भी नही करती तो देश में मुद्रा संकुचन को स्थिति पैदा हो जाती है।
5. **उत्पादन में वृद्धि** (Increse in Producation)– मुद्रा मात्रा में होने वाली वृद्धि के अनुपात में यदि वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि अधिक तेजी से हो तो भी मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जाती है। आयातों में वृद्धि से भी वस्तुओं इस सेवाओं की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

## 6.9.2 मुद्रा अवस्फीति के प्रभाव (Effects of Deflation)

जितना मुद्रास्फीति के दुष्प्रभाव होते है उससे कहीं ज्यादा भंयकर हानिकारक प्रभाव मुद्रा अवस्फीति के कारण हो जाता है। मंदी किसी भी अर्थव्यवस्था को एक धक्का देकर पीछे धकेल देती है। तीसा का महामन्दी इसका एक जीवन्त उदाहरण है। मुद्रा अब स्फीति के विभिन्न प्रभावों के निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते है–

- **उत्पादन एवं रोजगार पर प्रभाव** (Effects on Production and Employment)– मुद्रा अवस्फीति के कारण कीमतों मे निरन्तर गिरावट से व्यवसायिक क्षेत्र में निराशा का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। हानि उठाने के कारण विनियोग एवं उत्पादन की मात्रा घटने लगती है। रोजगार पर विपरीत असर पड़ता है। मजूदरो को कम

कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप व्यापक बेरोजगारी फैलने लगती है। राष्ट्रीय उत्पादन में कमी के कारण जनता को आर्थिक हानि भी उठानी पड़ जाती है।

- **वितरण पर प्रभाव** (Effect on Distribution)– समाज के विभिन्न वर्गो पर मुद्रा संकुचन का प्रभाव निम्नलिखित है–
  1. **उत्पादन एवं व्यापारी वर्ग पर प्रभाव** (Effect on Production and Business Class)– वस्तुओं की कीमतों में गिरावट के फलस्वरूप भी उनकी मांग में वृद्धि नही होती। लोगों की क्रय शक्ति कम हो जाने से उत्पादकों एवं व्यापारियों को पास माल का भारी स्टॉक जमा हो जाता है। जिस गति से वस्तुओं की कीमत में गिरावट होती है उस गति से उत्पादन लागत में कभी नही होती। इन कारणों से लाभ मात्रा कम हो जाती है और उत्पादकों को हानि पड़ जाती है।
  2. **विनियोग वर्ग पर प्रभाव** (Effect on Investment)– मुद्रा अवस्फीति के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के अंश एवं प्रतिभूतियों के मूल्य गिरने लगते है जिससे व्यवसाय मे धन लगाने वाले व्यक्तियों को बहुत हानि होती है। विनियोजको को भारी हानि का सामना करना पड़ता है।
  3. **श्रमिको और वेतनभोगियों पर प्रभाव** (Effect on Worker and Salaried Earness)– जब शुरू मे कीमत गिरती है तो श्रमिक लाभ को स्थिति में होते है क्योंकि उनके मजदूरी दरें यथा स्थिति होता है परन्तु समय के साथ उद्योगपति मजदूरी घटाने के साथ मजदूर की छंटनी भी करने लग जाते हैं। कई मजदूर बेकार हो जाते है और उनकी आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है। साथ ही वेतनभोगियों के लिये भी मुद्रा अवस्फीति की स्थिति हानि की स्थिति उत्पन्न करती है। शूरू में कीमते गिरने से उनको चीजे सस्ती मिलती है पर जब धीरे–धीरे कुछ कर्मियों को रोजगार से हाथ धोना पड़ जाता है कम वेतन लेने को वे बाध्य हो जाते है। शुरू के लाभ हानि मे परिवर्तित हो जाते है।
  4. **उपभोक्ता वर्ग पर प्रभाव** (Effect on Consumer's Class) – उपभोक्ता वर्ग दोनो तरह के होते है एक निश्चित आय वाले और एक अनिश्चित आय वाले। निश्चित आय वाले सीमित व्यय के बदले अधिक मात्रा में वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग कर पाते है लेकिन अनिश्चित आय वाले उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ जाती है क्योंकि उनकी मौद्रिक आय वस्तुओं और सेवाओं की तुलना में अधिक तेजी से गिरती है। स्थिति इतनी विकट हो जाती है जब भुखमरी की नौबत तक आ जाती है।
  5. **ऋण तथा ऋणदाता वर्ग पर प्रभाव** (Effect on Debtors and Creditors) – ऋणदाताओं के लिये ये लाभप्रद स्थिति होती है है क्योंकि मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के मूल्य कम हो जाते है। ऋण में दी गयी मुद्रा की अपेक्षा उनकी अधिक मूल्य वाली मुद्रा प्राप्त होती है। वहीं दूसरी ओर ऋणी के लिये यह हानि की स्थिति होनी क्योंकि उसे अधिक मूल्य वाली मुद्रा को देना पड़ता है।
  6. **कृषक वर्ग पर प्रभाव** (Effect on Agricultural Class) – कृषि वस्तुओं की कीमतें गिर जाने से किसानों को उत्पादन का कम मूल्य मिलता है। आमदनी कम हो जाती है और उन्हें अपने जीवयापन के लिए भी उधार लेना पड़ता है। अधिकांश कारखाने बंद हो जाने से उनके कच्चे माल की मांग और कीमतों में भी भारी गिरावट आ जाती है।

7. **सार्वजनिक ऋणो के भार में वृद्धि** (Increase in the Burden of Public Debt)– मौद्रिक आय में गिरावट से करदाताओं को मुद्रा के रूप में कम राशि का भुगतान करना पड़ता है। मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाने के कारण वस्तुओं और सेवाओं के रूप में कर का भार बढ़ जाता है। कृषि पदार्थो के मूल्यों मे मे तेजी से गिरावट से उनकी मौद्रिक आय कम हो जाती है जिससे वह अपना उधार चुका नही पाते। सरकार पर भी ऋण की अदायगी का भार बढ़ जाता है। पुराने ऋणो का भुगतान करने के लिये सरकार नये ऋण ले लेती है। अतः का भार बढ़ जाता है।
8. **बैंकिग व्यवसाय का चरमराना** (Crashing Down of Banking Business)– अर्थव्यवस्था मे मंदी होने से व्यावसायिक क्षेत्र में भारी निराश उत्पन्न हो जाती है। बैंक का व्यापार कार्य ठप्प हो जाता है। ऋण की मांग भी कम हो जाती है क्योंकि निवेश प्रभावित है। पुराने ऋणों की वसूली कठिन हो जाती है। जनता बैंको से अपनी जमारशियां निकालने लगती है। अनेक बैकिंग संस्थाएँ इस कारण धराशायी हो जाती है।
9. **विदेशी व्यापार पर प्रभाव** (Effect on Foreign Trade)– घरेलु कीमत स्तर नीचा हो जाने के कारण निर्यात की प्रोत्सान मिला है ओर आयात हतोत्साहित होते है। परिणामतः देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जाता है। स्वदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।
10. **सामाजिक नैतिक एवं राजनैतिक प्रभाव** (Social, Moral and Political Effects)– व्यापक बेराजेगारी और भुखमरी को जन्म देकर मुद्रा अवस्फीति सामाजिक अपराधों को नियन्त्रण देती है। मजदूरी में कटौती और उनकी छंटनी से मालिक मजदूर के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह सत्य है कि दीर्घकालीन अवस्फीति भी सामाजिक क्रान्ति को नियन्त्रण दे सकती है।

## 6.9.3 मुद्रा अवस्फीति के उपाय (Measures to Control Deflation)

अ) सरकार द्वारा नीति संबंधी उपाय (Policy Measures by govt.)–

1. नये निर्माण कार्य से रोजगार एवं आय मे वृद्धि करना।
2. ऋणो की वापसी से जनता और बैंको में रकम की वृद्धि होना।
3. आर्थिक सहायता से रोजगार की संभावना को बढ़ाना।
4. करों में छूट से जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि करना।
5. निर्यतों का प्रोत्साहन से अतिरिक्त वस्तुओं का मात्रा को कम करना।
6. सरकार द्वारा माल की खरीद से मूल्य की स्थिरता को बनाये रखना।
7. विदेशी पूंजी को प्रोत्साहन से नयी पूंजी का बाजार में आना।

## 6.10 मुद्रा संस्फीति (Reflation)

मुद्रा संस्फीति ऐसी स्थिति है जब संकुचन के कारण बिगड़ी अर्थव्यवस्था की हालत सुधारने के लिये जानबूझकर साख और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके वस्तु मूल्यों में वृद्धि करने का कार्य किया जाता है।

**कोल** (G.D.H Cole) के शब्दों में *''संस्फीति का तात्पर्य उस स्फीति से लिया जा सकता है जो कि मंदी के प्रभावों को दूर करने के लिये जानबूझकर की जाती*

***है।''Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to release a depression.''***

मुद्रा स्फीति में जहां साख और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि परिस्थिति होती है वही मुद्रा संस्फीति तो हमेशा जानकर मुद्रा संकुचन से बिगड़ी हुयी स्थिति में सुधार करने के लिये की जाती है। मुद्रा संस्फीति का उद्देश्य संकुचन की अवस्था में सुधार लाना है। इससे अर्थव्यवस्था में सन्तुलन का स्थिति उत्पन्न होती है। जानबूझकर मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से उसे निश्चित सीमा पर रोका भी जा सकता है। देश की अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से इस कार्य को किया जाता है।

### 6.10.1 मुद्रा संस्फीति के नियन्त्रण के उपाय (Measures to Control Reflation)

सरकारी बजटों में घाटा दिखाकर अधिक मुद्रा चलन में डाला जा सकता है। साथ ही साथ सरकारी निर्माण कार्यों की गति तेज कर के अधिक मुद्रा चलन में लाई जा सकती है। और रोजगार की मात्रा को बढ़या भी जा सकता है। केन्द्रीय बैंक बैंक दर कम कर दे जिससे कि व्यवसायिक बैंक भी बाजार ब्याज की दर कम करवाकर साख की सस्ती दर पर उपलबध करवा सकें।

उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हेतु सहायता एवं प्रोत्साहन दिया जाय जिससे औद्योगिक वर्ग में अधिक उधार लेने तथा अधिक पूँजी लगाने की संभावना मिल जाती है। पूंजी विनियोग के लिये करों में छूट तथा अन्य सुविधा देने से निवेशको भी प्रोत्साहन मिलता है और अर्थव्यवस्था पुनः स्थायित्व की ओर अग्रसर हो जाती है।

## 6.11 स्फीतिबद्ध गतिरोध अथवा निस्पन्द स्फीति या स्फीति गतिहीनता (Stagflation or Inflationary Stagnation)

मुद्रा स्फीति वर्तमान की सबसे बड़ी आर्थिक समस्या है। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षो में संसार के अधिकांश देशों में तेजी से जो आर्थिक विकास हुआ, वह विशेष रूप से 1973 के बाद, औद्योगिक देशों की अर्थव्यवस्था को एक नये आर्थिक संकट के समक्ष लाकर खड़ा कर दिया। मुद्रास्फीति की दर का अत्यधिक ऊँचा होता, और आर्थिक विकास की गति एकाएक एक जाने से सुस्ती की स्थिति उत्पन्न हो गयी जबकि एक तरफ कीमतों में तेजी से वृद्धि होने लगी।

इस स्थिति का व्यक्त करने के लिये Stagflation शब्द का प्रयोग किया गया। Stagflation दो शब्दों से मिलकर बना है। Stagnation + Inflation जब विकास में स्थिरता और आर्थिक निष्क्रियता के साथ स्फीति मौजूद हो। निस्पन्द स्फीति सामान्य बेरोजगारी तथा मुद्रास्फीति का सम्मिलित रूप है जहां मुद्रास्फीति एवं सुस्ती दोनों साथ–साथ रहते है। मजदूरी दरों में वृद्धि होने के बावजूद लोगों का रोजगार मिलने में कठिनाई होती है। मांग भी बढ़ती हुयी नही दीखती है। बिक्री में कमी हो जाती है।

स्फीतिक गतिहीनता या स्फीतिबद्ध गतिरोध और स्फीतिक सुस्ती एक दूसरे के पर्यायवाची माने जाते है। कीमतों का एक तरफ निरन्तर बढ़ना एवं बेरोजगारी में कोई कमी

आना किसी भी अर्थव्यवस्था के लिये एक चुनौतिपूर्ण स्थिति है। अनेक देश ऐसे ही विकास एवं रोजगार की स्थिति से ग्रसित है। व्यापक बेरोजगारी में कमी करने के प्रयासों में सफलता नही मिली है।

विकासशील देशो में निस्पनद स्फीति से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें कीमतें तो बढ़ रही है परन्तु कुल उत्पादन में वृद्धि की दर बहुत कम है। चूँकि कृषि क्षेत्र में वृद्धि की स्थिति ही वास्तविक स्थिति को व्यक्त करती है। मुद्रास्फीति एवं औद्योगिक सुस्ती का सम्मिश्रण ही स्फीतिबद्ध गतिरोध की स्थिति की स्पष्ट व्याख्या है।

## 6.11.1 निस्पन्द स्फीति के कारण (Casuses of Stagflation)

1. मुद्रा की मात्रा मे तीव्र गति से वृद्धि
2. धनी देश के विदेशी व्यापार में घाटा
3. मजदूरी की दरों मे अप्रत्याशित वृद्धि
4. प्राकृतिक कारण जैसे बाढ़ सूखा आदि
5. स्वर्ण के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि

**प्रो. सेम्यूलसन** के अनुसार, ***निस्पन्द स्फीति का प्रमुख कारण विकासशील एवं अल्प विकसित देशों में निरन्तर सूखा, बाढ़ आना है जिस कारण उत्पादन कम हो जाता है और मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।*** इसी प्रकार तेल और कोयले की कीमतों में भी वृद्धि हुयी है। साथ ही रोजगार और उत्पादन की स्थिति में सुधार हुआ है।

## 6.11.2 स्फीतिबद्ध गतिरोध को नियन्त्रित करने के उपाय (Measures to Control Staflation)

स्फीतिबद्ध गतिरोध किसी भी अर्थव्यवस्था के लिये एक गहरी सोंच एवं चिंता का विषय है। मूल्यों के साथ बेरोजगारी वृद्धि देश के आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त हानिकारक होती है। अतः इसका नियन्त्रण नितान्त आवश्यक है। सामान्य रूप से निस्पन्द स्फीति को दूर करने के वही उपाय है जो मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने हेतु अपनाऐं जाते है। ध्यान देने वाला यह है कि इससे अर्थव्यवस्था में गतिशीलता आ सके और कीमतों में वृद्धि थम सके।

निम्नलिखित कुछ उपाय उपयोगी सिद्ध हो सकते है–

1. **उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Production)– बेरोजगारी की स्थिति को ध्यान में रखते हुये उत्पादन को बढ़ाना चाहिये पर कोई भी ऐसी पूंजी गहन तकनीक का प्रयोग न किया जाना चाहिये जिससे बेरोजगारी में वृद्धि हो। रोजगार बढ़ाने के प्रयास से अधिक उत्पादन किया जाय जिससे अधिक कर्मियों एवं मजदूरों को रोजगार उपलब्ध हो सके।
2. **आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर समष्टि आर्थिक नीति** (Macro Economic Policy keeping in mind the economic development)– ऐसी समष्टि आर्थिक नीति अपनानी चाहिये जिससे अर्थव्यवस्था का तीव्र गति से विकास संभव हो सके, अर्थव्यवस्था में उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो सके जिससे कि वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन बढ़ाया जा सके।

3. **मुद्रा स्फीति पर कठोर नियन्त्रण** (Tight Control on Inflation)– यह नितान्त आवश्यक है कि आर्थिक विकास के उपायों के साथ बढ़ती कीमतों को नियन्त्रित किया जा सके। सरकार एवं केन्द्रीय बैंक द्वारा उचित मौद्रिक नीति अपनाकर इसे सफल बनाकर ऊँची कीमतों को बढ़ने से रोका जाय।
4. **भुगतान संतुलन बनाये रखना** (To Maintain Balance of Payment)– भुगतान असंतुलन किसी भी अल्पविकसित दांव विकासशील देशों के तिथि चिंता का विषय है। इसका दश के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः ऐसे देश के लिये यह आवश्यक है कि निर्यातों में वृद्धि के सफल उपाय खोजे और बढ़ती आयातों की मात्रा को नियन्त्रित कर सके।
5. **देश के साधनों का दोहन** (Explotation of Country's Resources)– उत्पादन वृद्धि के लिये आयतित साधनों पर निर्भर न रहकर देश के ही साधनों का पूर्ण दोहन किया जाना चाहिये। इससे यह लाभ होगा कि आयातों पर भारी व्यय नही करना पड़ेगा। देश के साधनों का भी सही उपयोग होगा। इस प्रकार देश में रोजगार की मात्रा को भी बढ़ाया जा सकता है।
6. **निवेश की उचित नीति** (Proper Policy for Investment)– विकासशील देशो में निवेश के लिये पर्याप्त पूंजी उपलब्ध न होने के कारण उत्पादन प्रभावित होता है। बचत के माध्यम से पूंजी का संग्रह कर उसका विनियोग इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे शीघ्र प्रतिफल प्राप्त हो सके।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त जनसंख्या का नियन्त्रण श्रमिकों का प्रशिक्षण बैंकिग संस्थाओं का विस्तार आदि ऐसे उपाय है जिससे निस्पन्द स्फीति को रोका जा सके।

## 6.12 सारांश (Summary)

मुद्रास्फीति हो या अवस्फीति या कोई और प्रकार, अर्थव्यवस्था पर इनका प्रभाव पड़ने के कारण इनका अध्ययन महत्वपूर्ण है। विकासशील एवं अर्द्धविकसित देशों में जहाँ मुद्रास्फीति से लोग प्रभावित होते है वही सुस्ती और बेरोजगारी भी एक समस्या बनी हुयी है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन जिससे कि सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन होता है, किसी भी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है। एक अर्द्धविकसित देश की अर्थवयवस्था अलग तरह प्रभावित होती है और एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति की समस्या भिन्न है।

सामान्यतः कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर वृद्धि को मुद्रा स्फीति कहते है। अर्थव्यवस्था में मूल्य स्तर वृद्धि की दरों उनके प्रभावों तथा प्रमुख प्रकार को वर्गीकृत किया जा सकता है । कारण के आधार पर गति के अनुसार समय के अनुसार आकार के अनुसार नियन्त्रण के अनुसार आदि के रूप में मुद्रास्फीति को वर्गीकृत किया जा सकता है । मुद्रास्फीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारणों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है– मांग पक्ष एवं पूर्ति पक्ष

मूल्य वृद्धि से हर आय वर्ग के लोगों पर अलग–अलग प्रभाव पड़ता है। देश की आम जनता खुद को और भी निम्न वर्ग का महसूस करने लगती है। रोजगार पर प्रभाव अनुकूल होता है क्योंकि उत्पादको को लाभ होता है जिससे वे अधिक उत्पादन करते है बचतो की सम्भावना कम हो जाती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। मुद्रास्फीति एक बाधक के रूप में कार्य करती है जब आयात कम करके निर्यात को प्रोत्साहन करना होता है। ऐसे में भुगतान संतुलन की स्थिति और भी जटिल हो जाती है। स्फीति का हानिकारक प्रभाव सामाजिक एवं राजनैतिक स्तर पर आर्थिक प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। मुद्रास्फीति नियन्त्रण के मौद्रिक उपाय राजकोषीय उपाय एवं अन्य उपाय है। मुद्रा अवस्फीति की विपरीत स्थिति को मुद्रा संकुचन कहते है। मुद्रा संकुचन के फलस्वरूप आय, उत्पादन, रोजगार आदि के स्तरो में भी गिरावट आती है। यह स्थिति मुद्रा अवस्फीति की होती है। किन्तु यदि कीमतों में गिरावट के परिणामस्वरूप उत्पादन और रोजगार के स्तरों में किसी प्रकार की गिरावट नही आती तब यह स्थिति मुद्रा विस्फति की स्थिति कही जायेगी।

मुद्रा संकुचन का प्रभाव देश में जहां मंदी की स्थिति उत्पन्न करता है वही मुद्र अपस्फीति मूल्य स्तर की सामान्य अवस्था में लाने के वास्ते की जाती है । मुद्रा संस्फीति ऐसी स्थिति है जब संकुचन के कारण बिगड़ी अर्थव्यवस्था की हालत सुधारने के लिये जानबूझकर साख और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके वस्तु मूल्यों में वृद्धि करने का कार्य किया जाता है। निस्पन्द स्फीति सामान्य बेरोजगारी तथा मुद्रास्फीति का सम्मिलित रूप है जहां मुद्रास्फीति एवं सुस्ती दोनों साथ–साथ रहते है। मजदूरी दरों में वृद्धि होने के बावजूद लोगों का रोजगार मिलने में कठिनाई होती है। मांग भी बढ़ती हुयी नही दीखती है। बिक्री में कमी हो जाती है।

## 6.13 शब्दावली

- मुद्रा प्रसार– किसी देश की अर्थव्यवस्था में मुद्रा का अधिक मात्रा में होना
- दीर्घकालीन – लम्बी समय अवधि
- पूर्ण स्फीति – स्फीति की वह स्थिति जब पूर्ण रोज़गार होने के कारण उसका प्रभाव सिर्फ कीमतों पर पडता है
- अर्द्ध स्फीति – पूर्ण रोज़गार से पहले की स्थिति अति मुद्रास्फीति– Hyper inflation
- प्रतिबंधित – दबा हुआ
- रेंगती – धीमी गति से चलती हुई
- मुद्रा संकुचन – मुद्रा की मात्रा में कमी
- आर्थिक सहायता – अनुदान
- अत्युत्पादन – पर्याप्त मात्रा से अधिक उत्पादन

## 6.14 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1– मुद्रा स्फीति में मुद्रा का मूल्य ..... है।

2– स्फीति दशाओ में ऋणी को ..... होता है।

3– मुद्रा स्फीति ..... है और मुद्रा सकथन ..... है।

4– केन्स के अनुसार, पूर्ण रोजगार स्तर से पहले प्राप्त होने वाली स्थिति ..... है।

5– मुद्रा संकुचन का भुगतान संतुलन पर ..... प्रभाव पड़ता है।

6– निस्पंद स्फीति का संकट वर्ष ..... के बाद प्रारम्भ हुआ है।

उत्तर– 1) घटता, 2) लाभ, 3) अन्यायपूर्ण, 4) आंशिक स्फीति, 5) धनात्मक, 6) 1973

## 6.15 संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. डा0 जे0सी0 पन्त एवं जे0पी0 मिश्रा – अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डॉ0 एस0एन0 गुप्ता– मुद्रा बैंकिग एवं राजस्व, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. डॉ0 टी0टी0 सेठी– मुद्रा बैकिंग एवं अन्राष्ट्रीय व्यापार लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. डॉ0 एम0एल0 निगम– समष्टि अर्थशास्त्र, वृदा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
5. डॉ0 एच0एल0 आहूजा– उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त, एस0 चन्द एण्ड, नई दिल्ली।


## 6.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा स्फीति क्या है? समाज के विभिन्न वर्गो पर इसके प्रभाव लिखिये।
2. मुद्रास्फीति अवांछनीय क्यों मानी जाती है? नियन्त्रित करने के क्या उपाय है।
3. संस्फीति एवं स्फीति में क्या अन्तर है? एवं अपस्फीति के बीच अंतर को स्पष्ट कीजिये।
4. स्फीतिबद्ध गतिरोध से क्या अभिप्राय है? इसके कारणों तथा प्रभावों की व्याख्या कीजिये।

# इकाई – 7 वाणिज्यिक बैंकिंग – अर्थ, कार्य एवं विकास

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 वाणिज्यिक बैंकिंग : अर्थ एवं वर्गीकरण
7.4 वाणिज्यिक बैंकों के कार्य
7.5 वाणिज्यिक बैंकों का विकास
7.5.1 स्वतंत्रता से पूर्ण वाणिज्यिक बैंकों का विकास
7.5.2 स्वतंत्रता के बाद वाणिज्यिक बैंकों का विकास
7.6 वाणिज्यिक बैंकों की समस्याएँ
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 लघु उत्तरीय प्रश्न व प्रश्नों के उत्तर
7.10 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
7.12 सहायक संदर्भ ग्रंथ सूची

## 7.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई खण्ड तीन, 'वाणिज्यिक बैंकिंग' की सातवीं इकाई है, जो 'वाणिज्यिक बैंकिंग–अर्थ, कार्य एवं विकास से सम्बन्धित' है। जिसमें वाणिज्यिक बैंकों के आशय व कार्यों को जानने के साथ–साथ इनके विकास की प्रक्रिया को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा। वाणिज्यिक बैंकिंग का मूल आधार मुद्रा के हस्तान्तरण में एक माध्यम बनकर अपना व्यवसाय चलाना है तथा उससे लाभ प्राप्त करना है। प्रारम्भ में इन बैंकों का कार्य व्यापारिक कार्यों तक ही सीमित था लेकिन वर्तमान में जनता के आर्थिक हितों को सुरक्षित करने की जिम्मेदारी इन बैंकों द्वारा स्वीकार की गयी है। इस आधार पर इन वाणिज्यिक बैंकों का विकास अलग–अलग क्रमों में हुआ है तथा उसकी गति भी समयानुसार बदलती रही है।

प्रस्तुत इकाई का वाणिज्य बैंकों के साथ–साथ व्यापारी वर्ग के व सामान्य जनता से भी सम्बन्ध है। इसीलिए इस इकाई के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को अत्यधिक उपयोगिता प्रदान की जा सकती है। इसके साथ आप वाणिज्यिक बैंकों के विकास की गति को प्रभावित करने वाले कारणों का भी अध्ययन करेंगे। बैंकों के शाखा विस्तार की गति एवं दिशा का भी अध्ययन किया जायेगा।

## 7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भंली–भांति समझ सकेंगे कि–

- ✓ वाणिज्यिक बैंकिंग क्या है तथा इसकी स्थापना का मूल उद्देश्य क्या है? ये बैंक कितने प्रकार के होते हैं?
- ✓ वाणिज्यिक बैंक किसके लिए, क्या कार्य करते हैं तथा वर्तमान में इनकी क्या उपयोगिता है? क्या ये वाणिज्यिक बैंक हमारे लिए भविष्य में भी उपयोगी सिद्ध होंगे?
- ✓ देश के आजाद होने से पूर्व वाणिज्यिक बैंकों का विकास किस प्रकार हुआ तथा आजादी के बाद बैंकों के विकास में क्या परिवर्तन आया?
- ✓ सरकार द्वारा किये गये लगातार बैंकिंग सुधार प्रयासों के बाद भी ये वाणिज्यिक बैंक अनेक समस्याओं का सामना किस प्रकार कर रहे हैं?

## 7.3 वाणिज्यिक बैंकिंग : अर्थ एवं वर्गीकरण

आपको वाणिज्यिक बैंकिंग के नाम से यह आभास हो रहा होगा कि 'बैंकिंग' शब्द के साथ वाणिज्यिक शब्द क्यों लगाया गया है? अतः आपको नाम से ही थोड़ा अनुमान लगाना होगा कि वाणिज्यिक बैंकिंग का सम्बन्ध वाणिज्यिक क्रियाओं से अवश्य है। सामान्य रूप से वाणिज्यिक बैंकिंग के अन्तर्गत बैंक शामिल किये जाते है, जो जनता की बचतें एकत्रित करते हैं तथा उन्हें बड़ी तथा छोटी औद्योगिक एवं व्यापारिक इकाईयों को उधार लेकर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज पर व्यावासायिक लोगों को उधार देते हैं तथा लाभ कमाते हैं। वर्तमान में वाणिज्यिक बैंक व्यावासायिक व्यापारिक कार्यों के साथ गैर–व्यापारिक कार्यों में भी संलग्न हैं तथा विकासात्मक कार्यों में रूचि प्रकट कर रहें हैं। सारांश रूप में वाणिज्यिक बैंकिंग का मूल आधार लाभ कमाना है।

**प्रो0 चैण्डलर** के अनुसार इन बैंकों को वाणिज्यिक बैंक के नाम से न पुकारकर अन्य नाम से पुकारा जाना चाहिए। इन्होंने इन बैंकों को वाणिज्यिक बैंक कहना अनुचित तथा भ्रामक बताया। इन बैंकों के पास सामान्यतः अल्पकालीन राशियां ही जमा होती हैं इसीलिए ये अल्पकाल के लिए ही ऋण देने में समर्थ होती हैं। वाणिज्यिक बैंक कहलाने वाली बैंकिंग संस्थाओं के कार्यों का विस्तार हुआ है। वर्तमान में इन वाणिज्यिक बैंकों द्वारा केवल व्यापारिक कार्यों के लिए ही ऋण नहीं दिया जाता बल्कि कृषि तथा औद्योगिक विकास के लिए भी ऋण उपलब्ध कराती है। इसके अतिरिक्त ये बैंक चैकों के भुगतान, बचत को प्रोत्साहन तथा अनेक प्रकार के कार्यों द्वारा अपने ग्राहकों की सेवा करते हैं। इन वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन एक महत्वपूर्ण कार्य है जो इनकी प्राथमिक जमाओं पर निर्भर करता है। इन बैंकों द्वारा सृजित साख विनिमय माध्यम का कार्य करती है। ये बैंक नये नोट नहीं छापती है और न ही सिक्के ढालती है। इसीलिए चैण्डलर ने इन बैंकों को चैक जमा बैंक (Cheque Deposit Bank) कहना उचित समझा। लेकिन व्यापारिक या वाणिज्यिक बैंक नाम अधिक प्रचलित हुआ है। सामान्य रूप से जनता द्वारा कहा जाने वाला बैंक का अभिप्राय ही वाणिज्यिक बैंक है।

भारत में वाणिज्यिक बैंकों का वर्गीकरण निम्न रूप में किया गया है।

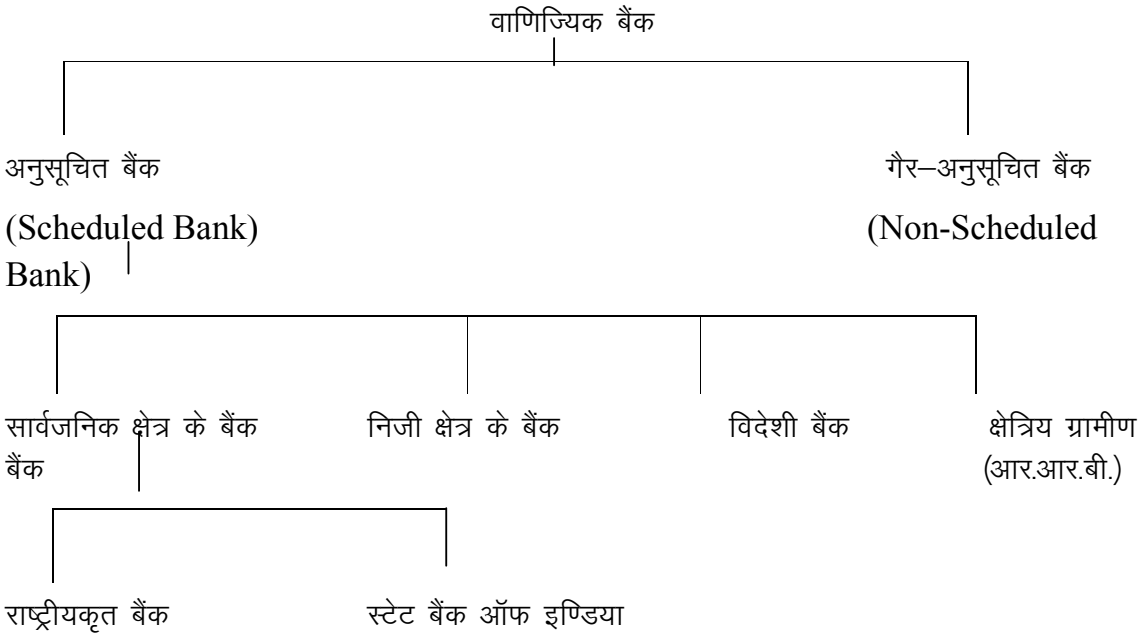


**<u>अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक–</u>** भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम के अधीन वाणिज्यिक बैंकों को दूसरी अनुसूची में शामिल किया गया है। उन्हें अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक कहा जाता है। इन बैंकों की प्रदत्त पूंजी तथा संचित राशि रू.5 लाख से कम नहीं होनी चाहिए तथा इन बैंकों द्वारा भारतीय रिजर्व बैंकों को इस बारे में संतुष्ट करना होता है कि इनका कार्य कलाप जमा कर्त्ताओं के हितों के अनुरूप किया जा रहा है इन बैंकों की स्थापना संयुक्त पूंजी कम्पनी के रूप में होती है न कि एकल व्यापारी साझा फर्म के रूप में। इन अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को अपनी जमा का एक निश्चित अंश भारतीय रिजर्व बैंक के पास नकद रूप में रखना होता है तथा इनको भारतीय रिजर्व बैंकों के पास समय–समय पर बैंकिंग अधितनयम, 1949 के अन्तर्गत विवरण–पत्र भी भेजना होता है।

**गैर–अनुसूचित बैंक–** गैर–अनुसूचित बैंकों से हमारा तात्पर्य ऐसे बैंकों से है जिन्हें भारतीय रिजर्व बैंकों अधिनियम 1934 की दूसरी अनुसूची में सम्मिलित नहीं किये गये हैं तथा ये बैंकों वैधानिक नगद आरक्षण आवश्यकताओं के अधीन हैं गैर–अनुसूचित बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंकों के पास एक निश्चित राशि नहीं रखनी होती है। ये बैंक अपने पास ही नगद राशी रखते हैं। इन बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंकों से उधार लेने तथा रियायती प्रेषण की सुविधा प्राप्त नहीं है।

**क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक** – क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना दूर–दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाऐं पहुँचाने के लिए की गयी थी जहाँ पहले से बैकिंग सेवाऐं उपलब्ध नहीं थी। प्रारम्भ में वर्ष 1975 में 5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी थी जो मुरादाबाद, गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), भिवानी (हरियाणा), जयपुर (राजस्थान) तथा मालदा (पश्चिमी बंगाल) में स्थापित की गयी। इनकी स्थापना देश में वैयक्तिक राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंकों के प्रायोजन पर की गयी। इन बैंकों का उद्देश्य छोटे तथा उपेक्षित किसानों, कृषि मजदूरों, दस्तकारों और छोटे उद्यमियों को ऋण उपलब्ध कराना था ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन सम्बन्धी क्रियाकलापों को बढ़ावा मिल सके तथा ग्रामीणों को स्थानीय स्तर पर रोजगार सृजित हो सके। इन बैंकों की स्थापना ऐसी संकल्पना पर की गयी थी जिसमें सहकारी और वाणिज्यिक दोनों प्रकार की विशेषताऐं विद्यमान हो सकें।

अप्रैल 1997 से प्राथमिक क्षेत्र को ऋण देने का कार्य भी इन क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को सौंप दिया गया। कुछ स्थितियों के साथ क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को रूपयों में अनिवासी खाते खोलने और रखने की स्वीकृति दी गयी। इन बैंकों को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए सितम्बर 2005 में इन बैंकों को चरणवद्ध तरीके से आपसी विलय करने की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया गया। 31 मार्च 2010 में इन बैंकों की संख्या 82 थी जिसमें 46 विलयीकृत तथा 36 पृथक बैंक शामिल थीं। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक सिक्किम और गोवा के अलावा सभी राज्यों में कार्यरत हैं। 1987 के बाद कोई क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक नहीं खोला गया है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की कार्यप्रणाली में सुधार हेतु सरकार द्वारा अनेक समितियां गठित की गयी जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

दान्तेवाला समिति का गठन 1977 में किया गया था। इस समिति ने क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के संगठनात्मक ढाँचे में सुधार एवं कार्यों में संशोधन करके इनकी संरचना को और अधिक सुदृढ़ करने का सुझाव प्रस्तुत किया। इसी क्रम में 1979 में क्रेफिकार्ड समिति का गठन किया गया। इस समिति ने ग्रामीण साख को सुदृढ़ करने में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के महत्व को रेखांकित किया। इस समिति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बहुउद्देश्यीय एजेन्सी के रूप में ग्रामीण बैंकों की भूमिका को बढ़ाया जिससे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का क्षेत्र व्यापक हो सका। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कार्यप्रणाली को और अधिक महत्वपूर्ण बनाने के लिए 1989 में खुसरो समिति का गठन किया गया। इस समिति के आधार पर बैंकिंग सेवाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में दूर दराज तक ले जाने का उल्लेखनीय कार्य किया।

उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के दौर में इन बैंकों को और अधिक उपयोगी बनाये जाना आवश्यक समझा गया। इस संदर्भ में वर्ष 2004 में केलकर समिति का गठन किया गया। इस समिति ने क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के उद्देश्यों की पुनः समीक्षा की तथा अपनी सिफारिशों में प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के पूंजी आधार को बढ़ाने का सुझाव दिया गया। वर्तमान में देश के ग्रामीण क्षेत्रों के विकास हेतु ये बैंक बढ़ चढ़ कर कार्य कर रहे हैं।

## 7.4 वाणिज्यिक बैंकों के कार्य

वणिज्यिक बैंकों द्वारा संपादित किये जाने वाले कार्यों को निम्न लिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **बैंक जमा–** वाणिज्यिक बैंक सीधे तौर पर जनता या ग्राहकों के सम्पर्क में रहते हैं इसी लिए लोगों की बचत या अन्य स्त्रोतों से प्राप्त रूपये को जमा करते हैं। आपको यहां पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये बैंक खाता प्रणाली के अत्तर्गत ही लोगों के रूपयों को अपने यहां जमा करते हैं। वाणिज्यिक बैंक तीन प्रकार की जमाऐं करते हैं 1. बचत जमा, 2. चालू जमा तथा 3. मियादी जमा।

   **प्रथम प्रकार** की जमा करने के लिए उस व्यक्ति के नाम बैंक में बचत खाता खोला जाता है तथा इस खाते में ही वह व्यक्ति अपनी बचतों को जमा करता रहता है। आवश्यकता पड़ने पर इस बचत जमा को निकाल कर अपने कार्य सम्पादित करता है। इस प्रकार की जमा धनराशि पर बैंकें ग्राहक को एक निर्धारित ब्याज भी देता है। इस खाते से सप्ताह में केवल दो बार रूपये निकाला जा सकता है।

   **द्वितीय प्रकार** के अत्तर्गत बैंकों द्वारा जनता तथा व्यापारियों से चालू जमा प्राप्त करती हैं। इस प्रकार की जमाओं को कुछ ही समय बाद निकाला जा सकता है। इस प्रकार की जमाऐं वाणिज्यिक या व्यापारिक कार्यों के लिए की जाती है। इस प्रकार की जमाओं पर बैंक द्वारा बहुत कम ब्याज दी जाती है।

   **तीसरे प्रकार** से वाणिज्यिक बैंक मियादी जमा प्राप्त करती हैं। मियादी जमाऐं दीर्घकाल के लिए पूर्व निर्धारित समयावाधि के लिए ली जाती है। इस समयअवधि से पूर्ण जमा राशि को निकाला नहीं जाता है। आवश्यकता पड़ने पर इस मियादी जमा पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है। इसी लिए इस प्रकार की जमाओं पर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज दी जाती है। यह मियादी जमा बैंकिंग साख–सृजन तथा मांग की पूर्ति के लिए अत्यधिक उपयोगी होती है।

2. **बैंक उधार–** वाणिज्यिक बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऋण देना है। ये बैंक सामान्य स्तर पर व्यापारिक क्रिया–कलापों के उद्देश्य हेतु ऋण देती हैं लेकिन यह ऋण अल्पकालीन होता है जैसे– तीन माह, छः माह या एक वर्ष के लिए। जब किसी व्यक्ति या व्यापारी को रूपये की आवश्यकता होती है तब वह बैंक में सम्पर्क करता है, बैंक को यह पूर्ण विश्वास हो जाय कि बैंक की शर्तो पर ऋण की वापसी हो जायगी तथा ऋण का प्रयोग उद्देश्यपूर्ण होगा तो बैंक उसे ऋण प्रदान करती है। बैंक इस ऋण पर सामान्यत जमा ब्याज से अधिक ब्याज वसूल करती है। आपको यहां पर यह भी बताना अत्यन्त आवश्यक है कि बैंक इस उधार देने वाली राशी के बदले में जमानत लेती है जैसे– जमीन, मकान तथा अन्य परिसम्पत्ति से सम्बन्धित कागजात आदि।

3. **वस्तुओं की सुरक्षा सम्बन्धित कार्य–** बचत जमा तथा ऋण उपलब्धता के अलावा वाणिज्यिक बैंक जनता की मूल्यवान वस्तुओं की भी सुरक्षा करता है। वाणिज्यिक बैंकों में लॉकर्स की व्यवस्था की गयी है जिसमें लोगों के सोने–चाँदी के गहने व दूसरी अन्य मूल्यवान वस्तुऐं रखी जाती हैं। बैंक इन लोगों से वस्तुओं की सुरक्षा हेतु कुछ किराया स्वरूप धनराशि भी वसूलता है। लॉकर्स की एक चाभी ग्राहक के पास

तथा एक चाभी बैंक के पास रहती है। व्यक्तियों को उनकी समस्याओं से खोने, रख–रखाव तथा चोरी जैसी समस्याओं से छुटकारा मिल जाता है।

4. **विकासात्मक कार्यों में सहयोग–** वर्तमान में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा विकासात्मक कार्यों में अत्यधिक सहयोग किया जा रहा है। सरकारी योजनाओं के क्रियसन्वयन में वित्तीय समावेशन बड़े स्तर पर किया जा रहा है। विकास सम्बन्धी योजनाओं को सीधे तौर पर वाणिज्यिक बैंकों से जोड़ा गया है तथा इन विकास योजनाओं में वित्तीय गड़बड़ी रोकने के लिए बैंकों का सहयोग लिया जा रहा है। तथा बैंकों द्वारा अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करने का प्रयास किया गया है। सरकार कर्मचारियों का वेतन वित्तरण, धन का शीध्र हस्तात्तरण, सरकारी कार्यों तथा अन्य प्रपत्रों की विक्री का कार्य वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किया जा रहा है। इसके साथ बीमा किस्तों का भुगतान, चालान जमा करना, सरकारी बॉण्ड खरीदना तथा उनके आदेशानुसार वेचना आदि कार्यों में वणिज्यिक बैंकों की सहभागिता बढ़ी है।

5 **हामीदारी (Under writing)–** वाणिज्यिक बैंकों द्वारा हामीदारी भी की जाती है। ये बैंक नये हिस्सों, विशेषकर ऋण पत्रों तथा अधिमान हिस्सों की हामीदारी करते हैं इसके लिए वाणिज्यिक बैंकों द्वारा व्यापारी बैंकिंग स्थापित किये हैं। ये भारतीय औद्योगिक घरानों और विदेशी फर्मों के बीच स्थगित भुगतान समझौते कराने का कार्य करते हैं। वाणिज्यिक बैंक अनुषंगी कम्पनियों द्वारा एक बड़े ग्राहक समूह को बहुत सी सेवाऐं उपलब्ध कराती हैं।

6. **खुदरा बैंकिंग–** वाणिज्यिक बैंक द्वारा खुदरा बैंकेंग का कार्य भी किया जा रहा है। खुदरा बैंकिंग से हमारा तात्पर्य गृह–ऋण, चिर स्थायी उपयोग ऋण जैसे टेलीवीजन, शिक्षा ऋणों से है। ये ऋण दीर्घकालीन भी होते हैं। वर्तमान में खुदारा बैंकेंग का तेजी से विकास हुआ है। नवीन तकनीकी तथा यांत्रिक स्वचालन के कारण इस प्रणाली को अत्यधिक बल मिला है।

7. **आढ़त क्रियाऐं–** वाणिज्यिक बैंकों द्वारा आढ़त क्रियाऐं भी सम्पन्न की जाती हैं। यह एक नवीन सेवा है। इस क्रिया के अंत्तर्गत बैंक अपने वही खाता ऋणों को शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं और खाते में प्राप्त होने वाली राशि किसी अनुषंगी कम्पनी को बेच देती है, जिसे आढ़तियां कहा जाता है। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा वाणिज्यिक बैंकों को अनुषंगी कम्पनी कायम करने की स्वीकृति दे रखी है। इन बैंकों ने अपनी क्रियाओं का विविधीकरण अनुषंगी कम्पनियां कायम करके बहुत सी वित्तीय सेवाओं में कर लिया है। भारतीय स्टेट बैंक तथा केनरा बैंकों द्वारा आढ़त क्रियाओं के लिए अपने अनुषंगी कम्पनियां स्थापित की हैं।

## 7.5 वाणिज्यिक बैंकों का विकास

यद्यपि भारत में बैंकिंग विकास का इतिहास काफी पुराना है लेकिन हम वाणिज्यिक बैंकों के विकास के संदर्भ में एक सीमित दायरे में ही इसका अध्ययन कर सकेंगे जिसे निम्नरूप में रखा जा सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व बैंकिंग विकास तथा स्वतन्त्रता के बाद का बैंकिंग विकास।

### 7.5.1 स्वतंत्रता से पूर्व वाणिज्यिक बैंकों का विकास–

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ से ही 17वीं सदी में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास हुआ। 1970 में भारत में प्रथम बैंक कोलकाता में 'बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' सथापित किया गया किन्तु विभिन्न कारणों से यह बैंक सफल संचालन नहीं कर सका। देश में निजी तथा सरकारी प्रयासों से तीन प्रेसीडेन्सी बैंक स्थापित किये गये। सन् 1806 में बैंक ऑफ मद्रास 1840 बैंक ऑफ बाम्बे तथा 1843 में सरकार का शेयर होने के कारण सरकार का इन बैंकों पर नियंत्रण था। सन् 1912 में तीनों बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इंण्डिया स्थापित किया गया जिसका जुलाई 1955 को राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा इसका नाम बदलकर 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' कर दिया गया।

सन् 1860 से 1913 ई. तक की समय अवधि में संयुक्त पूंजी वाले बैंकों का विकास हुआ। इस समयावधि में अनेक वाणिज्यिक बैंकों की स्थापना हुई जैसे– इलाहाबाद बैंक (1906), पंजाब नेशनल बैंक (1894), बैंक ऑफ इण्डिया (1906), बैंक ऑफ बड़ौदा (1908), सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया (1911) तथा अन्य। वर्ष 1913 से 1939 के मध्य प्रथम विश्व युद्ध तथा अन्य कारणें से देश में वाणिज्यिक बैंकों का विकास रूक गया, लेकिन बैंकों के विकास की गति को मजबूत बनाये रखने के लिए 1930 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति गठित की गयी जिसकी सिफारिशों पर RBI अधिनियम 1934 के आधार पर 1 अप्रेल 1935 को भारतिय रिजर्व बैंक स्थापित किया गया जिसके परिणाम स्वरूप भारत में वाणिज्यिक बैंकों के विस्तार एवं विकास को बल मिला तथा इस दिशा में नए कदम उठाने के प्रयास हुए। इसी क्रम में सन् 1945 में भारतीय बैंकिंग अधिनियम पारित किया गया जो भारत में वाणिज्यिक बैंकों के विकास के लिए एक कारगर उपाय सिद्ध हुआ।

विश्व युद्धों के समय में बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि का लाभ उठाने के उद्देश्य से पुराने बैंकों द्वारा नयी शाखाऐं खोली गयी तथा नये–नये बैंकों की भी स्थापित किया गया।

### 7.5.2 स्वतंत्रता के बाद वाणिज्यिक बैंकों का विकास–

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य करने के योग्य बनाया जाय इसी दिशा में मार्च 1949 को भारतीय बैंकिंग अधिनियम पारित किया गया जिसके अत्तर्गत वाणिज्यिक बैंकों के निरीक्षण करने का अधिकार भारतीय रिजर्व बैंक को दिया गया इसके वाणिज्यिक बैंक समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी हो गये। बैंक प्रणाली को अत्यधिक सबल बनाने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा छोटे बैंकों के बड़े बैंकों के साथ विलयन की नीति अपनायी गयी जियके परिणाम स्वरूप 950–51 के बाद देश में वाणिज्यिक बैंकों की संख्या में लगातार कमी दर्ज की गयी 1950–51 से 1970–71 समयावधि में वाणिज्यिक बैंकों की संख्या 430 से कम होकर केवल 87 रह गयी। 1960–61 में अनुसूचित बैंकों की संख्या 256 थी जो नवम्बर 1980 में केवल 4 रह गयी। 1950 के बाद बैंक जमाओं में भी निरन्तर वृद्धि हुई।

1 जुलाई 1955 को **इम्पीरियल बैंक ऑफ** इण्डिया का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा इसका नाम बदलकर **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कर दिया गया। इसके साथ 8 अन्य बैंकों को सहायक बैंकों के रूप में बदल कर 'स्टेट बैंक समूह'** गठित किया गया।

स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर, स्टेट बैंक ऑफ जयपुर, स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद, स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर, स्टेट बैंक ऑफ मैसूर, स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, स्टेट बैंक ऑफ ट्रावनकोर,

जुलाई 2008 में स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र तथा जून 2009 को स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर का स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में विलय के परिणाम स्वरूप SBI समूह में बैंकों की संख्या वर्तमान में केवल 5 रह गयी है। 19 जुलाई 1969 को 14 बड़े वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया।

सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, केनरा बैंक, यूनाइटेड कामर्शियल बैंक, सिंडीकेट बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, देना बैंक, इलाहाबाद बैंक, इण्डिया बैंक, इण्डियन ओवरसीज बैंक, बैंक ऑफ महाराष्ट्र,

पुनः 15 अप्रैल 1980 को निजी क्षेत्र के 6 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया।

आन्ध्रा बैंक, पंजाब एण्ड सिंध बैंक, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया, विजया बैंक, कॉर्पोरेशन बैंक, ओरिएंटल बैंक ऑफ कॉमर्स

4 सितम्बर 1993 को भारत सरकार द्वारा न्यू बैंक ऑफ इण्डिया का विलय पंजाब नेशनल बैंक में कर दिया गया। इससे देश में राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंकों की संख्या 20 से घटकर 19 रह गयी है।

भारत में वाणिज्यिक बैंकों का वर्गीकरण सम्वैधानिकता के आधार पर किया गया है जो इन बैंकों के विकास में भी सहायक रहा है।

1. अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक (Scheduled Commercial Bank)
2. गैर अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक (Non-Scheduled Commercial Bank)

वर्ष 1990–91 में अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की संख्या 271 थी जो वर्ष 2000–2001 में बढ़कर 297 हो गयी। वर्ष 2008–09 में इन बैंकों की संख्या घटकर 165 रह गयी। इन अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों 82 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (आर.आर.बी),19 राष्ट्रीयकृत बैंक, भारतीय स्टेट बैंक समूह के 5 बैंक, 1 आई.डी.बी.आई बैंक, 32 विदेशी बैंक तथा 26 निजी बैंक शामिल हैं।

अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की संख्या तथा जमा उधार के विकास को निम्न तालिका द्वारा आप आसानी से समझ सकते हैं।

**तालिका अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों का विकास–**

| वर्ष | बैंक संख्या | बैंक जमा(करोड़ रू.) | बैंक उधार(करोड़) |
|---|---|---|---|
| 1950–51 | 430 | 820 | 580 |
| 1970–71 | 73 | 5910 | 4690 |
| 1990–91 | 271 | 192541 | 116300 |
| 2000–01 | 297 | 962610 | 511430 |
| 2007–08 | 172 | 3196941 | 2361916 |
| 2008–09 | 165 | 3834110 | 2775549 |
| 2011–12 | – | 5909082 | 4611852 |

स्रोत– 1. RBI- Report on currency and finance 2000-01

2. Hand book statistics on Indian economy (2009-2010)

देश में मात्र 4 गैर–अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों का ही विकास हो सका है। गैर अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंक से रियायती प्रेषण तथा उधार लेने की सुविधा प्राप्त नहीं होती है, क्यों कि इन गैर अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को निश्चित राशि भारतीय रिजर्व बैंक के पास न रखकर अपने पास रखने का अधिकार है।

भारत में वाणिज्यिक बैंकों के विकास का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि भारतीय बैंक विदेशों में भी कार्य कर रहे हैं। 30 जून 2010 को 52 देशों में भारतीय बैंक कार्य कर रहे थे जिनमें सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के बैंक भी शामिल थे। विदेशों में सार्वजनिक क्षेत्र के 16 तथा निजी क्षेत्र के 6 भारतीय बैंक अपनी सुविधाऐं प्रदान कर रहे हैं। इन भारतीय बैंकों के विदेशों में 232 शाखाऐं तथा 55 प्रतिनिधि कार्यालय संचालित थे। 30 जून 2010 को विदेशों में कार्यरत सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक में निम्न बैंक शामिल थे – भारतीय बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ इण्डिया, सिण्डिकेट बैंक तथा यूको बैंक।

28 देशों में भारतीय स्टेट बैंक के 42 शाखा कार्यालय, 5 सहायक संगठन, 4 संयुक्त उद्यम तथा 8 प्रतिनिधि कार्यालय हैं। बैंक ऑफ बड़ौदा के 46 शाखा कार्यालय, 8 सहायक बैंक, 1 संयुक्त उपक्रम बैंक तथा 3 प्रतिनिधि कार्यालय हैं। बैंक ऑफ इण्डिया की 14 देशों में 24 शाखाऐं हैं, 3 सहायक संगठन, 1 संयुक्त उद्यम तथा 5 प्रतिनिधि कार्यालय हैं। भारतीय बैंकों के इग्लैण्ड में सबसे अधिक शाखा कार्यालय हैं, यहां पर 18 शाखा कार्यालय हैं। हॉगकोंग, फिजी तथा मौरिशस में 7–7 शाखाऐं हैं। वहरीन, मौरीशस केमैन द्वीप समूह और वहामास में विदेशी बैंकिंग इकाईयाँ स्थापित हैं।

**विदेशी बैंक** – भारत में विदेशी वाणिज्यिक बैंक भी संचालित हैं। सिटी बैंक की तरह, एचएसवीसी, स्टैण्डर्ड बैंक आदि विदेशी बैंकों की शाखाऐं संचालित हैं जिन्हें विदेशों में निगमित किया गया है। विदेशी बैंकों की शाखाऐं भारत में स्थानीय बैंकों की तरह ही वित्तीय सुविधाऐं प्रदान करती हैं। भारत में शाखाओं की संख्या सीमित होने के कारण इनका उद्देश्य भारतीय वाणिज्यिक बैंकों से अलग प्रतीत होता है। ये बैंक नई प्रौद्योगिकी लाने का कार्य करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादों को घरेलू बाजार में परिचित कराने के साथ उनका समावेशन कराने का कार्य करते हैं ये विदेशी बैंक भारत में स्थानीय बैंकिंग उद्योग के साथ वित्तीय केन्द्रों में विदेशों में होने वाले विकास के साथ तालमेल पूँजी बाजार में पहुँच बनाने में भी सहायक हैं भारत सरकार द्वारा जनता को बैंकिंग सुविधाऐं अधिक तथा सुलभ बनाने एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया के तहत विदेशी बैंकों की संख्या बढ़ाने पर जोर दिया गया है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के द्वारा भारत में विदेशी बैंकों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। अधिनियम की धारा 11(12) के अनुसार प्रत्येक विदेशी बैंक को भारत में कार्यालय रखने के लिए चुकता पूँजी तथा आरक्षित कोष के रूप में न्यूनतम 15 लाख की राशि रिजर्व बैंक के पास रखनी होगी। विदेशी बैंक के फेल होने पर चुकता पूँजी या आरक्षित कोष पर अधिकार प्रथमतः भारतीय जमाकर्ताओं का होगा इसके साथ कुल जमा राशि का न्यूनतम 75 प्रतिशत भाग भारत में ही रखना होगा या निवेश करना होगा। प्रत्येक विदेशी बैंक को भारतीय रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना आवश्यक है। इन बैंकों की

अपनी अंकेषण रिपोर्ट सहित कारोबार का विवरण भारतीय रिजर्व बैंक को भेजना होता है। भारतीय रिजर्व बैंक को किसी भी विदेशी बैंक का निरीक्षण करने का अधिकार है। अधिनियम संशोधन 1962 के अनुसार इन बैंकों को भी न्यूनतम नकद कोषानुपात भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखना होता है। विदेशी बैंक को उपार्जित शुद्ध लाभ का 20 प्रतिशत भाग भारत में ही रखा जायेगा तथा इसे हिसाब में दिखाया जायेगा। इन विदेशी बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण भी रखा जाता है। बैकों का पूंजीगत आधार सुदृढ़ करने के उद्देश्य से विदेशी बैंकों के लिए 8 प्रतिशत पूंजी पर्याप्तता का मानदण्ड निर्धारित किया गया जिन्होंने 31 मार्च 1994 तक प्राप्त कर लिया था। माच्र 2003 के अन्त में कुल अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की कुल आस्तियों में विदेशी बैंकों का हिस्सा 6.7 प्रतिशत था। इनके अग्रिमों के सम्बन्ध में अनर्जक परिसम्पत्तियों का अनुपात 5.2 प्रतिशत था।

## 7.6 वाणिज्यिक बैंकों की समस्याएं

वाणिज्यिक बैंको के कार्य सम्पादन में आने वाली प्रमुख समस्याओं को निम्न रूप में समझा जा सकता है।

1. **जनसंख्या का बढ़ता भार–** यद्यपि वाणिज्यिक बैंकों की शाखाओं में लगातार वद्धि हो रही है फिर भी जनसंख्या के बढ़ते भार तथा क्रिया कलापों में वृद्धि के कारण बैंकिंग प्रणाली सफलता पूर्वक कार्य करने में पीछे रहती है। बैंकों में अत्यधिक भीड़ तथा ओवर लोड की समस्या बनी रहती है।
2. **ऋण वापसी की समस्या–** वाणिज्यिक बैंकों द्वारा यद्यपि ऋण स्वीकृत करने तथा उपलब्ध कराने में ग्राहक की साख तथा अन्य पक्षों की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली जाती है फिर भी बैंकों की गैर–निष्पादित परिसम्पतियां बैंकों के सामने समस्या पैदा करती हैं इससे बैंकों की साख सृजन क्षमता तथा कार्य प्रणाली प्रतिकूल रू‍प से प्रभावित होती हैं।
3. **फर्जीबाड़े की समस्या–** बैंकों के सामने धोखाधड़ी तथा फर्जीबाड़ा जैसे अनेक समस्याऐं सामने आती रहती हैं। फर्जी हस्ताक्षर से धनराशि निकालना, ए.टी.एम कार्ड का नम्बर चुराना, फर्जी दस्तावेज प्रस्तुत करना, ऋण का दुरूपयोग करना आदि कार्य बैंकिंग प्रणाली की कार्य कुशलता में बाधक हैं।
4. **अशिक्षित ग्राहकों सम्बन्धी समस्या–** ग्रामीण तथा शहरी मलिन बस्तियों में बैंक ग्राहकों की निरक्षरता तथा अशिक्षा भी बैंकों के सामने एक समस्या है। बैंकिंग योजनाओं का पूर्ण प्रचार नहीं हो पाता है। सरकारी योजनाओं के बारे में अधिक धनराशि पर हस्ताक्षर या अंगूठा निशान लगाकर कम धनराशि देना एवं बैंक नियमों की अवहेलना करना इस प्रकार की अनेक समस्याऐं हैं।
5. **कर्मचारियों के व्यवहार सम्बन्धी समस्या–** दूर–दराज ग्रामीण क्षेत्रों में सामान रूप से सरकारी कार्य करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप वह अपने ग्राहकों के साथ उचित व्यवहार नहीं करता है एवं बैंकिंग सुविधाओं। कार्यक्रमों पर अधिक जोड़ नहीं देता है जिसके आधार पर वह शहरी क्षेत्रों की ओर ट्रांसफर कराना चाहता है।

## 7.7 सारांश

सामान्य रूप से वाणिज्यक बैंकों से हमारा तात्पर्य सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र की उन बैंकों से है जो मुद्रा को ब्याज दर के आधार पर उधार लेती हैं तथा जनता को व्यापारिक कार्य के लिये ऋण देती हैं तथा इस कार्य को वे एक वाणिज्यिक रूप में करती

हैं। वाणिज्यिक बैंक दो प्रकार की होती हैं। अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक एवं गैर–अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक। वाणिज्यिक बैंक जनता कि बचतों को जमा करती है तथा उस पर ग्रहक को ब्याज देती है। व्यापारिक कार्यों के लिए जनता को ब्याज पर ऋण उपलब्ध कराती हैं। इस कार्य के साथ ये बैंकें वस्तुओं की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य, सरकारी विकास योजनाओं में वित्तीय समावेश, हामीदारी बैंकिंग, तथा आढ़क क्रियाऐं भी की जा रही हैं जिसये इनका कार्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हा गया है।

भारत में वाणिज्यिक बैंकों को विकास का इतिहास अत्यन्त पुराना है। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास 17वीं शदी में हुआ था तथा भारत में प्रथम बैंक 'बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' स्थापित किया गया। 1860 के बाद संयुक्त पूंजी वाले बैंकों की स्थापना हुई जैसे इलाहाबाद बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, आदि। 1945 में भारतीय बैंकिंग अधिनियम बनाया गया जिससें भारत में बैंकों के विकास को बल मिला तथा नयी शाखाओं का विस्तार हुआ। 1955 में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके इसका नाम भारतीय स्टेट बैंक किया गया। इसके बाद बैंकों के विलयीकरण की प्रक्रिया चालू की गयी, जिससे कमजोर बैंकों को मजबूत बैंकों के साथ जोड़ा गया। अंकित ग्रामीण बैंकों को विकसित किया गया तथा बैंकों की ऋण देय क्षमताओं का विस्तार किया गया।

विकास के समय में भी वाणिज्यिक बैंक अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहे हैं। जिसमें समाधान के लिए अनेक प्रकार किये गये हैं।

## 7.8 शब्दावली

- **राष्ट्रीयकरण–** निजी क्षेत्र की या प्राइवेट क्षेत्र की बैंकों के अधिकार एवं स्वायित्व को सरकार को सौंपना ही राष्ट्रीयकरण कहलाता है।
- **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक–** उसी ग्रामीण बैंकें जिनका कार्य क्षेत्र एक विशेष ग्रामीण क्षेत्र ही होता है उसी दायरे में वे कार्य करती हैं।
- **नकद कोष अनुपात–** वाणिज्यिक बैंकों को नकद राशि का एक निश्चित अनुपात भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखना होता है। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा यह अनुपात घटाना या बढ़ाया जा सकता है जिससे इन बैंकों की साख सृजन की क्षमता प्रभावित होती है।
- **वैधानिक तरलता अनुपात–** वाणिज्यिक बैंकों को अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित अनुपात अपने पास नकद रूप में रखना होता है। इसका निर्धारण भी भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है।
- **लॉकर्स व्यवस्था–** इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अनले ग्राहकों के लिए विशेष अलमारी की व्यवस्था करती है जिसमें मंजूद प्रत्येक दराज में ताला लगा होता है जिने लाकर्स कहते हैं। इनकी दो चाभियां होती हैं। एक चाभी बैंक ग्राहक को देती है तथा दूसरी चाभी अपने पास सुरक्षित रख लेती है।

## 7.9 लघु उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

### (क) निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर दीजिए?

1. वाणिज्यिक बैंक किसे कहते हैं?
2. वाणिज्यिक बैंक कितने प्रकार की होती हैं?
3. गैर अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक क्या हैं?

4. खुदरा बैंकिंग का क्या अर्थ है?
5. इम्पीरियलबैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कब की गयी?
6. भारतीय स्टेट बैंक में समूह में कितने सहायक बैंक हैं?
7. बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कब हुई?
8. भारत में कितनी गैर–अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक हैं?

### (ख) नीचे दी गयी निम्न स्थानों की पूर्ति कीजिए?

1. भारतीय रिर्जव बैंक अधिनियम सन् ––––– में बनाया। (1930, 1934, 1939)
2. वणिज्यिक बैंक ––––– प्रकार के खाते खोलती हैं। (तीन, दो, चार)
3. बैंक के लॉकर्स में –––––वस्तुऐं रखी जाती हैं।
(खाघ, नमक, मूल्यवान, व्यापारिक)
4. इण्डियन ओवरसीज बैंक का राष्ट्रीयकरण ––––– को हुआ।
(2जून 2009, 19 जूलाई 1969, 15 अप्रैल 1980)
5. न्यू बैंक ऑफ इण्डिया का विलय––––– में हुआ।
(पंजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा)

### (ग) नीचे दिये गये कथनों में सत्य/असत्य बताओ?

1. 1840 में बैंक ऑफ बॉम्बे स्थापित किया गया। (सत्य/असत्य)
2. भारतीय स्टेट बैंक समूह में 12 सहायक बैंक हैं। (सत्य/असत्य)
3. भारत में 19 राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंक हैं। (सत्य/असत्य)

## 7.10 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

### निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दीजिए?

1. वाणिज्यिक बैंकों से आप क्या समझते हैं? वाणिज्यिक बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिए?
2. भारत में स्वतंत्रता से पूर्व बैंकिंग प्रणाली के विकास पर लेख लिखो?
3. स्वतंत्रता के बाद भारत में वाणिज्यिक बैंकों के विकास को विस्तार से लिखिए?
4. वर्तमान में भारत में वाणिज्यिक बैंकिंग प्रणाली की समस्याओं की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए?

## 7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची


- गौरव दत्त व अश्वनी महाजन (2013) – भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द्र एण्ड क0 प्रा0 लि0, रामनगर, नई दिल्ली
- के.सी.शेखर एवं लक्ष्मी शेखर (2006) – Banking Theory and Practice Masjid Road, Jangpura, New Delhi
- एच.एल.आहुजा (2010) – उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी प्रा0 लि0,रामनगर, दिल्ली
- मिश्रा एण्ड पुरी (2012) – भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली


## 7.12 सहायक ग्रंथ सूची

- एम.पी. वैश्य (2003) – भारतीय अर्थव्यवस्था एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी प्रा0लि0 रामनगर, नई दिल्ली
- जगदीश नारायण मिश्र (2005) – भारतीय अर्थव्यवस्था, पुस्तक महल पब्लिकेशन्स, दरियागंज, नई दिल्ली।

# इकाई – 8 वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 साख का आशय
8.4 वाणिज्यिक बैंकों की साख सृजन की प्रक्रिया
8.5 साख सृजन की सीमाऐं एवं समस्याऐं
8.6 भारत में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन का महत्व
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 लघु उत्तरीय प्रश्न
8.10 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
8.12 सहायक संदर्भ ग्रंथ सूची

## 8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई 'वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया' पर आधारित है। यह तृतीय खण्ड वाणिज्यिक बैंकिंग की आठवीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई वाणिज्यिक बैंकिंग अर्थ, कार्य एवं विकास पर आधारित थी, जिसके अध्ययन से आपने वाणिज्यिक बैंकों के अर्थ, कार्य का गहन अध्ययन किया तथा स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वतंत्रता के बाद वाणिज्यिक बैंकों के विकास की प्रवृत्तियों से आप भलीभांति परिचित हुए होंगे।

प्रस्तुत इकाई वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। साख–सृजन से हमारा तात्पर्य बैंकों द्वारा उस अधार की मात्रा से है जिससे नकद जमाओं के साथ व्युत्पन्न जमाओं का निर्माण किया जाता है। सामान्य रूप से साख–सृजन की प्रक्रिया अनेक तत्त्वों पर आधारित होती है तथा अनेक तत्त्वों द्वारा सीमित होती है।

प्रस्तुत इकाई से अध्ययन के लिए आपको साख–सृजन सम्बन्धी विभिन्न बिन्दुओं तथा उपबिन्दुओं का गहराई के साथ आगे विवेचना को पढ़ेंगे जो आपके लिए अत्यन्त ही उपयोगी होगी।

## 8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई 'वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया' के अध्ययन के बाद आप भली–भांति समझ सकेंगे कि –

- ✓ साख–सृजन क्या है? तथा साख सृजन की आवश्यकता क्यों होती है?
- ✓ वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख–सृजन के मूलभूत तत्त्व कौन–कौन से हैं?
- ✓ वाणिज्यिक बैंकों द्वारा एकल बैंक प्रणाली तथा बहु बैंक प्रणाली के अन्तर्गत साख–सृजन की प्रक्रिया किस प्रकार पूरी की जाती है?
- ✓ वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन की कौन–कौन सी सीमाऐं हैं तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियां किस प्रकार साख सृजन को प्रभावित करती हैं?
- ✓ भारतीय अर्थव्यवस्था में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख–सृजन का क्या महत्व है?

## 8.3 साख का आशय

आपको यह समझने में आसानी होगी कि जब कोई वाणिज्यिक बैंक किसी व्यक्ति या संस्था को उधार देने पर विचार करती है तब वह उस व्यक्ति या संस्था पर ऋण को वापस करने की क्षमता का आंकलन करती है अर्थात एक प्रकार से बैंक उस पर इस बात का भरोसा करती है कि उसका ऋण समय से वापस होगा। यदि किसी व्यक्ति या संस्था पर बैंक को भरोसा न हो तो वह उसे ऋण देने से मना कर देगी। इस प्रकार से साख से तात्पर्य बैंक द्वारा दिये जाने वाले ऋण की उस मात्रा से लगाया जाता है जो ऋण वापस की क्षमता या भरोसे के बराबर होती है।

बैंक की अन्य भाषा में यह कहा जाता है कि बैंक के पास ग्राहकों की जो मुद्रा जमा होती है वह उस मात्रा के साथ और अधिक मात्रा में ग्राहकों को ऋण के रूप में मुद्रा उपलब्ध कराती है। बैंक जो मुद्रा बनाते हैं उसे साख कहा जाता है। इस प्रकार साख का अर्थ केवल देनदारी अथवा शोधन क्षमता में विश्वास से होता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा साख को परिभाषित किया गया है। नीचे कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा साख की दी गयी परिभाषाओं को दिया जा रहा है जिससे आप साख के आशय को भली–भांति समझ सकते हैं।

**जेवन्स** (Jevons) ने साख को इस प्रकार परिभाषित किया है –*''साख शब्द का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।'*

**टॉमस** (Thomas) के अनुसार –*''साख वह विश्वास है जिसके आधार पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपन बहुमूल्य वस्तुऐं तथा सेवाऐं देता है, भले ही ये वस्तुऐं मुद्रा, सेवा तथा साख मुद्रा क्यों न हो और आशा करता है कि वह व्यक्ति इसको वापस लौटा देगा।'*

**जी.डी.एच. कोल** के अनुसार *''साख वह क्रय शक्ति है जो आय से प्राप्त नहीं होती अपितु वित्तीय संस्थाओं के द्वारा जमाकर्ताओं की बैंकों में जमा निष्क्रिय आय को सक्रिय बनाकर अथवा कुल क्रय शक्ति में वास्तविक वृद्धि करके इसका निर्माण किया जाता है।'*

**चैण्डलर** के अनुसार *''किसी व्यक्ति, व्यावसायिक फर्म अथवा सरकार की साख प्राप्त करने की क्षमता सम्भाव्य ऋणदाताओं के इस विश्वास पर निर्भर करती है कि ऋणी ऋण का भुगतान करने के लिए क्षम्य तथा तत्पर दोनों ही रहेगा।'*

**किनले** के अनुसार साख को निम्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है – *''साख से हमारा अभिप्राय किसी भी व्यक्ति की उस शक्ति को भविष्य में भुगतान की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुऐं समर्पित करने के लिए प्रेरित करता है। अतः साख ऋणी का एक गुण अथवा शक्ति है।'*

**केन्ट** ने भी साख को इस प्रकार से परिभाषित किया है – *''साख की परिभाषा, वस्तुओं के तात्कालिक हस्तानतरण के कारण, माँग पर अथवा भविष्य में किसी समय पर भुगतान पाने के अधिकार अथवा भुगतान करने के दायित्व के रूप में की जा सकती है।'*

**जीड** के अनुसार – *''साख एक ऐसा विनिमय कार्य है, जो कि निश्चित अवधि के उपरान्त भुगतान करने पर पूर्ण होता है ।'*

**हाम** के अनुसार – *''व्युत्पन्न जमा कर निर्माण ही साख का सृजन है।'*

## 8.4 साख–सृजन की प्रक्रिया

साख के आशय को समझने के बाद अब आपको साख–सृजन की प्रक्रिया भली–भांति समझ में आ सकती है। आपको साख–सृजन की प्रक्रिया समझने से पूर्व उन तत्त्वों को अच्छी तरह समझना होगा जिन पर साख–सृजन की प्रक्रिया जारी रहती है।

सबसे पहले आपको यह समझना होगा कि साख–सृजन की प्रक्रिया नकद जमा या वास्तविक जमा तथा व्युत्पन्न जमा या गौण जमा पर आधारित होती है। वास्तविक जमा से हमारा तात्पर्य उस जमा से है जिसे व्यक्ति अपने पास से मुद्रा के रूप में नकद बैंक खाते में जमा करता है। इस नकद जमा को वह व्यक्ति बैंक से कब और कितनी मात्रा में निकालेगा, यह उसकी आवश्यकता एवं खाते के प्रकार आदि पर निर्भर करती है। कुल मिलाकर इस वास्तविक जमा का पूर्ण या आंशिक भाग कुछ दिनों या समयावधि तक बैंक के पास रखा जाता है।

व्युत्पन्न जमा से हमारा आशय उस राशि से है जिसे व्यक्ति बैंक से उधार/ऋण लेकर बैंक खाते में जमा करता है। इस प्रकार बैंक वास्तविक जमा से कई गुना राशि व्युत्पन्न जमा के रूप में व्यक्तियों के खातों में जमा करता है। अपने पास से बैंक नकद मुद्रा व्यक्ति को नहीं देता है। यदि व्यक्ति मांग करता है तो उसे चैक दे दिया जाता है और उसे दूसरी बैंक में डाला जाता है। इस प्रकार चैक से नकदी में बदलने पर कुछ समय लग जाता है।

साख सृजन का दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व नकद आरक्षित अनुपात है। नकद आरक्षित अनुपात के अन्तर्गत बैंक की नकद या वास्तविक जमाओं का एक निश्चित अनुपात बैंकों को अपने पास सुरक्षित रखना पड़ता है। नकद आरक्षित अनुपात का निर्धारण भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है। नकद आरक्षित अनुपात जितना कम होगा साख–सृजन की मात्रा उतनी ही अधिक होगां साख–सृजन की मात्रा उतनी ही कम होगी।

नकद आरक्षित अनुपात के आधार पर साख–सृजन की मात्रा को निम्न रूप में अन्तर्सम्बन्धत कर सकते हैं। साख–सृजन को जमा गुणक या साख गुणक के रूप में जाना जताा है।

साख–गुणक $(dm) = \frac{1}{r}$

जहाँ $r$ से हमारा तात्पर्य नकद आरक्षित अनुपात से है। इसे एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। माना नकद आरक्षित अनुपात $(r)$ 25 प्रतिशत अर्थात 1/4 है तो जमा गुणक

$$dm = \frac{1}{1/4} = 1 \text{ X } 4 = 4$$

अर्थात् नकद आरक्षित अनुपात 1/4 होने पर बैंक द्वारा 4 गुना साख–सृजन किया जायेगा। वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन की प्रक्रिया को निम्न उदाहरण द्वारा अच्छी तरह से समझाया जा सकता है।

सबसे पहले हम एक बैंक प्रणाली के अन्तर्गत साख निर्माण की व्याख्या करेंगे। माना नकद आरक्षित अनुपात 20 प्रतिशत है। बैंक को रू0 100000 की जमा प्राप्ति होती है। बैंक को इस धनराशि पर ब्याज देनी होती है तथा बैंका को यह भ अनुमान है कि रू0 100000 की धनराशि जमा करने वाले ग्राहक एक साथ बैंक में धनराशि निकालने नहीं आयेंगे। इसीलिए इस धनराशि का प्रयोग बैंक कर सकता है। जमा राशि का 20 प्रतिशत रू0 20000 बैंक अपने पास सुरक्षित रखेगी तथा रू0 80000 को अन्य ग्राहकों को उधार दे देता है या अन्य प्रतिभूतियों में निवेश करता है। अन्य ग्राहकों को दिये गये ऋण को बैंक उनके खाते में ही जमा कर लेता है तथा इस ऋण राशि का कुछ ही भाग ग्राहक तत्काल रूप में नकद मुद्रा निकालते हैं। शेष मुद्रा बैंके के पास ही जमा रहती है। इस राशि का प्रयोग बैंक अपने ग्राहकों की नकद मांग को पूरा करने में करती है। इस प्रकार एक बैंक प्रणाली में जमा राशि से नकद आरक्षित अनुपात के बराबर धनराशि निकालकर शेष धनराशि के बराबर साख–सृजन कर सकती है।

इसके सापेक्ष वहुबैंक प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों द्वारा जमा राशियों का कई गुना तक साख–सृजन किया जा सकता है। इसका यह भी अर्थ है कि व्युपन्न जमाओं का आकार नकद जमाओं का कई गुना अधिक हो सकता है। सामान्यतः नकद आरक्षित

अनुपात को 100 से भाग देने पर भागफल के बराबर गुना जमाओ सृजन किया जाता है अर्थात नकद आरक्षित अनुपात 25 प्रतिशत होने पर 4 गुना, 20 प्रतिशत पर 5 गुना तथा 10 प्रतिशत पर 10 गुना तक जमा निर्मित होती है।

साख–सृजन की इस प्रक्रिया को निम्न तालिका द्वारा अत्यन्त ही आसानी से समझाया जा सकता है।

| बैंक | नयी जमा | नकद आरक्षित अनुपात | साख–सृजन की धनराशि |
|---|---|---|---|
| I | Rs. 100000 | Rs. 20000 | Rs. 80000 |
| II | 80000 | 16000 | 64000 |
| III | 64000 | 12800 | 51200 |
| IV | 51200 | 10240 | 40960 |
| V | 40960 | 8192 | 32768 |
| VI | 32768 | 6553 | 26215 |
| VII | 26215 | 5243 | 20972 |
| VIII | 209272 | 4164 | 16778 |
| IX | 16778 | ------- | -------- |
| X | ------- | ------- | ------- |

इस प्रकार साख सृजन की प्रक्रिया उस सीमा तक जारी रहेगी जब तक कि प्रारम्भिक जमा तथा व्युपन्न जमाओं का योग नकद आरक्षित अनुपात (20 प्रतिशत) के 1/. 20 अर्थात 5 गुना यानी रू0 500000 के बराबर हो जाता है। इससे अधिक की बैंक जमाऐं सृजित नहीं की जा सकती हैं।

## भारतीय रिजर्व बैंक एवं वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–निर्माण –

आपको शायद ज्ञात हो कि भारत का केन्द्रीय बैंक 'भारतीय रिवर्ज बैंक' बैंकों का बैंक है। इसीलिए वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–निर्माण की प्रक्रिया में भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। आपको यह भी मालूम होगा कि भारतीय रिजर्व बैंक के कार्य अन्य वाणिज्यिक बैंकों के कार्यों से भिन्न हैं। यह केन्द्रीय बैंक लाभ कमाने के उद्देश्य से कार्य नहीं करता है। प्रस्तुत बिन्दु के अन्तर्गत वाणिज्यिक बैंकों की साख–निर्माण की प्रक्रिया में भारतीय रिजर्व बैंक के योगदान तथा नियन्त्रण की भूमिका का अध्ययन किया जायेगा।

वाणिज्यिक बैंकों की साख–सूजन तथा केन्द्रीय बैंक के मध्य सम्बन्धों को दो आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथमतः केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण तथा द्वितीयतः केन्द्रीय बैंक द्वारा वाणिज्यिक बैंकों की साख–प्रणाली पर नियंत्रण।

प्रथमतः बिन्दु पर यह स्पष्ट है कि भारतीय रिजर्व बैंक, बैंकों का बैंक है। नये बैंकों की स्थापना, संरचना में परिवर्तन, अर्थव्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करना, बैंकों के अधिकार तथा उत्तरदायित्व आदि में आवश्यक परिवर्तन की दिशा में केन्द्रीय बैंक महत्वपूर्ण निर्णय देता है। वही द्वितीयतः वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन की दिशा में साख–विस्तार तथा साख संकुचन सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण केन्द्रीय बैंक द्वारा किया

जाता है। जिनके क्रियान्वयन एवं अनुपालन कराने के अधिकार भारतीय रिजर्व बैंक के पास सुरक्षित हैं। इस प्रकार वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया में केन्द्रीय बैंक की भूमिका को अलग नहीं रखा जा सकता है।

जैसा कि आपको ज्ञात है कि भारतीय रिजर्व बैंक का मुख्य कार्य देश में आर्थिक स्थिरता को कायम करना है। मूल्य अस्थिरता, मुद्रा पूर्ति, साख की पूर्ति आदि पर भारतीय रिजर्व बैंक का सीधा नियंत्रण है। वही सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक के मध्य आर्थिक मुद्दों पर अन्तर्सम्बन्ध भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सरकार की बैंकिंग सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण करना एवं उनका क्रियान्वयन करना वाणिज्यिक बैंकों के साथ–साथ केन्द्रीय बैंक के बिना सहयोग के सफल नहीं है।

देश में आर्थिक अस्थिरता व्यापारी किसान तथा उद्योगपतियों के लिए हानिकारक होती है। मूल्यों एवं समूची आर्थिक क्रिया का प्रमुख कारण समस्त मांग का घटना तथा बढ़ना है। समस्त मांग, विशेषकर निवेश मांग, मुद्रा की पूर्ति पर निर्भर करती है। मुद्रा की पूर्ति का सबसे प्रमुख साधन बैंक–साख (Bank Credit) है। इसीलिए साख की पूर्ति निवेश मांग में परिवर्तन करके कीमतों, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार को प्रभावित करती है।

भारतीय रिजर्व बैंक का कर्तव्य है कि वह वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख की पूर्ति को नियमित तथा नियन्त्रित करे। आर्थिक अस्थिरता समाप्त करने के लिए केन्द्रीय बैंक आवश्यकतानुसार साख की पूर्ति को कम अथवा अधिक करने का कार्य करती है। आपको शायद यह भी ज्ञात होगा कि वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख की पूर्ति को नियन्त्रित या प्रभावित करने वाले समस्त महत्वपूर्ण उपकरणों पर भारतीय रिजर्व बैंक का ही नियन्त्रण है। आपको शायद यह भी मालूम हो कि भारतीय रिजर्व बैंक वाणिज्यिक बैंकों के लिए

अन्तिम ऋणदाता के रूप में भी कार्य करता है। यह केन्द्रीय बैंक साख की पूर्ति का अन्तिम स्रोत है। अब तक साख की पूर्ति को नियन्त्रित करने की बात कही गयी लेकिन साख की मांग को भी नियन्त्रित करने में यह केन्द्रीय बैंक अहम् भूमिका निभाता है। केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण के उपायों में साख की मांग और पूर्ति दोनों को ही प्रभावित किया जाता है। यह भारतीय रिजर्व बैंक वाणिज्यिक बैंकों के लेन–देन का निपटारा भी करता है। जो बैंकों द्वारा साख–सृजन की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

**<u>वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन पर नियन्त्रण</u>** – कभी–कभी वाणिज्यिक बैंकों तथा भारतीय रिजर्व बैंक की साख नीति के मध्य टकराव जैसी स्थिति पैदा होने लगती है ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि भारतीय रिजर्व बैंक को देश में साख सृजन की आवश्यकताओं के अनुसार ही अपनी प्राथमिकता तय करनी होती है। देश में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए वांछित स्तरपर साख सृजन आवश्यक होता है। इसके लिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा समय–समय पर साख विस्तार की नीति को अपनाया है। साख–विस्तार अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के ही अनुकूल हो इसके लिए नियन्त्रित साख विस्तार नीति की आवश्यकता होती है। आपको शायद ज्ञात हो कि आवश्यकता से अधिक साख सृजन अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीतिकारी स्थिति पैदा करता है जो विकास के मार्ग में भी वाधक हो जाता है।

आपको यहां पर यह भी बताना आवश्यक होगा कि साख–सृजन दीर्घकालीन प्रभाव डालता है। साख–विस्तार के दीर्घकालीन प्रभाव सकारात्मक तथा उद्देश्यों के अनुकूल होते हैं लेकिन साख–विस्तार की नीति अल्पकाल में प्रतिकूलात्मक प्रभाव डालती

है जिसके लिए भारतीय रिजर्व बैंक तथा वाणिज्यिक बैंकों द्वारा सावधानीपूर्वक साख–सृजन के कदम उठाने होते हैं। इसीलिए अल्प काल में साख–विस्तार को नियन्त्रित करने के प्रयास किये जाते हैं। गत वर्षों तथा विभिन्न समय–अवधियों में साख–सृजन का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता रहा है कि भारतीय रिजर्व बैंक ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। वाणिज्यिक बैंकों को साख–विस्तार के लिए प्राथमिकता क्षेत्रों के लिए लक्ष्य निर्धारण किये गये तथा उनकी प्राप्ति के लिए सार्थक प्रयास किये गये। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए ऋण उपलब्धता के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा साख–निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक हुआ है। इस दिशा में सरकार द्वारा भी नवीन नीतियां तय की गयी हैं।

आपको यहां पर यह भी बता दें कि भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा साख–सृजन की विस्तार वादी नीतियों में बैंकदार, नकद आरक्षित अनुपात, वैधानिक तरलता अनुपात, खुल बाजार की क्रियाऐं आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकार के वांछित परिवर्तन समय–समय पर किये गये हैं। इसके साथ–साथ प्रतिभूतियों के प्रति मार्जिन सीमा में आवश्यक परिवर्तन, वस्तुओं के प्रति अधिकतम् राशि की सीमा का निर्धारण, ऋण पत्रों पर भित्तिकाय आदि में परिवर्तन के साथ वाणिज्यिक बैंकों के लिए नैतिकता के आधार पर आवश्यक परामर्श समय–समय पर दिये जाते रहते हैं। इस प्रकार से वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था के लिए एक सकारात्मक कार्य है जो भारतीय रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार की साख–विस्तार की नीतियों पर निर्भर करता है।

**कृषि साख** – साख ने कृषि क्षेत्र के विकास के लिए बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों में वृद्धि के लिए भारी प्रयास किये हैं। वष्र 2010–11 में कृषि क्षेत्र के लिए प्रदत्त संस्थागत साख में वृद्धि दर्ज की गयी। वाणिज्यिक बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा कृषि क्षेत्र को उपलब्ध करायी जाने वाली साख को निम्नलिखित तालिका द्वारा दर्शाया जा सकता है –

तालिका

**बैंकों द्वारा कृषि साख का विस्तार**

(रू० करोड़ में)

| बैंक | 2009–10 | | 2010–11 | |
|---|---|---|---|---|
| | लक्ष्य | वास्तविक ऋण | लक्ष्य | वास्तविक ऋण |
| वाणिज्यिक बैंक | 250000 | 285000 | 280000 | 314182 |
| केन्द्रीय ग्रामीण बैंक | 30000 | 35217 | 40000 | 43273 |
| **योग** | **280000** | **320217** | **320000** | **357455** |

स्रोत –

ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट होता है कि वाणिज्यिक बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक द्वारा वष्र 2009–10 में रू० 280000 करोड़ के कृषि साख का लक्ष्य निर्धारित किया गया जिसे संदर्भ में रू० 320217 करोड़ का साख उपलब्ध कराया गया। इसी प्रकार वर्ष 2010–11 में रू० 320000 करोड़ का लक्ष्य रखा गया जिसके जबाव में रू० 357455 करोड़ का साख उपलब्ध कराया गया। कृषि मंत्रालय से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2009–10 में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा 285000 करोड़ का कृषि ऋण दिया गया जो वर्ष 2010–11 में 314182 करोड़ रू० के स्तर पर पहुँच गया, इसी प्रकार क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक द्वारा वर्ष 2009–10 में रू० 35217 करोड़ का ऋण उपलब्ध कराया गया। वर्ष 2010–11 में

वाणिज्यिक बैंकों की ऋण राशि रू० 314182 करोड़ रूपये तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की ऋण राशि रू० 43273 करोड़ रूपये हो गयी।

आपको यह बताना भी अत्यन्त आवश्यक है कि वर्ष 2006–07 से ही सरकार द्वारा किसानों को रियायती ब्याज दर पर फसल ऋण उपलब्ध कराये जा रहे हैं इसके साथ अल्पकालीन ऋणों को समय पर चुकाने पर 3 प्रतिशत की विशेष रियायत किसानों को उपलब्ध करायी जाती रही है। वर्ष 2009–10 में यह विशेष सरकारी सहायता 1 प्रतिशत थी जो वर्ष 2010–11 में 2 प्रतिशत तथा वर्ष 2011–12 में यह सरकारी सहायता को बढ़ाकर 3 प्रतिशत तक बढ़ाया गया। यह पूरी रियायत वर्ष 2012–13 में भी सरकार द्वारा उपलब्ध करायी गयी।

## 8.5 साख–सृजन की सीमाएं एवं समस्याएं

साख का आशय, तथा साख सृजन की प्रक्रिया को समझने के बाद आप समझ सकेंगे कि साख–सृजन किस सीमा तक किया जा सकता है। तथा कौन–कौन से तत्त्व साख–निर्माण को सीमित करते हैं।

1. **नकद आरक्षित अनुपात** – आपको पूर्व में भी बताया जा चुका है कि नकद आरक्षित अनुपात साख–सृजन की सबसे सीमा है। नकद आरक्षित अनुपात ऊँचा होने पर साख सृजन कम तथा अनुपात नीचा होने पर बैंकों द्वारा अधिक मात्रा में साख सृजन किया जाता है।
2. **प्रारम्भिक जमाएं** – बैंकों में प्रारम्भिक जमाऐं जितनी अधिक होगी, साख का सृजन भी उतना ही अधिक होगा, इसके सापेक्ष प्रारम्भिक जमाऐं कम होने पर साख–सृजन कम होता है।
3. **लोगों का व्यवहार** – साख सृजन की सीमाओं में लोगों के आर्थिक व्यवहार को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। नकदी को घर पर रखना, बैंक से ऋण न लेना, बचतों का दुरुपयोग करना, चैकों का प्रयोग न करना आदि आदतों से साख–सृजन की प्रक्रिया प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है।
4. **केन्द्रीय बैंक की नीतियां** – भारतीय रिजर्व बैंक की साख–नियंत्रण तथा साख–विस्तार सम्बन्धी नीतियां वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन की क्षमता को प्रभावित करती हैं।
5. **केन्द्रीय बैंक के पास आरक्षित कोष** – वाणिज्यिक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक में रखे जाने वाले तरलतम मुद्रा अनुपात भी साख–सृजन को प्रभावित करती हैं।
6. **मुद्रा का चलन वेग** – जनता द्वारा धन कमाना तथा वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग का स्तर भी साख सृजन को सीमित करता है।

**साख–सृजन की समस्याएं** – आप पूर्व में दिये गये विवरण से वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया से अच्छी तरह से परिचित हुए होंगे। वाणिज्यिक बैंकों को साख–सृजन की प्रक्रिया के दौरान तथा साख–सृजन के उपरान्त अनेक प्रकार की कठिनाईयों का सामाना करना पड़ता है जिन्हें हम निम्न रूप में स्पष्ट कर सकते हैं।

1. **परम्पराओं का प्रभाव** – भारत में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख–सृजन में परम्परागत तत्वों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है जिससे बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया नकारात्मक रूप से भी प्रभावित होती है। ग्राहकी की

परम्पराऐं, सरकार की परम्परागतियां तथा केन्द्रीय बैंक की परम्परागत व्यवस्थाओं से साख–निर्माण की प्रक्रिया समय–समय पर वाधित होती रहती है।

2. **अपूर्ण नियंत्रण** – वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन की प्रक्रिया में नियन्त्रणात्मक कठिनाईयों का भी सामना करना होता है। भारत में भारतीय रिजर्व बैंक का सभी मौद्रिक सृजन तथा साख उपलब्धता का भी कार्य करती हैं, जिससे वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की प्रक्रिया भी वाधित होती है। आपको यहां पर यह भी ध्यान होगा कि किसी वाणिज्यिक बैंक द्वारा साख–सृजन में अन्य बैंकों की साख सम्बन्धी रणनीतियां, ग्राहकों को साख उपलब्धता का स्तर, ग्राहकों का व्यवहार तथा उनका दृष्टिकोण भी प्रभावित करता है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि वाणिज्यिक बैंक को साख–सृजन की प्रक्रिया में मांग पक्ष सम्बन्धी अनियमितता भी बाधक है।
3. **बैंकों का पारस्परिक असहयोग** – वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख–सृजन की प्रक्रिया में सम्बद्ध बैंकों तथा शाखाओं का पूर्ण सहयोग आवश्यक है। भारत में वाणिज्यिक बैंकों में सार्वजनिक, निजी तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक शामिल हैं तथा इन सभी की कार्यप्रणाली, साख नीतियों में विभिन्नता पायी जाती है। विकास के दौर में बैंकिंग क्षेत्र में प्रतियोगिता विद्यमान है जो किसी एक वाणिज्यिक बैंक की साख–सृजन की प्रक्रिया में असहयोग का भी कार्य करती है जिससे इस पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। वहीं पर केन्द्रीय बैंक को साख–सृजन नीति पर भी सम्बद्ध बैंकों का पूर्ण प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त नहीं होता है और वाणिज्यिक बैंक लक्ष्यानुसार साख का सृजन नहीं कर पाते हैं।
4. **साख विविधता** – वाणिज्यिक बैंकों के सामने साख–सृजन में साख के विभिन्न रूप का होना भी एक समस्यात्मक पहलू है। साख को कई श्रेणियों में रखा गया है जैसे बैंक साख, किताबी साख, वाणिज्यिक साख आदि। अलग–अलग क्षेत्रों की मांग का अनुमान लगाने में समस्याऐं आती हैं जो वाणिज्यिक बैंकों की साख–सृजन की मात्रा तथा स्वरूप को प्रभावित करती हैं।
5. **साख उपयोग सम्बन्धी समस्या** – वाणिज्यिक बैंकों के सामने साख–सृजन में आने वाली समस्याओं में साख उपयोग के स्तर पुनर्भुगतान (Recovery) तथा उपयोग कोआकार भी शामिल है। इससे साख–सृजन की प्रक्रिया प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है।

## 8.6 भारत में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन का महत्व

भारत जैसे विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देश में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन का अत्यन्त ही महत्व है। यदि इन बैंकों द्वारा साख सृजन नहीं किया जाय तो बैंकों के निजी उद्देश्यों के साथ सरकार के उद्देश्यों को भी पूरा करना सम्भव नहीं होगा। वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख सृजन का महत्व निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

1. **उपभोग में वृद्धि** – साख सृजन से जनता के उपभोग के स्तर में वृद्धि सम्भव हुई है। वर्तमान में वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय–विक्रय में नकद भुगतान की जगह चैक द्वारा भुगतानों की अपेक्षा अधिक मात्रा में भुगतान किये जा सकते हैं। साख सृजन द्वारा भुगतानों को स्थगित किया जा सकता है।
2. **व्यापारिक उन्नति** – साख सृजन व्यापारिक उन्नति में अत्यन्त ही सहायक है। छोटे, माध्यम तथा बड़े व्यापारिक कार्यों का संचालन साख–सृजन के बिना सम्भव

नहीं है। बैंकों की नकद जमाओं के आधार पर व्यापारिक क्रियाओं को वांछित दिशाओं में गति दे पाना सम्भव नहीं है। व्यापारिक कार्यों में अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता होती है जो साख सृजन के बिना सम्भव नहीं है।

3. **भुगतानों में सहायता** – साख सृजन द्वारा जनता के आपसी भुगतानों के साथ–साथ बैंकों द्वारा किये जाने वाले भुगतानों में सहायता मिली है। साख सृजन द्वारा क्षमता से अधिक मात्रा में भुगतानों को किया जाना सम्भव हुआ है। व्यवहारिक जीवन में अनेक क्रिया कलापों का सम्पादन वास्तविक आय से अधिक मात्रा में करना होता है। इसके साथ भुगतानों के लिए खातों का प्रयोग करने से एक दूसरे के पास नकद मुद्रा लेकर जाना आवश्यक नहीं रहा है।
4. **बचत को प्रोत्साहन** – बैंकों द्वारा साख सृजन का कार्य ग्राहकों द्वारा जमा वास्तविक जमाओं के आधार पर किया जाता है जिसका लाभ बैंक तथा ग्राहकों दोनों को ही मिलता है। सरकार द्वारा तथा बैंकों द्वारा अनेक वित्तीय योजनाऐं संचालित हैं जो ग्राहकों की बचतों पर आधारित हैं। इससे समाज में बचतों को बैंकों में जमा करने को प्रोत्साहन मिला है।
5. **मुद्रा को लाने तथा ले जाने में सहायक** – आपको पूर्व में भी अवगत कराया गया है कि वहुबैंक प्रणाली में एक बैंक द्वारा स्वीकृत उधार राशि को दूसरे बैंक में चैक द्वारा हस्तान्तरित की जाती है जिसमें नकद राशि को निकालने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार से दूसरे बैंकों से जमा स्वीकार करने में भी नकद मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है जिससे साख सृजन को बल मिलता है।
6. **आर्थिक समस्या में सहायक** – बैंकों द्वारा साख सृजन मूलरूप से जनता की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए ही किया जाता है। जनता की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता होती है जिसका समाधान साख सृजित करके ही किया जाता है। जनता द्वारा जमा की गयी बचतें उनकी आर्थिक समस्या में काम आती हैं।
7. **विकास कार्यक्रमों में सहायक** – सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रमों एवं योजनाओं का संचालन बैंकों द्वारा किया जाता है। अधिकांश कार्यक्रम लोगों को वित्तीय सहायत पर आधारित है जिसके लिए बैंकों द्वारा साख सृजन किया जाना आवश्यक होता है। इसके लिए अधिक साख सृजन हेतु सरकार द्वारा भी प्रयास किये जाते हैं।

## 8.7 सारांश

साख सृजन की प्रक्रिया को समझने से पूर्व साख के अर्थ को समझना आवश्यक होता है। यद्यपि विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा साख को अलग–अलग शब्दों में परिभाषित किया गया है लेकिन उनके मूल अर्थ में साख का अर्थ एक ही है। संक्षिप्त में साख से हमारा तात्पर्य बैंक द्वारा उपलब्ध कराया ऋण की उस मात्रा से है जो ऋणी की ऋण वापसी की क्षमता के बराबर होती है। बैंक किसी को उस सीमा तक ही ऋण/उधार देती है जिसे वह आसानी से वापस कर सके। साख का निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है। व्यापारिक बैंकों द्वारा नकद जमा के आधार पर व्युत्पन्न जमा उत्पन्न करती है जिसे साख–सृजन कहा जाता है।

साख सृजन की प्रक्रिया को नकद जमा, नकद आरक्षित अनुपात तथा ग्राहकों द्वारा ऋण की मांग आदि तत्त्वों द्वारा एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया जाता है।

व्यापारिक बैंकों द्वारा साख सृजन दो प्रकार की स्थिति में किया जाता है। प्रथमतः एक बैंक प्रणाली के अन्तर्गत साख–सृजन, द्वितीयतः बहु बैंक प्रणाली के अन्तर्गत साख सृजन/सामान्य रूप से विशेषकर भारत में बहुबैंक प्रणाली प्रचलित है। अतः साख–सृजन मूल जमा की कई गुना तक निर्मित किया जा सकता है। सामान्य मान्यताओं के अन्तर्गत नकद आरक्षित अनुपात जिनता कम होता है साख का सृजन उतना ही अधिक होता है। साख सृजन को जमा गुणक भी कहा जाता है। साख–गुणक $(dm) = \frac{1}{r}$ के बराबर सृजित किया जाता है। वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रक्रिया बैंक की फर्म नीति, केन्द्रीय बैंक को आर्थिक नीति, ग्राहकों का आर्थिक व्यवहार आदि सीमाओं द्वारा प्रभावित होता है।

वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किये गये साख सृजन के सामने अनेक प्रकार की समस्यायें भी पैदा होती हैं जिसमें अनेक प्रकार की बैंकिंग परम्परायें, वाणिज्यिक बैंकों पर केन्द्रीय बैंक का अपूर्ण नियन्त्रण, पारस्परिक सहयोग की कमी, साख उपयोग की समस्या तथा साख की विविधता जैसी अनेक समस्याओं को शामिल किया जा सकता है।

## 8.8 शब्दावली

- **वाणिज्यिक बैंक** – सामान्यतः वाणिज्यिक बैंकों से हमारा तात्पर्य उन अनुसूचित बैंकों से है जो जनता से सीधे जमा प्राप्त करते हैं तथा जनता को ऊँची दर पर ऋण प्रदान कर लाभ कमाते हैं।
- **बहुबैंक प्रणाली** – बहु बैंक प्रणाली से हमारा तात्पर्य उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसमें एक साथ अनेक बैंक कार्य करते हैं तथा ये बैंक अपनी–अपनी शाखाओं का विस्तार करते हैं।
- **व्युपन्न जमा** – जनता द्वारा प्राप्त नकद जमा के आधार पर बैंक जनता को अधिक साख–सृजन करते हैं तथा इस साख को बैंक ग्राहक के खाते में ही जमा कर देते हैं जिसे व्युत्पन्न जमा कहा जाता है।
- **मुद्रा का चलन वेग** – मुद्रा के चलन वेग से तात्पर्य मुद्रा की एक इकाई नोट या सिक्के को जनता द्वारा निश्चित समय में कितनी बार स्वीकार किया जाता है तथा उसे क्रय–विक्रय के लिए प्रयोग किया जाता है।

## 8.9 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए?

(क) साख क्या?

(ख) साख–सृजन से आपका क्या आशय है?

(ग) नकद आरक्षित अनुपात तथा साख–सृजन के मध्य क्या सम्बन्ध हैं?

(घ) साख सृजन की तीन प्रमुख सीमाऐं बताओ?

(ड़) साख सृजन का महत्व संक्षेप में लिखो?

(2) नीचे दिये कथनों में से सत्य तथा असत्य कथनों को छाँटिये?

(क) साख सृजन वाणिज्यिक बैंकों द्वारा किया जाता है। (सत्य/असत्य)

(ख) भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा भी साख सृजन किया जाता है। (सत्य/असत्य)

(ग) साख गुणांक $(dm) = \frac{1}{r}$ (सत्य/असत्य)

(घ) घर पर नकदी रखने से साख–सृजन की प्रक्रिया सीमित होती है। (सत्य/असत्य)

(ड़) साख–सृजन आर्थिक विकास में बाधक है। (सत्य/असत्य)

(3) नीचे दिये गये कथनों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(क) भारतीय रिजर्व बैंक भारत का ..... है।

(केन्द्रीय बैंक, ग्रामीण बैंक, निजी बैंक)

(ख) ''व्युत्पन्न जमा का निर्माण ही साख का सृजन है।'' यह कथन ..... का है।

(केन्ट, हॉम, जीड)

(ग) नकद जमा को ..... भी कहा जाता है।

(व्युत्पन्न जमा, वास्तविक जमा, गौण जमा)

(घ) नकद आरक्षित अनुपात तथा साख–निर्माण के मध्य ..... सम्बन्ध है।

(सीधा, विपरीत, अनुकूल, कोई नहीं)

(ड़) भारत में ..... संचालित है।

(एक बैंक प्रणाली, बहु बैंक प्रणाली)

(च) प्रारम्भिक जमाऐं बढ़ने पर साख सृजन ..... होता है।

(अधिक, कम, स्थिर)

हल – 2– (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य
(घ) सत्य (ड़) असत्य
3– (क) केन्द्रीय बैंक (ख) हाम (ग) वास्तविक जमा
(घ) विपरीत (ड) बहु बैंक प्रणाली (च) अधिक

## 8.10 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों का विस्तृत रूप में उत्तर दीजिए –

1. साख से आप क्या समझते हैं तथा इसे प्रभावित करने वाले कौन–कौन से कारक हैं?
2. वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रक्रिया को समझाइए?
3. वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रमुख सीमाओं की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए?
4. वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन के महत्व को विस्तृत रूप में समझाइए?
5. वाणिज्यिक बैंकों द्वारा साख सृजन में आने वाले प्रमुख समस्याओं की विवेचना कीजिए?

## 8.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आहूजा, एच0एल0 (2001) उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि0 रामनगर, दिल्ली–110055
- मिश्रा एवं पुरी (2011) भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिकेशन्स हाउस, नई दिल्ली
- वैश्य, एम0सी0 (2001) मौद्रिक अर्थशास्त्र, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि0 रामनगर, दिल्ली–110055
- गौरव दत्त एवं अश्वनी महाजन (2013) भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि0 रामनगर, दिल्ली–110055


## 8.12 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची


- के0सी0 शेखर एवं लक्ष्मी शेखर (2006) Banking Theory and Practice, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., Masjid Road, Jangpura, New Delhi
- मिश्र, जगदीश नारायण (2005) भारतीय अर्थव्यवस्था, पुस्तक महल, दरियागंज, नई दिल्ली।
- सेठी टी0टी0 (2008) मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं राजस्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक संजय पैलेस, आगरा (उ0प्र0)

# इकाई–9 बैंकों का राष्ट्रीयकरण एवं पश्चात् प्रगति का मूल्यांकन

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता
9.4 बैंकों का राष्ट्रीयकरण
9.5 राष्ट्रीयकरण पश्चात् प्रगति
9.6 बैंकिंग सुधार
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 लघु उत्तरीय प्रश्न
9.10 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
9.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
9.12 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 9.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में अध्ययन से वाणिज्यिक बैंकों, उनके कार्य एवं विकास के बारे में भंलीभांति समझ गये होंगे। प्रस्तुत इकाई वाणिज्यिक बैंकिंग खण्ड की नवीं इकाई है जो बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा राष्ट्रीयकरण के पश्चात प्रगति से सम्बन्धित है। बैंकों का इतिहास अत्यन्त ही पुराना होने के साथ गत्यात्मक भी रहा है। बैंकों की स्थापना निजी क्षेत्र से प्रारम्भ हुई। राष्ट्रीयकरण से तात्पर्य बैंकों की परिसम्पत्ति तथा कार्यप्रणाली पर सरकारी स्वामित्त्व एवं नियंत्रण से लगाया जाता है। राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया भी भारत में समय–समय पर अलग–अलग स्तरों पर प्रारम्भ की गयी। देश के आजाद होने के बाद इस दिशा में और महत्वपूर्ण कदम उठाये गये जो वर्तमान में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

वर्तमान में राष्ट्रीयकृत बैंकों के साथ निजी क्षेत्र की बैंकों का भी अस्तित्व महत्वपूर्ण हो गया है जो विश्व अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली से प्रभावित है। सामान्य स्तर पर राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया का भारतीय रिजर्व बैंक से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। भारतीय अर्थव्यवस्था में होने वाले आधारभूत परिवर्तन भी इस दिशा में महत्वपूर्ण सार्थक सिद्ध हो रहे हैं।

प्रस्तुत इकाई में आपको इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायता मिलेगी। वाणिज्यिक बैंकों द्वारा प्राथमिकता क्षेत्र को दिये जाने वाले उधार से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का अध्ययन भी प्रस्तुत इकाई में शामिल किया गया है, जिसमें ऋण की समय से वापसी न होना, छोटे खातों पर अधिक निगरानी तथा प्राथमिकता क्षेत्र पर उधार से सम्बन्धित विभिन्न राज्यों में परस्पर समन्वयन की कमी को रखा गया है। इसके साथ वाणिज्यिक बैंकों की प्रगति को प्रभावित करने वाले बैंकों की लाभदायकता से सम्बन्धित अनेक पक्षों का अध्ययन शामिल किया गया है।

## 9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भंलीभांति समझ सकते हैं कि –

- ✓ भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता क्यों पड़ी तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का क्या महत्व है?
- ✓ प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप यह भी अध्ययन करेंगे कि राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया क्या है तथा भारतीय रिजर्व बैंक व अन्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण किस प्रकार हुआ?
- ✓ यह भी अध्ययन में शामिल किया गया है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकिंग क्षेत्र में क्या प्रगति हुई तथा उसकी गति क्या रही?
- ✓ प्रस्तुत इकाई में यह भी स्पष्ट किया जायेगा कि राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति के साथ–साथ बैंकों की प्रगति किस प्रकार रही तथा निजी क्षेत्र की बैंकों की क्या उपयोगिता रही?

## 9.3 बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता

आपको इस तथ्य से अवगत कराना है कि उन्नीसवीं सदी के पूवर्द्धि में अनेक प्रकार की आर्थिक, राजनैतिक तथा वैश्विक समस्याओं का सामना करने के बाद भी देशी बैंकर तथा जिनी बैंकिंग प्रणाली ने भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण प्रभावी योगदान अदा किया है फिर भी ब्रिटिश शासन की मौद्रिक नीतियों के कारण बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक

समझा गया। सन् 1931 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने भी भारतीय मौद्रिक बाजार में देशी बैंकर एवं आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के मध्य सामन्जस्य पर बल दिया तथा देशी बैंकरों के बैंक–कार्य का रिजर्व बैंक से सम्पर्क स्थापित करने की सिफारिश की गयी। द्वितीय युद्ध के परिणाम स्वरूप सन् 1939–40 के बाद मुडा प्रसार के कारण बैंकों के विक्षेप बड़ गये तथा अर्थव्यवस्था की लगातार गतिशीलता का लाभ उठाने के लिए पुराने बैंकों ने नई–नई शाखाऐं खोलना प्रारम्भ किया तथा इस प्रक्रिया से प्रभावित होकर नये बैंकों को भी स्थापित किया गया। बैंकों की लगातार प्रगति तथा बढ़ते भूमिका के कारण बैंकों की लाभदायिकता को नियंत्रित करना मौद्रिक व्यवस्था के लिए आवश्यक माना गया तथा उपभोक्ताओं के हितों को सुरक्षित किया जाना भी आवश्यक समझा गया।

देश की स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था को गत्यात्मकता देने की आवश्यकता महसूस की गयी। सरकार ने माना कि भारतीय रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण से भारतीय अर्थव्यवस्था को मौद्रिक गतिविधियों की दृष्टि से एक नई दिशा प्राप्त होगी तथा देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी। वही बैंकिंग क्षेत्र द्वारा लगातार अर्थव्यवस्था में प्राथमिकताओं का भी निर्धारण नहीं किया जा रहा था।

भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता आर्थिक तथा अन्य सामाजिक पहलुओं के आधार पर न्यायोजित ठहराई गयी। देश में औद्योगीकरण के विकास के साथ समाजवादी ढंग से समाज की संरचना के उद्देश्य को ध्यान में रखकर बैंकिंग राष्ट्रीयकरण की दिशा में कदम उठाया गया। राष्ट्रीयकरण से पूर्व वाणिज्यिक बैंक ऐसे कार्यों का सम्पादन सुचारू रूप से नहीं कर सके जिनकी आजादी के बाद अपेक्षा की गयी थी जिसमें मुख्य रूप से देश में छोटे तथा मध्यम क्षेणी के उद्यमकर्ताओं का विकास शामिल था। यह आवश्यक समझा गया कि देश में आर्थिक विकास को गति तभी मिल सकती है जब मध्यम वर्गीय समाज स्वरोजगार तथा उद्यमों से सम्बन्धित किया जा सकता है। आर्थिक विकास के लाभों का केन्द्रीयकरण होने की बजाय समाज के सभी वर्गों में फैलाव सुनिश्चित हो। कुछ वर्ग विशेष तक ही आर्थिक विकास की प्रक्रिया का सिमटकर रह जाना आर्थिक विकास का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता है।

भारतीय नीति निर्माताओं ने यह आशा व्यक्त की थी कि आर्थिक विकास के दौर में बैंकिंग प्रणाली इन प्रभावों को समाज के मध्य फैलाने में सहायक होगी। 1969 में चौदह वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद देश में कृषि उद्योग तथा सेवा क्षेत्र में भी सामाजिक ढंग से विकास की रणनीति तय की गयी जिसमें बैंकों की भूमिका को और अत्यधिक बढ़ाने पर जोर दिय गया। द्वितीय क्रम में बैंकों के राष्ट्रीयकरण तक भारत सरकार समाजवादी सामाजिक ढाँचे के विकास पर जोर देती रही।

## 9.4 बैंकों का राष्ट्रीयकरण

भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की शुरूआत सरकार का एक वृहद एक सामाजिक आर्थिक परिवर्तनकारी प्रयास रहा। भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 के अन्तर्गत 01 अप्रैल 1935 को भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना की गयी। वर्ष 1945 में भारतीय बैंकिंग प्रणाली का समन्वित नियमन करने हेतु भारतीय बैंकिंग अधिनियम पारित किया गया। इसी दौरान 01 जनवरी 1949 को भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और देश

की मौद्रिक वित्तीय व्यवस्था के प्रचालन, संगठन, निरीक्षण, विनियमन व विकास में अग्रणी भूमिका का उत्तरदायित्व भारतीय रिजर्व बैंक को सौंपा गया।

1950 के दशक में सरकार पर देश की वित्तीय व्यवस्था को मजबूती देने के साथ–साथ जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने की जिम्मेदारी बढ़ती गयी। सन 60 के दशक में हरित क्रान्ति के लागू करने से देश की अर्थव्यवस्था के विकास की जिम्मेदारी बैंकिंग प्रणाली पर आना स्वाभाविक हो गया। कृषि का विकास ग्राम भृण की समुचित व्यवस्था के बिना सम्भव नहीं था।

आपको यहां पर यह भी ध्यान दिलाना होगा कि राष्ट्रीयकरण के पूर्व से ही बैंकिंग प्रणाली में समय–समय पर सुधार एवं परिवर्तन सम्बन्धी विचार उत्पन्न होने लगे थे। सरकार को सकारात्मक तथा प्रतिकूलात्मक दृष्टिकोणों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी जिसके लिए वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को एक कारगार उपाय समझा गया था।

01 जुलाई 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा इसका नाम बदलकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कर दिया गया। इसके साथ 8 अन्य बैंकों की सहायक बैंक के रूप में बदलकर 'स्टेट बैंक समूह' गठित किया गया।

## स्टेट बैंक समूह

1. स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर
2. स्टेट बैंक ऑफ जयपुर
3. स्टेट बैंक ऑफ हैदाराबाद
4. स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर
5. स्टेट बैंक ऑफ मैसूर
6. स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र
7. स्टेट बैंक ऑफ पटियाला
8. स्टेट बैंक ऑफ द्रावनकोर

स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर के एकीकरण के बाद इस समूह में बैंकों की संख्या 7 रह गयी। जुलाई 2008 में स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र तथा जून 2009 को स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर का स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में विलय के परिणामस्वरूप एस.बी.आई. समूह में बैंकों की संख्या वर्तमान में 5 रह गयी है। 19 जुलाई 1969 को 14 बड़े वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जो निम्नवत हैं –

1. सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया (CBI)
2. बैंक बॉफ इण्डिया (BOI)
3. पंजाब नेशनल बैंक (PNB)
4. केनरा बैंक
5. यूनाइटेड कामर्शियल बैंक
6. सिंडीकेट
7. बैंक ऑफ बड़ौदा (BOB)
14. बैंक ऑफ महाराष्ट्र
8. यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया
9. यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया
10. देना बैंक
11. इलाहाबाद बैंक
12. इण्डियन बैंक
13. इण्डियन ओवरसीज बैंक (IOB)

पुनः 15 अप्रैल 1980 को निजी क्षेत्र के 6 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिनमें शामिल बैंक निम्नलिखित थीं :–

1– आन्ध्रा बैंक
2– पंजाब एण्ड सिन्ध बैंक
3– न्यू बैंक ऑफ इण्डिया
4– विजया बैंक
5– कॉर्पोरेशन बैंक
6– ओरियण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स

बैंकों के विलयन की प्रक्रिया जारी रही तथा 4 सितम्बर 1993 को भारत सरकार द्वारा न्यू बैंक ऑफ इण्डिया का विलय पंजाब नेशनल बैंक में कर दिया गया। इससे देश में राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंकों की संख्या 20 से घटकर 19 रह गयी है।

## 9.5 राष्ट्रीयकरण पश्चात् प्रगति

आपको यहाँ पर बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंकिंग क्षेत्र में हुई प्रगति को निम्न रूप में दर्शाकर समझाया जा सकता है।

1. **जमा एवं उधार राशि में वृद्धि**–बैंकिंग क्षेत्र की प्रगति का आधार समस्त अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की जमा एवं उधार राशि को माना जा सकता है। सन् 1969 में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंकों की कुल जमा राशि तथा बैंक द्वारा प्रदत्त उधार राशि में उल्लेखनीय सुधार हुआ। इसके लिए सरकारी विकासात्मक नीतियाँ, बैंकों द्वारा प्राथमिकताओं का निर्धारण तथा अर्थव्यवस्था को तीव्र गतिशीलता देने वाले प्रयासों को मुख्यतः उत्तरदायी माना जाता है। बैंकों की जमा राशि तथा प्रदत्त उधार राशि में वृद्धि सम्बन्धी प्रवृत्तियों को निम्न तालिका 9.1 द्वारा दर्शाया जा सकता है।

**तालिका 9.1**

**अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की वित्तीय प्रगति**

| वर्ष | बैंक जमा (करोड़ रूपये) | बैंक उधार (करोड़ रूपये) |
|---|---|---|
| 1970–71 | 5910 | 4690 |
| 1990–91 | 192541 | 116300 |
| 2000–2001 | 962620 | 511430 |
| 2007–08 | 3196941 | 2361916 |
| 2008–09 | 3834110 | 2775549 |
| 2009–10 | 4492826 | 3244788 |
| 2010–11 | 5207969 | 3942083 |
| 2011–12 | 5909082 | 4611852 |

स्रोत – (i) Report on currency and Finance, 2000-01

(ii) दत्त एवं सुन्दरम् भारतीय अर्थव्यवस्था, पृष्ठ 910

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों द्वारा जमा एवं उधार राशि में प्राप्त की गयी उपलब्धियों से आय तालिका 9.1 के अवलोकन के पश्चात् भलीभाँति परिचित हो सकेंगे। वर्ष 1970–71 में कुल बैंक जमा रू० 5910 करोड़ थी जो 1990–91 में बढ़कर रू० 192541 करोड़ हो गयी। यह जमा राशि वर्ष 2008–09 में

बढ़कर रू० 3834110 करोड़ के स्तर पर पहुँच गयी तथा वर्ष 2011–12 में यह राशि बढ़कर रू० 5909082 करोड़ हो गयी। इसी क्रम में वर्ष 1970–71 में बैंकों की कुल उधार राशि रू० 4690 करोड़ रूपये थी जो वर्ष 2008–09 में कुल उधार राशि रू० 2775549 करोड़ रूपये थी जो वर्ष 2011–12 में बढ़कर रू० 4611852 करोड़ के स्तर पर पहुँच गयी।

2. **शाखा विस्तार**–जुलाई 1969 में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण में उन बैंकों को शामिल किया गया जिनकी जमा राशि 50 करोड़ रूपये से अधिक थी। अर्थव्यवस्था में बैंकों की भूमिका को बढ़ाने तथा नियोजित तरीके से वित्तीय प्रणाली संचालित करने के लिए 15 अप्रैल 1980 को छः और वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिसके परिणामस्वरूप सरकारी क्षेत्र ने बैंकों के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इस प्रक्रिया से प्रभावित होकर राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा अपनी शाखाओं का तेजी से विस्तार किया गया जिसे तालिका 9.2 द्वारा आपको आसानी से समझाया जा सकता है।

**तालिका 9.2**

**राष्ट्रीयकरण के पश्चात् शाखा विस्तार की स्थिति**

| वर्ष | कुल शाखाऐं | ग्रामीण शाखाऐं | ग्रामीण शाखाओं का अनुपात (%) | जनसंख्या प्रति बैंक कार्यालय |
|---|---|---|---|---|
| 1969 | 8260 | 1860 | 22 | 63800 |
| 1991 | 60650 | 32750 | 54 | 14150 |
| 2007 | 72170 | 30590 | 42 | 15000 |
| 2012 | 97111 | 35850 | 36.9 | 12600 |

स्रोत

आपको तालिका 9.2 के अवलोकन से यह विभिन्न समयावधियों में राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकों की शाखा विस्तार की स्थिति का भंलीभांति अध्ययन होगा। वर्ष 1969 में बैंकों की कुल शाखाएँ 8260 थीं जो 1991 में 60650 हो गयी इस समयावधि में 52390 बैंक शाखाओं का विस्तार किया गया। इसी समयावधि में ग्रामीण बैंक शाखाओं की संख्या 1860 से बढ़कर 32750 हो गयी जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि बैंकिंग व्यवस्था में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास पर पूरा ध्यान दिया गया। वर्ष 2007 में देश में बैंक शाखाओं की संख्या 32750 से बढ़कर 72170 तक पहुँच गयी जिसमें ग्रामीण बैंक से बढ़कर 72170 तक पहुँच गयी जिसमें ग्रामीण बैंक शाखाऐं 30590 थी। वर्ष 2012 में देश में बैंक शाखाओं की कुल संख्या 97111 तक पहुँच गयी जिसमें ग्रामीण बैंक शाखाओं की संख्या 35850 रही। राष्ट्रीयकरण के दौरान ग्रामीण बैंक शाखाओं का अनुपात 22 प्रतिशत था जो 199 में बढ़कर 54 प्रतिशत हो गया। वर्ष 2007 के अनुपात 42 प्रतिशत के स्थान पर वर्ष 2012 में यह अनुपात 36.9 प्रतिशत हो गया।

**प्राथमिकता निर्धारण** – बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् प्राथमिकता क्षेत्रों को भारी मात्रा में उधार दिया गया। जून 1969 से मार्च 2012 की समयावधि में प्राथमिक क्षेत्र को दिये गये उधार की स्थिति तालिका 9.3 द्वारा निम्नवत् दर्शाया जा सकता है।

**तालिका 9.3**

**सरकारी बैंकों द्वारा प्राथमिकताओं का निर्धारण एवं उधार की स्थिति**

करोड रूपये में

| प्राथमिकता वाले क्षेत्र | जून 1969 | मार्च 2009 | मार्च 2012 |
|---|---|---|---|
| कृषि | 160 | 298211 | 478600 |
| लघु उद्योग | 260 | 191307 | 396600 |
| अन्य प्राथमिकता क्षेत्र | 20 | 230565 | 288800 |
| कुल प्राथमिकता | 440 | 720083 | 1130700 |
| कुल ऋणों से प्राथमिकता क्षेत्रों का अनुपात | 2 | 42.5 | 37.5 |

स्रोत –

तालिका 9.3 के अवलोकन से आप समझ लेंगे कि सार्वजनिक बैंकों द्वारा कृषि, लघु उद्योग के साथ अन्य प्राथमिकता क्षेत्रों का निर्धारण किया गया। जिसके अन्तर्गत वर्ष 1969 में रू० 440 करोड़ हो गया। वर्ष मार्च 2009 में बढ़कर रू० 720083 करोड़ हो गया। वर्ष मार्च 2012 में कुल उधार रू० 1130700 करोड़ के स्तर पर पहुँच गया। वर्ष 1969 में लघु उद्योग क्षेत्र को सर्वाधिक रू० 160 करोड़ का उधार दिया गया जो वर्ष 2012 में रू० 396600 करोड़ रूपये हो गया। कृषि क्षेत्र को जून 1969 में कुल उधार रू० 160 करोड़ था जो माच्र 2009 में 298211 करोड़ हो गया तथा यह उधार मार्च 2012 में बढ़कर रू० 478600 करोड़ के स्तर पर पहुँच गया। आपको यहाँ ध्यान देना होगा कि जून 1969 में लघु उद्यमों को सर्वाधिक उधार दिया गया लेकिन मार्च 2012 में कृषि क्षेत्र सबसे अधिक उधार रू० 478600 करोड़ के साथ पहले स्थान पर आ गया।

आनुपातिक रूप से जून 1969 में कुल ऋणों में प्राथमिकता क्षेत्रों के उधार का अनुपात केवल 2 प्रतिशत था जो मार्च 2009 में बढ़कर 42.5 प्रतिशत हो गया। लेकिन मार्च 2012 में इस प्राथमिकता उधार अनुपात में कमी आयी तथा यह 37.5 प्रतिशत के स्तर पर आ गया। इसके लिए उत्तरदायीं कारणों की व्याख्या यथास्थानों पर की गयी है।

## प्राथमिकता क्षेत्र को उधार सम्बन्धी समस्याएं

किसानों, कारीगरों तथा छोटे उद्यमियों के विकास के लिए सरकारी प्रयासों से प्राथमिकता क्षेत्रों को उधार देने के लिए बैंकों द्वारा अत्यधिक सक्रियता दिखाई गयी लेकिन अनेक मूलभूत समस्याओं के चलते प्राथमिकता उधार के प्रति सक्रियता कम हुई। जिसके लिए निम्नलिखित कारक जिम्मेदार हैं –

1. प्राथमिकता क्षेत्र को 40 प्रतिशत उधार देने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बैंकों द्वारा बड़े स्तर पर उधार दिया गया जिसके अन्तर्गत कमजोर वर्ग को भी शामिल किया गया जिसकी वापसी समय से नहीं हो सकी।
2. प्राथमिकता वाले ऋण छोटे खातों से सम्बन्धित थे। इसीलिए ऋण को वितरण पर सार्वजनिक बैंक उचित निगरानी नहीं रख सकी जिसका बैंकों की लाभदायकता पर बुरा प्रभाव पड़ा।
3. वाणिज्यिक बैंकों को अपनी जमा 53.5 से 55 प्रतिशत सी.आर.आर. तथा एस.एल. आर. के रूप में रखा जाता है तथा शेष जमाओं का 40 प्रतिशत प्राथमिक क्षेत्रों को दिया गया। ब्याज राशि प्राप्त करने के लिए बैंकों को कम जमा राशि ही उपलब्ध रही हैं।

4. प्राथमिकता क्षेत्र को बैंक उधार देश के सभी राज्यों में समान नहीं था। इससे देश में असन्तुलन बढ़ा है। इसीलिए समय–समय पर प्राथमिक क्षेत्र की अवधारणा को न अपनाने की सिफारिशें की गयी हैं।

3. **लाभदायकता में वृद्धि** –भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जारी की गयी एक रिपोर्ट में अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की लाभदायकता की स्थिति को स्पष्ट किया गया। भारतीय रिजर्व बैंक की यह रिपोर्ट Trend and Progress of Banking in India के नाम से जारी की गयी थी। इस रिपोर्ट में स्टेट बैंक ग्रुप के आठ बैंक, 19 राष्ट्रीयकृत बैंक, 30 निजी क्षेत्र के अन्य बैंक तथा 40 विदेशी बैंकों की शुद्ध लाभदायकता की स्थिति को 9.4 द्वारा निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है।

**तालिका 9.4**

**वाणिज्यिक बैंकों की शुद्ध लाभदायकता**

**करोड़ रूपये में**

| बैंक का नाम | वर्ष | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | 1991–92 | 1995–96 | 2002–03 | 2007–08 | 2010–11 |
| स्टेट बैंक समूह (8) | 244 | 793 | 4510 | 9006 | 11863 |
| राष्ट्रीयकृत बैंक (9) | 559 | –1160 | 7780 | 16856 | 33037 |
| निजी क्षेत्र के बैंक (30) | 77 | 557 | 2960 | 9622 | 17713 |
| विदेशी बैंक (40) | 320 | 749 | 1820 | 6612 | 7719 |

स्रोत– दत्त एवं सुन्दरम् भारतीय अर्थव्यवस्था – पृष्ठ 916–917

ऊपर दी गयी तालिका में आर्थिक सुधारों के बाद वाणिज्यिक बैंकों की शुद्ध लाभदायकता को स्पष्ट किया गया है। तालिका से स्पष्ट आपको अलग–अलग क्षेत्रों की बैंकों की लाभदायकता की तुलनात्मक स्थिति से भी आप भंलीभांति परचित हो सकेंगे। तालिका 9.5 से यह स्पष्ट होता है कि स्टेट बैंक समूह के 8 बैंकों की कुल शुद्ध लाभदायकता वर्ष 1991–92 में 244 करोड़ रूपये थी जो वर्ष 2002–03 में बढ़कर 4510 करोड़ रूपये हो गयी तथा वर्ष 2007–08 में 9006 करोड़ रूपये के साथ वर्ष 2011–12 में 11863 करोड़ रूपये के स्तर पर पहुँच गयी। वर्ष 1991–92 में 19 राष्ट्रीयकृत बैंकों की शुद्ध लाभदायकता 559 करोड़ रूपये थी। वर्ष 1995–96 में इन बैंकों की शुद्ध लाभदायकता ऋणात्मक रूप में 1160 करोड़ रूपये रही जो राष्ट्रीयकृत बैंकों के लिए एक अप्रत्याशित घटना रही। वर्ष 2010–11 में यह शुद्ध लाभदायकता 33037 करोड़ रूपये हो गयी।

इसी संदर्भ में निजी क्षेत्र के 30 बैंकों की शुद्ध लाभदायकता वर्ष 1991–92 में 77 करोड़ रूपये थी जो वर्ष 1995–96 में बढ़कर 557 करोड़ रूपये हो गयी। वर्ष 2002–03 में शुद्ध लाभ लाभदायकता 2960 करोड़ रूपये से बढ़कर वर्ष 2010–11 में रू० 17713 करोड़ के स्तर पर पहुँच गयी। वर्ष 1991–92 से वर्ष 2010–11 की समयावधि को ध्यान में रखा जाय तो निजी क्षेत्र के बैंकों की शुद्ध लाभदायकता रू० 77 करोड़ से बढ़कर 17719 करोड़ हुई है जो निजी बैंक के बैंकों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी समयावधि में 19 राष्ट्रीयकृत बैंकों की शुद्ध लाभदायकता तथा निजी क्षेत्र की 20 बैंकों की शुद्ध लाभदायकता की तुलना करें तो यह स्पष्ट होता है कि निजी क्षेत्र की शुद्ध लाभदायकता अपेक्षाकृत अधिक रही। इसी क्रम में विदेशी 40 बैंकों की शुद्ध लाभदायकता वर्ष 1991–92 में रू० 320 करोड़ थी जो वर्ष 1995–96 में रू० 749 करोड़ हो गयी। वष्र

2002–03 में यह शुद्ध लाभदायकता रू० 1820 करोड़ रू० से बढ़कर वर्ष 2010–11 में 7719 करोड़ रूपये हो गयी। तुलनात्मक रूप से भारत में विदेशी बैंकों की शुद्ध लाभदायकता में अपेक्षाकृत कम वृद्धि दर्ज की गयी। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की शुद्ध लाभदायकता कम रहने के पीछे कुछ सार्वजनिक स्तर के कार्य ही रहे हैं। ग्राम व शहरी विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन, ग्रामीण क्षेत्र में शाखा विस्तार, प्राथमिक क्षेत्रों को उधार वरीयता तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का क्रियान्वयन आदि कार्यों से सार्वजनिक बैंकों की लाभदायकता को ऊँचे स्तर पर नहीं ले जाया जा सका। उपर्युक्त विवरण से भारत में निजी क्षेत्र की बैंकों की उपयोगिता भी स्पष्ट होती है।

अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की लाभदायकता का तुलनात्मक विश्लेषण से आप यह भलीभाँति समझ गये होगें कि भारत में विभिन्न प्रकार के वाणिज्यिक बैंकों की लाभदायकता का स्तर एवं दिशा क्या है? अब हमको उन कारणों को भी जानना अत्यन्त आवश्यक है जो वाणिज्यिक बैंकों के विकास एवं उन्नति को तीव्र करने के लिए अत्यन्न ही आवश्यक है। नरसिम्हम समिति प्रथम ने सार्वजनिक क्षेत्र के वाणिज्यिक बैंकों की लाभदायकता की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया और नीची लाभदायकता के लिए उत्तरदायी कारकों को चिन्हित किया। समिति ने नीची लाभदायकता के लिए दो प्रकार के कारणों का उल्लेख किया। एक तरफ बैंकों की ब्याज राशि में गिरावट लाने वाले कारक हैं तो दूसरी ओर कुछ कारक बैंकों की परिचालन लागत को बढ़ाते हैं। हम यहाँ पर इन दोनों प्रकार के कारणों की विवेचना करेंगे जिससे आपको नीची लाभदायकता के लिए उत्तरदायी कारणों के बारे में गहन जानकारी हो सकेगी।

**ब्याज राशि आय सम्बन्धी कारण –**

समिति ने निष्कर्ष निकाला कि नीची ब्याज दर पर कानूनी तरलता अनुपात (SLR) तथा रोक (नकद) आरक्षण अनुपात (CRR) का रखना है। वाणिज्यिक बैंकों की कुल जमाओं का एक बड़ा भाग कानूनी तरलता अनुपात नकद आरक्षित अनुपात के रूप में रखा जाता है जिससे बैंकों को इस राशि पर बहुत ही कम ब्याज पर प्राप्त होती है। इससे बैंकों की कुल ब्याज राशि में कमी आती है। यदि इस भाग पर भी बैंक उधार देकर ऊँची ब्याज कमा सकें तो बैंकों की लाभदायकता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। इसके साथ समिति ने प्राथमिक क्षेत्र को दिये जाने वाले उधार को भी निजी लाभदायकता के लिए जिम्मेदार ठहराया। वाणिज्यिक बैकों द्वारा प्राथमिकता क्षेत्र को ब्याज में रियायतें देकर ही ऋण दिया जाता रहा है जिस पर बैंकों को बहुत कम ब्याज प्राप्त होता है। इसी संदर्भ में सार्वजनिक बैंकों पर सरकार का यह दबाव रहता है कि वह कृषि तथा उद्योग के विकास के लिए भी रियायती ऋण उपलब्ध कराये जायें जिनकी समय से वापसी होना आसान नहीं रह जाता है। सरकारी नीतियों में समय–समय पर आने वाले बदलाव के कारण भी बैंकों का काफी उधार गैर–निष्पादित ऋण के रूप में रह जाता है जिससे बैंकों की लाभदायकता के स्थान पर बैंकों को हानि ही उठानी होती है।

**परिचालन लागत सम्बन्धी कारण –**

समिति की नजरों में वाणिज्यिक बैंकों की परिचालन लागत में वृद्धि से लाभदायकता में गिरावट आयी है। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि परिचालन लागत में वृद्धि वाले कारक भी सरकारी योजनाओं तथा नीतियों से प्रभावित रहे हैं। पिछड़े तथा अनार्थिक क्षेत्रों में शाखाओं का विस्तार से बैंकों पर कर्मचारियों की भारी भर्ती का बजन बढ़

जाता है जिसके वेतन आदि के कारण भी लाभदायकता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इसके साथ मजदूर संघीय क्रियाऐं तथा निम्न उत्पादकता भी नीची लाभदायकता के लिए उत्तरदायी माना गया है।

ब्याज राशि तथा परिचालन लागत सम्बन्धी कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों को भी चिन्हित किया गया है जो बैंकों की नीची लाभदायकता को प्रेरित करते हैं जिसमें स्टॉक मार्केट घोटाला तथा स्टॉक एक्सचेंज दलालों की गलत नीतियाँ शामिल हैं।

4. **इण्टरनेट बैंकिंग** –

भारत में सूचना तकनीकी के विकास के कारण बैंकिंग क्षेत्र में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया है जिससे बैंकों की कार्यप्रणाली, विस्तार तथा कार्यक्षमता पर अत्यधिक सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इन्टरनेट बैंकिंग से वाणिज्यिक बैंकों की कार्य पद्धति अत्यधिक सुलभ तथा तीव्रगामी हो गयी है ग्राहकों को भी जमा तथा निकासी में आसानी हुई है एवं ग्राहकों को अत्यधिक तथा बार–बार नकदी लाने एवं ले जाने की समस्या से छुटकारा मिला है। इण्टरनेट बैंकिंग से धन के आवागमन पर पत्राचार तथा दूरी सम्बन्धी समस्या का समाधान हुआ है। आपको शायद ज्ञान हो कि वर्तमान में धोखाधड़ी से रूपये निकालना तथा ए.टी.एम. कार्डों की चोरी जैसे घटनाओं की संख्या बढ़ रही है। इस दिशा में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निम्नलिखित दिशा–निर्देश जारी किये हैं।

1. इण्टरनेट बैंकिंग के साथ जुड़े हुए जोखिम
2. इण्टरनेट सम्बन्धी प्रौद्योगिकी और सुरक्षा सम्बन्धी मापदण्ड
3. नई प्रकार की इस प्रक्रिया से सम्बन्धित कानूनी मुद्दे
4. भारतीय रिजर्व बैंक की विनियामक एवं निरीक्षात्मक चिन्ताऐं।

## 9.6 बैंकिंग सुधार

बैंकिंग प्रणाली पर नरसिम्हम समिति 1991, ने निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर अनेक सिफारिशें की जिन्हें भारत सरकार द्वारा स्वीकार करते हुए लागू किया गया।

**समति के उद्देश्य** –

- संचालन लोचशीलता को एक सीमा तक बनाये रखना।
- सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को अपने निर्णयों में आन्तरिक स्वायत्तता प्रदान करना।
- बैंक क्रियाओं में व्यावसायिकता की अधिक मात्रा का प्रयोग।

**समिति की बैंकिंग प्रगति से सम्बन्धित प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित रहीं** :–

1. कृषि व्यापार उद्योग को उन्नत करने के लिए अधिक राशि उपलब्धता तथा बैंकों को अपनी आय बढ़ाने के लिए कानूनी तरलता अनुपात को विधि को छोड़ना।
2. बैंकिंग ढांचे में संरचनात्मक परिवर्तन होना चाहिए। 3 या 4 बैंक वास्तविक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के होने चाहिए। 8 से 10 राष्ट्रीय बैंक ऐसे हों जिनकी शाखाऐं पूरे भारत में फैली हो।
3. स्थानीय बैंकों की क्रियाऐं सामान्यतः किसी एक विशेष क्षेत्र तक सीमित होनी चाहिए।
4. भविष्य में बैंकों का राष्ट्रीयकरण नहीं होना चाहिए।

5. प्रत्येक बैंक स्वतंत्र तथा स्वायत्त होना चाहिए। कार्य की तकनीकी एवं संस्कृति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

इसी क्रम में बैंकिंग क्षेत्र सुधार पर समिति (1998) की नियुक्ति की गयी जिसके अध्ययन भी एम0 नरसिम्हम थे। जिसने निम्नलिखित शिफारिशें की –

- देश में एक मजबूत बैंकिंग प्रणाली कायम होनी चाहिए जो वैश्विक स्तर की हो।
- स्थानीय बैंक किसी राज्य या कुछ जिलों तक ही सीमित रहें ताकि स्थानीय बाजार, लघु व्यापार और कृषि की सेवा कर सकें तथा इन बैंकों की बड़े अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों के साथ सम्बद्ध होना चाहिए।
- बैंकिंग सम्बन्धी कानूनों की समीक्षा से तथा बैंकिंग उद्योग को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जाये।
- बैंक बोर्डों को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त किया जाना चाहिए।

## 9.7 सारांश

भारतीय रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद देश के आर्थिक विकास एवं स्थिरता के लिए वित्तीय प्रणाली में परिवर्तन को आवश्यक समझा गया। समाजवादी ढंग से सामाजिक ढांचा विकसित करने में भी बैंकिंग प्रणाली को उपयोगी समझा गया। 19 जुलाई 1969 को देश के चौदह बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा नवीन बैंकिंग प्रणाली से उम्मीद की गयी कि देश के विकास में महत्वपूर्ण योगदान अदा करेंगी। वर्ष 1969 में राष्ट्रीयकृत बैंकों की कुल 8260 शाखाऐं थी जिसमें से 1860 शाखाऐं ग्रामीण थीं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंकिंग क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। बैंक जमा तथा बैंक उधार राशि में तीव्र वृद्धि हुई। बैंकों की शाखाओं की संख्या में भी तीव्र वृद्धि दर्ज की गयी। वष्र 1969 में 8260 शाखाओं के सापेक्ष वर्ष 2012 में राष्ट्रीयकृत बैंकों की कुल शाखाओं की संख्या 97111 हो गयीं सरकारी बैंकों द्वारा प्राथमिकताओं के निर्धारण में भी प्रगति की गयी। जून 1969 में कुल प्राथमिक उधार 440 करोड़ था जो मार्च 2012 में बढ़कर 1130700 करोड़ रूपये हो गया। राष्ट्रीयकृत बैंकों की लाभदायकता में भी काफी परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीयकृत 19 बैंकों की लाभदायकता 1991–92 में 559 करोड़ रूपये के स्तर पर पहुँच गयी। एम0 नरसिम्हम की अध्यक्षता में वर्ष 1991 तथा 1998 में बैंकिंग क्षेत्र में सुधार हेतु दी गयी शिफारिसों को सरकार द्वारा लागू किया गया।

वाणिज्यिक बैंकों द्वारा प्राथमिकता क्षेत्रों के लिए दिये गये उधार में उल्लेखनीय वृद्धि की गयी। मार्च 2009 में प्राथमिकता क्षेत्र को रू० 720083 करोड़ का ऋण उपलब्ध कराया गया जो मार्च 2012 में रू० 1130700 करोड़ के स्तर पर पहुँच गया। इसी क्रम में अनुपातिक रूप से 2009 में प्राथमिक क्षेत्रों के लिए उधार का अनुपात कुल उधार में 42.5 प्रतिशत था। लेकिन मार्च 2012 में प्राथमिकता क्षेत्र के उधार में आनुपातिक रूप से कमी दर्ज की गयी।

## 9.8 शब्दावली

- **भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934** – भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना हेतु पारित अधिनियम है जिसमें भारतीय रिजर्व बैंक के कार्य एवं अधिकार आदि की व्यवस्था है।

- **समाजवाद** – उत्पादन सम्बन्धी कार्यों एवं क्रियाओं पर सरकार व्यक्तियों एवं संस्थाओं का अधिकार होता है।
- **निजी बैंक** – ऐसे बैंक जिनके संचालन एवं व्यवस्था पर निजी व्यक्तियों एवं संस्थाओं का अधिकार होता है।
- **विदेशी बैंक** – ऐसे बैंक जो भारत में संचालित है लेकिन इनका संचालन भारत से बाहर के व्यक्तियों, संस्थाओं एवं निगमों द्वारा किया जाता है। ये बैंक प्राप्त लाभ को अपने देश को ले जाते हैं।
- **प्राथमिकता निर्धारण** – सरकार द्वारा पूर्व निर्धारित वे क्षेत्र जिनको बैंकों से उधार की अत्यन्त आवश्यकता होती है तथा सरकार के दिशा–निर्देशों के अनुसार बैंकों को आवश्यक रूप से उधार देना होता है। उधार की दृष्टि से ये अत्यन्त तीव्र उधार आवश्यकता वाले क्षेत्र हैं। जो कृषि, लघु उद्योग, स्वरोजगारी, कारीगर आदि से सम्बन्धित हैं।

## 9.9 लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए –

1. केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति का गठन कब किया गया?
2. वाणिज्यिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के दो उद्देश्यों को संक्षेप में लिखो?
3. भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कब हुआ?
4. स्टेट बैंक समूह की बैंकों के नाम लिखो?
5. 1980 को राष्ट्रीयकरण वाले बैंकों के नाम बताओ?
6. निजी क्षेत्र के बैंकों तथा राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंकों की लाभदायकता की संक्षेप में तुलना कीजिए?

(ब) नीचे दिये गये कथनों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

1. स्टेट बैंक समूह में ..... बैंक शामिल हैं। (10, 12, 5, 8)
2. न्यू बैंक ऑफ इण्डिया का विलय ..... को हुआ।
(4 सितम्बर 1993, 10 जुलाई 1985, 1 अप्रैल 2007)
3. 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय प्रत्येक बैंक की जमाराशि ..... रूपये थी।
(10 करोड़, 50 करोड़, 75 करोड़, 80 करोड़)
4. जून 1969 को सरकारी बैंकों की कुल प्राथमिकता ..... थी।
(440 करोड़ रूपये, 300 करोड़ रूपये, 800 करोड़ रूपये)
5. एम0 नरसिम्हम समितियों का गठन क्रमशः ..... में किया गया।
(1980–1985, 1991–1998, 2001–2005)

(स) नीचे दिये गये कथनों में से सत्य/असत्य की पहचान कीजिए –

1. भारतीय रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है। (सत्य/असत्य)
2. बैंकिंग क्षेत्र सुधार समिति के अध्यक्ष सी.रंगराजन थे। (सत्य/असत्य)
3. मार्च 2012 में कुल ऋणों से प्राथमिकता क्षेत्रों का अनुपात 37.5 प्रतिशत था। (सत्य/असत्य)
4. वर्तमान में भारत में राष्ट्रीयकृत बैंकों की संख्या 19 है। (सत्य/असत्य)
5. पंजाब नेशनल बैंक का राष्ट्रीयकरण 01 अप्रैल 1950 को किया गया। (सत्य/असत्य)

उत्तर –

(ब) (1) 05, (2) 4 सितम्बर 1993, (3) 50 करोड़, (4) 440 करोड़ रूपये, (5) 1991–1998

(स) (1) सत्य (2) असत्य (3) सत्य (4) सत्य (5) असत्य

## 9.10 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दीजिए –

1. भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता का मूल्यांकन कीजिए? तथा भारतीय रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के महत्त्व को समझाइये?
2. भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण पर एक विस्तृत लेख लिखिए?
3. बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात विभिन्न क्षेत्रों में की गयी बैंकिंग प्रगति की समीक्षा कीजिए?
4. राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति तथा निजी क्षेत्र की बैंकिंग प्रगति की तुलनात्मक विवेचना कीजिए?

## 9.11 संदर्भ ग्रंथ सूची


- गौरव दत्त एवं अश्विनी महाजन (2013) दत्त एवं सुन्दरम भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चन्द एण्ड कम्पनी प्रा0 लि0, रामनगर, नई दिल्ली।
- आहूजा, एच.एल. (2003) उच्चतर समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण एस. चन्द एण्ड कम्पनी प्रा0 लि0, रामनगर, नई दिल्ली।
- मिश्रा एण्ड पुरी (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।


## 9.12 सहायक संदर्भ ग्रंथ सूची


- रिका Shekhar K.G. & Lekshmy Banking Theory and Practice Vikas Shekhar (2006)Publishing House Pvt. Ltd., Sector-4, Noida (U.P.)
- सेठी, टी.टी. (2008) मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं राजस्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, संजय पैलेस, आगरा।
- मिश्र, जगदीश नारायण (2010) भारतीय अर्थव्यवथा, पुस्तक महल पब्लिकेशन्स, दरियागंज, नई दिल्ली।

# इकाई–10 आर्थिक सुधार काल में वाणिज्यिक बैंकों में हुए सुधार एवं नवीन नीतियाँ

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 आर्थिक सुधार की प्रक्रिया
10.4 आर्थिक सुधार एवं वाणिज्यिक बैंकों का विकास
10.4.1.1 बैंकिंग सुधार पर समितियाँ
10.5 बैंकिंग सुधार पर सरकारी नवीन नीतियाँ
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 लघु उत्तरीय प्रश्न
10.9 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
10.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
10.11 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 10.1 प्रस्तावना

आपने इससे पूर्व की इकाई में राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंकों द्वारा की गयी प्रगति का भंलीभांति अध्ययन किया होगा। जिसमें बैंकों की प्रगति से सम्बन्धित दिशाओं तथा मात्रात्मक तत्यों से परचित हुए होंगे।

प्रस्तुत इकाई आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत बैंकिंग सुधारों से सम्बन्धित की गयी है जिसमें बैंकिंग सुधार से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को शामिल किया गया है। बैंकिंग सुधारों की स्थिति से सम्बन्धित विभिन्न सरकारी समितियों तथा अध्ययन दल की सिफारिशों के साथ सरकारी रणनीतियों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

बैंकिंग सुधारों से हमारा तात्पर्य बैंकिंग क्षेत्र में विकास की गति को तेज करने के लिए ऐसे परिवर्तनों से है जो वर्तमान समय में ग्राहकों/उपभोक्ताओं तथा बैंक व्यवसाय के हितों को सुरक्षित करते हुए आवश्यक हो गये हैं। सामान्य रूप से बैंकिंग सुधारों मे उदारवादी नीतियों के साथ राष्ट्रीयकृत बैंकों के साथ–साथ निजी बैंकों के सामन्जस्य के उपाय शामिल किये गये हैं। बैंकों तथा भारतीय रिजर्व बैंक व सरकार के साथ उदारात्मक सम्बन्धों को स्थापित किया गया है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आपको बैकिंग सुधारों तथा नवीन नीतियों पर अत्यधिक जानकारी प्राप्त होगी।

## 10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अत्यन्त आसानी से समझ सकेंगे कि–

- ✓ आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया क्या है तथा इसका वाणिज्यिक बैंकों से क्या सम्बन्ध रहा है।
- ✓ आप यह भंलीभांति समझ सकेंगे कि आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत वाणिज्यिक बैंकों के क्षेत्र में किस आधार पर उन्नति की रणनीति तय की गयी तथा इस रणनीति का बैंकों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा?
- ✓ वाणिज्यिक बैंकों के सुधार हेतु सरकार द्वारा क्या प्रयास किये गये तथा इन प्रयासों का क्या परिणाम निकलो।
- ✓ आप यह भी समझ सकेंगे कि वर्तमान में सुधार काल में वाणिज्यिक बैंकें किस प्रकार की समस्याओं एवं चुनौतियों का सामना कर रहे हैं तथा भविष्य में इनके समाधान हेतु सरकार द्वारा क्या नीतियां तय की गयी हैं।
- ✓ आप आर्थिक सुधारों के समय में वाणिज्यिक बैंकों के विकास से जुड़े अन्य विषयों की भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 10.3 आर्थिक सुधार की प्रक्रिया

शायद आपको ज्ञात हो कि सन् 1980 में दूसरे चरण में वाणिज्यिक के अनेक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की विसंगतियां व्यापक स्तर पर पैदा हुई जिनका प्रभाव वाणिज्यिक क्षेत्र अर्थव्यवस्था के लिए एक मशीनरी के रूप में कार्य करता है तथा अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु भी है। इसीलिए आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अन्तर्गत बैंकिंग क्षेत्र में सुधारों की अनदेखी नहीं की जा सकती है। लम्बे समय से निवेश, बचत, कार्य क्षमता, श्रमिक तथा नौकरशाही से सम्बन्धित लापरवाही तथा साधनों के अपव्यय का आरोप सरकारों पर लगाया जाता

रहा। अर्थव्यवस्था में कार्य कुशलता तथा क्षमता गिरने से नब्बे के दशक के प्रारम्भ में सरकार द्वारा ठोस कदम उठाया जाना स्वाभाविक हो गया। आपको प्रारम्भ में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अर्थ तथा तथ्यों से अवगत कराया जाना अत्यन्त उपयोगी होगा। सामान्य रूप से अर्थव्यवस्था की गतिशीलता तथा उत्पादकता बढ़ाने के लिए परम्परागत आर्थिक नीतियों में समय के अनुकूल परिवर्तन करना ही आर्थिक सुधारों के रूप में जाना जा सकता है जिसका मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था के विकास को अधिक उन्मुक्त करना रहा है।

बैंकिंग क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसका अर्थव्यवस्था के तीनों क्षेत्रों – प्रारम्भिक, द्वितीयक तथा तृतीय, से गहरा अन्तर्सम्बन्ध है। इसीलिए आर्थिक सुधारों में कोई भी आर्थिक क्रिया–कलाप किसी न किसी रूप से बैंकिंग व्यवस्था, कार्यप्रणाली, उद्देश्य तथा प्रबन्धन आदि में अपना प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव डालता है जिससे इस क्षेत्र में भी समयानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक हो जाता है। आपको यहाँ पर यह संक्षेप में बता दें कि भारत में आर्थिक सुधार के अन्तर्गत तीन अवधारणाओं का मूल रूप से प्रयोग किया जा रहा है – 1–उदारीकरण, 2–वैश्वीकरण, 3–निजीकरण

सन् 1990–91 के बाद से बैंकिंग क्षेत्र में उक्त तीन अवधारणाओं के आधार पर कार्य किया गया है। भारतीय वाणिज्यिक बैंकों को वैश्विक स्तर पर ले जाने के प्रयास, उपभोक्ताओं/ग्राहकों के लिए उदारवादी सेवाऐं प्रारम्भ करना तथा बैंकिंग क्षेत्र में निजी बैंकों की स्थापना की स्वीकृति के साथ आर्थिक सुधारों के साथ–साथ चलाया जा रहा है। आपको यहां पर यह भी ध्यान देना होगा कि आर्थिक सुधारों को लागू करने एवं सफलता प्राप्त करने के पीछे बैंकिंग सेवाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीने वाले से उच्च धनी वर्ग तक सभी बैंकिंग सेवाओं से दूर हटकर अपना उद्देश्य पूर्ण नहीं कर सकते हैं।

## 10.4 आर्थिक सुधार एवं वाणिज्यिक बैंकों का विकास की प्रक्रिया

आपने पिछली इकाईयों के अध्ययन से यह भलीभांति समझ ही लिया होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र में रहते हुए भी सन् नब्बे के दशक तक बैंकों द्वारा महत्वपूर्ण तथा बड़े स्तर पर सफलताऐं हासिल की गयीं। देश की अर्थव्यवस्था की बदलती आन्तरिक गति, कार्यप्रणाली तथा कार्य क्षमता के अनुसार बैंकों के अन्दर भी वांछित परिवर्तन किये गये जिसमें भी व्यापक स्तर पर सफलता मिल चुकी है। सन् 1990 में बैंकों के लिए तैयार की गयी कार्ययोजना में लाभ प्रदता, संगठन और नियंत्रण व्यवस्था और श्रम शक्ति के उपयोग में सुधार करना, ग्राहक सेवा की गुणवत्ता का उन्नयन, प्रौद्योगिकी का आधुनिकरण, ऋण प्रबन्धन को और अधिक मजबूत करना तथा सेवा क्षेत्र दृष्टिकोण का उचित ढंग से कार्यान्वयन करने पर विशेष बल दिया गया।

बैंकों की लाभप्रदत्ता को सुधारने तथा उनको प्रतियोगी क्षमता प्रदान करने के उपायों की एक शृंखला लागू की गयी है जिसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

बैंकों के पूँजीगत आधार का सम्बर्द्धन, सरकारी प्रतिभूतियों पर लाभांश दरों में वृद्धि करना, उनके अग्रियों के एक बड़े हिस्से के लिए उधार ब्याज दरों सम्बन्धी उच्चतम् सीमा को हटाना, सेवा–प्रभारों का ऊर्द्धमुखी संशोधन नये मुद्रा बाजार प्रपत्रों का प्रचलन और परा बैंकिंग क्रिया कलापों को करने के लिए सहायक संस्थाओं की स्थापना, शाखाओं

का विनियम और विस्तार काउण्टर खोलना तथा शाखाओं की वित्तीय सक्षमता में सुधार लाना।

### 10.4.1 बैंकिंग सुधार पर समितियाँ

आर्थिक सुधारों के समय में बैंकिंग क्षेत्र में सुधार हेतु भारत सरकार द्वारा समय–समय पर अनेक समितियाँ गठित की गयीं जिससे सरकार को आवश्यक कार्यवाही हेतु सिफारिशें प्राप्त हो सकें।

**नरसिम्हम समिति–I (1991)** – भारत सरकार द्वारा अगस्त 1991 में भारतीय रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर श्री एम.नरसिम्हम की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी जिसे वित्तीय प्रणाली के ढाँचे, व्यवस्था, कार्यों एवं कार्यरीति के सभी पहलुओं की जाँच कर सरकार को बैंकिंग क्षेत्र में सुधार हेतु आवश्यक सिफारिशें करनी थी। इस समिति ने नवम्बर 1991 में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट 17 दिसम्बर 1991 को संसद में प्रस्तुत की गयी। वित्तीय प्रणाली की समीक्षा सम्बन्धी इस समिति सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकों से सम्बन्धित निम्न तथ्यों को स्वीकार किया –

1. देश में बैंकों का भारी मात्रा में विस्तार हुआ तथा यह ग्रामीण तथा अर्द्धनगरीय क्षेत्रों में विशेषकर रहा।
2. सार्वजनिक बैंकों द्वारा परिवार की बचतों को व्यापक स्तर पर गतिमान किया गया।
3. इन बैंकों द्वारा प्राथमिकता क्षेत्रों को उधार में विशेष स्थान दिया गया।
4. बैंक विहीन क्षेत्रों में अधिक रूचि दिखायी तथा क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में योगदान किया

**नरसिम्हम समिति I, की सिफारिशें** – नरसिम्हम समिति ने जो सिफारिशें प्रस्तुत की, वे व्यक्त की जा सकती हैं –

1. **कानूनी तरलता अनुपात में कमी** :– समिति ने सिफारिश की कि संसाधन गतिमान करने के लिए कानूनी तरलता अनुपात को प्रयोग की विधि को तुरंत छोड़ देना चाहिए तथा अगले 5 वर्षों की समयावधि में कानूनी तरलता अनुपात को चरणवद्ध तरीके से 38.5 प्रतिशत से कम करके 25 प्रतिशत पर लाया जाय।
2. **नकद आरक्षित अनुपात में कमी** :– भारतीय रिजर्व बैंक को प्रयोग मुडा एवं उधार नियंत्रण के रूप में नकद आरक्षित अनुपात पर निर्भरता में कमी कर देनी चाहिए तथा यह कभी क्रमिक रूप में ही की जाय। भारतीय रिजर्व बैंक को वाणिज्यिक बैंकों की जब्त जमा कर अधिक व्याज देनी चाहिए।
3. **निर्देशित उधार प्रोग्राम (Direction Credit Programme)** :– प्रणाली को धीरे–धीरे समाप्त करते हुए रियायती ब्याज दरों को समाप्त कर देना चाहिए। ब्याज दरों के ढाँचे का निर्धारण बाजार की शक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए तथा इसे सरल बनाने का अधिकार केन्द्रीय बैंक को होना चाहिए।
4. समिति द्वारा बैंकों के विलयन एवं स्वामित्व पुनर्गठन कर बैंकों की संख्या कम करने की सिफारिश की। समिति के अनुसार 3 या 4 बड़े बैंक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के बनने चाहिए तथा 8 से 10 राष्ट्रीय स्तर के होने चाहिए। स्थानीय बैंकों की क्रियाशीलता एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित होनी चाहिए। बैंको को लाभदायकता के शुद्ध आधार पर ही शाखाऐं खोलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

5. समिति ने भविष्य में बैंकों का राष्ट्रीयकरण न करने की भी सिफारिश की तथा निजी क्षेत्र में बैंक कायम करने की इजाजत होनी चाहिए एवं सार्वजनिक व निजी क्षेत्र के बैंकों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं होना चाहिए।
6. परिसम्पत पुनर्निर्माण निधि की स्थापना करनी चाहिए।
7. बैंकिंग प्रणाली पर द्वैत नियंत्रण प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिए तथा इसके लिए भारतीय रिजर्व बैंक को अधिकृत होना चाहिए।
8. प्रत्येक बैंक स्वतंत्र एवं स्वायत्त होना चाहिए ताकि बैंक प्रतिस्पर्द्धी तथा समयानुकूल माहौल में कार्य कर सके।

**समिति की सिफारिशें पर सरकार की कार्यवाही** :– नरसिम्हम समिति–**I** की समस्त मुख्य सिफारिशों को स्वीकार करते हुए निम्न कार्यवाही प्रारम्भ की –

1. कानूनी तरलता अनुपात को 25 प्रतिशत तक लाया गया, अक्टूबर 1997 में यह 25 प्रतिशत था।
2. वर्धमान रोक आरक्षण अनुपात 10 प्रतिशत को समाप्त किया गया। रोक आरक्षण अनुपात दिसम्बर 2001 में 5.5 प्रतिशत तक लाया गया।
3. ब्याज दर की शिला पट्टियों की संख्या धीरे–धीरे कम की गयी तथा 1994–95 में यह संख्या केवल 2 रह गयी।
4. अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को यह स्वतंत्रता दी गयी कि वे अपनी जमा पर ब्याज दरों को न्यूनतम और अधिकतम् सीमाओं के बीच निश्चित कर सकते हैं।
5. विवेकशील मार्गदर्शी सिद्धान्त और नये पूँजी पर्याप्तता मापदण्ड लागू किये गये।
6. भारत सरकार ने बैंकिंग कम्पनी कानून का संशोधन कर राष्ट्रीयकृत बैंकों को पूँजी निर्गम द्वारा पूँजी–बाजार से राशि एकत्र करने का अधिकार दे दिया।
7. अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को नयी शाखाऐं खोलने और विस्तार काउण्टरों का स्तर उन्नत करने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी। बैंकों के लिए उधार के मापदण्डों को उदारता प्रदान की गयी।
8. निजी बैंकों को खोलने की इजाजत दी गयी।
9. वाणिज्यिक बैंकों के पर्यवेक्षण के लिए पर्यवेक्षण विभाग स्थापित किया गयां
10. ऋणों की वसूली को सुविधाजनक बनाया गयां भारत सरकार द्वारा बैंकों की वकाया राशि के बारे में सन् 1993 में एक कानून पारित किया। इसके लिए छः विशेष वसूली न्यायाधिकरण और एक अपीलीय न्यायाधिकरण स्थापित किये गये। विशेष वसूली न्यायाधिकरण कोलकाता, नई दिल्ली, जयपुर, बंगलौर, चेन्नई तथा अहमदाबाद में स्थापित किये गये।

**खान समिति** – भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दिसम्बर 1997 को श्री एच.एस. खान की अध्यक्षता में एक कार्यदल का गठन किया गया जिसका मुख्य सम्बन्ध विकासात्मक वित्तीय संस्थाओं और बैंकों के बीच भूमिका और परिचालकों के सामंजस्य की जाँच करने से था। समिति ने अपनी रिपोर्ट 1998 को भारतीय रिजर्व बैंक को प्रस्तुत की

खान समिति ने सिफारिश की कि कानूनी सुधारों को शीघ्र लागू करने के लिए बैंकों एवं विकास वित्त संस्थाओं की ऋण वसूली को उच्चतम् प्राथमिकता दी जाय और ऋण वसूली कानून 1993 को पूर्ण रूप से बदला जाना चाहिए। विकास वित्त संस्थाओं और बैंकों के बीच विद्यमान विनियामक विसंगतियों को दूर करने के लिए एक उच्च विनियामक स्थापित करने की सिफारिश की। बैंकों के नकद आरक्षित अनुपात को

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक कम करने तथा कानूनी तरलता अनुपात को समाप्त करने की भी सिफारिश की।

कार्यदल ने प्राथमिकता क्षेत्रों को पुनः परिभाषित करने, इसमें से आधार संरचना ऋणों को बाहर रखने की भी सिफारिश की।

भारतीय रिवर्ज बैंक द्वारा खान समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए आवश्यक कार्यनीति तय की गयी।

**बैंकिंग क्षेत्र सुधार पर समिति (1998)** – वित्त मंत्रालय द्वारा श्री नरिसम्हम की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसे बैंकिंग क्षेत्र सुधार समिति 1998 के नाम से या नरससिम्हम समिति **II** के नाम से भी जाना जाता है। समिति द्वारा वर्ष 1998 में अपनी मुख्य सिफारिशें प्रस्तुत की जिन्हें आप निम्न रूप में रख सकते हैं।

1. समिति ने देश में मजबूत बैंकिंग प्रणाली की आवश्यकता की जोरदार सिफारिश की।
2. समिति ने बैंकिंग बोर्डों को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त करने की सिफारिश की। कमजोर बैंकों की पुनः स्थापना के लिए परिमित बैंकिंग अवधारणाा का प्रयोग करने की सिफारिश की।
3. छोटे स्थानीय बैंकों की आवश्यकता के साथ 2 या 3 अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा 8 से 10 राष्ट्रीय स्तर के बैंकों को विकसित करने का सुझाव दिया।
4. पूँजी पर्याप्तता अनुपात को उन्नत करने की भी सिफारिश की।
5. समिति ने बैंकिंग उद्योग को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का सुझाव दिया।
6. बैंक अधिनियमों की समीक्षा करने तथा उन्हें अद्यतन करने की भी सिफारिश की। समिति ने सुझाव दिया कि भारतीय बैंक कानून, बैंकिंग विनियमन कानून, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कानून, बैंक राष्ट्रीयकरण कानून आदि के प्रावधानों की समीक्षा की जाय तथा इन कानूनों में संशोधन हेतु तुरंत आवश्यक कार्यवाही की जाय। समिति द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा कम्प्यूटरीकरण की प्रक्रिय की आवश्यकता बैंकिंग बोर्ड़ों के व्यावसायीकरण तथा इनके गैर–राजनीतिकरण, भर्ती करने के तरीकों की समीक्षा, प्रशिक्षण तथा पारिश्रमिक आदि से सम्बन्धित भी अनेक सिफारिशें भारत सरकार को प्रस्तुत की।

भारत सरकार द्वारा इस समिति की कुछ सिफारिशें को अस्वीकार किया तथा समयानुकूल वांछित सिफारिशों को स्वीकार किया। इस समिति ने कुछ सिफारिशों में प्रथम समिति 1991 की ही सिफारिशों को घुमा–फिराकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

## 10.5 बैकिंग सुधार पर सरकारी नवीन नीतियाँ

**फर्म उधार पर गुप्त समिति (1998)** – आर.वी. गुप्त की अध्यक्षता में स्थापित समिति ने कृषि ऋण पर अपनी रिपोर्ट अप्रैल 1998 को प्रस्तुत की। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं :–

1. समिति ने सिफारिश की कि वाणिज्यिक बैंकों को सहकारी समितियाँ एवं ग्रामीण बैंकों की भांति सभी आकार के ऋणों पर ब्याज दर निश्चित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

2. कृषि उधार के लिए 18 प्रतिशत के लक्ष्य को समाप्त कर देना चाहिए ताकि वाणिज्यिक बैंक उचित ऋण योजनाऐं तैयार कर सकें।
3. भारतीय रिजर्व बैंक को सेवा–क्षेत्र पद्धति में संशोधन करना चाहिए ताकि बैंक अपने सेवा क्षेत्र से बाहर कार्य कर सकें। इससे ग्राहकों को किसी भी बैंक के पास जाने की स्वतंत्रता होगी।
4. किसानों को संयुक्त उधार पैकेज प्रस्तुत करने का भी सिफारिश की ताकि किसानों की अल्पकालीन ऋण समस्याऐं दूर हो सकें।
5. किसानों की बचत को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकों को एक तरल बचत पैकेज तैयार करना चाहिए। आपको यहाँ यही भी बताना अत्यन्त उपयोगी होगा कि मई 1998 में भारतीय रिजर्व बैंक ने गुप्त समिति की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को इन्हें लागू करने के लिए निर्देश जारी किया।

**बैंकिंग कानून (संशोधन विधेयक–2011)** – बैंकिंग क्षेत्र में सुधारों को और अधिक प्रासंगिक बनाने के लिए सरकार द्वारा 22 मार्च 2011 को नया 'बैंकिंग कानून (संशोधन) विधेयक–2011 – प्रस्तुत किया गया। इस संशोधन में Banking Regulation Act, 1949 तथा Banking companies (Acquisiton and Transfer of Undertaking) Acts 1970 तथा 1980 में संशोधन की व्यवस्था की गयी है। इस विधेयक में बैंकों को शेयर पूँजी जुटाने के मामले में अधिक आजादी प्रदान कर बैंकिंग क्षेत्र में निजी निवेश को बढ़ावा देने के लिए प्रावधान किये गये हैं। राष्ट्रीयकृत बैंकों में निजी निवेश को बढ़ावा देने के लिए इन बैंकों के शेयर धारकों के लिए मताधिकार की अधिकतम् सीमा को बढ़ाने का प्रावधान किया है। मौजूदा यह सीमा एक प्रतिशत थी जिसे बढ़ाकर 10 प्रतिशत किया गया है।

निजी क्षेत्र के बैंकों में शेयरधारकों के लिए मताधिकार की सीमा को भी बदलाव किया गया है। विधेयक के अनुसार निजी क्षेत्र के बैंकों के मामले में शेयरधारकों का मताधिकार उनकी शेयर होल्डिंग के अनुरूप होगा।

**स्वाभिमान अभियान** – सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाऐं उपलब्ध कराने के लिए स्वाभिमान अभियान प्रारम्भ किया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में जन–जन तक बैंकिंग सुविधाऐं उपलब्ध कराने के लिए वित्तीय समावेशन हेतु सरकार द्वारा यह अभियान फरवरी 2011 से संचालित किया गया, जिसमें भारतीय बैंक संघ का पूर्ण सहयोग लिया गया। इस अभियान का मुख्य उद्देश्य मार्च 2012 तक 2000 से अधिक जनसंख्या वाले सभी 73 हजार बैंक रहित गाँवों को बुनियादी सेवाऐं उपलब्ध कराना था। ताकि शहरी तथा ग्रामीण भारत के बीच आर्थिक दूरी को कम किया जा सके। इस अभियान को बिजनेस करेसपॉन्डेन्टस द्वारा संचालित किया गया। इस अभियान के तहत घर बैठे बैंकिंग सुविधाऐं लक्षित क्षेत्रों में उपलब्ध करायी गयी। शाखा रहित बैंकिंग के तहत 5 करोड़ नए ग्रामीण खाते खोलने का लक्ष्य स्वाभिमान अभियान के तहत निर्धारित किया गया।

**दामोदरन समिति** – एम0 दामोदरन की अध्यक्षता वाली बैंकिंग सेवाओं में सुधार हेतु समिति ने अपनी रिपोर्ट 2011 में प्रस्तुत की। समिति द्वारा प्रस्तुत सिफारिशें निम्नवत् हैं :–

1. बचत खातों में चैक बुक व ए.टी.एम. कार्ड जैसी सुविधाओं के लिए खाते में न्यूनतम बैलेंस की कोई अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए।

2. पास–बुक (Passbook) भरने जैसी आवश्यक सेवाओं के लिए खाताधारकों से किसी प्रकार का कोई शुल्क नहीं वसूला जाय। यह सेवाऐं निःशुल्क उपलब्ध करायी जानी चाहिए।
3. न्यूनतम बैलेंस से कम राशि होने की स्थिति में बैंकों द्वारा वसूला जाने वाल दण्डात्मक शुल्क उतने ही अनुपात में हो जितनी राशि से खाते में बैलेंस कम हुआ हो।
4. बचत खातों के सम्बन्ध में जमा राशि के लिए उपलब्ध बीमा सुरक्षा एक लाख रूपये के स्थान पर 5 लाख रूपये तक की जमाओं पर उपलब्ध कराया जाना चाहिए।
5. सावधि जमाओं को खातेदारों की लिखित अनुमति के बिना स्वतः ही Renew न किया जाना चाहिए।
6. गृह ऋण (Home Loan) खाता समय पर्वू बन्द कराने की स्थिति में कोई दण्डात्मक शुल्क बैंक द्वारा वसूल नहीं किया जाय।
7. गृह ऋण के नये ग्राहकों को रियासती ब्याज दर पर यह ऋण उपलब्ध कराये जाने पर ऐसी रियायत पुराने ग्राहकों को भी उपलब्ध करायी जानी चाहिए।
8. गृह ऋण चुकता होने के बाद सम्बन्धित सम्पत्ति के कागजात उसके स्वामी को 15 दिन के भीतर बैंक द्वारा लौटाए जायें। ऐसा न करने पर बैंक द्वारा मुआवजा दिया जाय।
9. बैंक ग्राहकों की बैंकिंग सम्बन्धी शिकायतों व अन्य सुनवाईयों के लिए सभी बैंक का एक ही कॉमन निःशुल्क कॉल सेन्टर नम्बर होना चाहिए।

**खण्डेलवाल समिति** – बैंक कर्मियों के सम्बन्ध में खण्डेलवाल समिति ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में मानव संसाधन मामलों के लिए सुझाव प्रस्तुत किये। इस समिति की अधिकांश सिफारिशों को सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया। समिति की प्रमुख सिफारिशों में निम्नलिखित बिन्दु शामिल हैं।

1. लिपिकीय संवर्ग में नए नियुक्त किये जाने वाले कर्मियों के लिए न्युनतम तीन वर्ष तक ग्रामीण क्षेत्रों में नियुक्ति अनिवार्य की जानी चाहिए।
2. लिपिकीय तथा अधिकारी दोनों ही वर्गों में नियुक्ति के लिए कम्प्यूटर दक्षता की परीक्षा अनिवार्य हो।

**वाणिज्यिक बैंकों के लिए भारतीय रिजर्व बैंक के नवीन दिशा–निर्देश** – जुलाई 2014 में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा छोटे बैंकों व भुगतान बैंकों की स्थापना हेतु नवीन मसौदा तैयार किया गया है जिसमें निजी क्षेत्र में नए वाणिज्यिक बैंकों की स्थापना सम्बन्धी दिशा–निर्देश शामिल हैं। शायद आपको ध्यान हो कि वित्तीय समावेशन के लिए ऐसे बैंकों की स्थापना के उद्देश्य से सम्बन्धित आवश्यक घोषणायें समय–समय पर की गयी हैं। नए बैंकों की स्थापना के लिए विभिन्न पक्षों पर आवश्यक राय मांगी गयी है जिसके बाद आवश्यक दिशा–निर्देश अन्तिम रूप से जारी किये जायेंगे। नए बैंकों की स्थापना के लिए प्राप्त आवेदनों का मूल्यांकन एक विशेषज्ञ समिति से कराया जायेगा तथा इसके बाद सही आवेदकों से एक वर्ष के अन्दर कार्य करने के लिए कहा जायेगा। प्रस्ताविक नए छोटे बैंक अपने ग्राहकों को आधारभूत बैंकिंग सेवाऐं उपलब्ध करायेंगे, जिनमें जमाऐं स्वीकार करना तथा ऋण उपलब्ध कराना शामिल है। किन्तु वही इन बैंकों का परिचालन एक सीमित क्षेत्र तक ही होगा। वहीं दूसरी ओर नए भुगतान बैंक सीमित सेवाओं की पेशकश करेंगे जैसे जमाऐं स्वीकार करना तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर धनराशि भेजने की सुविधा

उपलब्ध कराना आदि। इन बैंकों को एक विस्तृत नेटवर्क के माध्यम से भी कार्य करना होगा। दूर दराज के इलाकों में अपनी शाखाऐं खोलकर या बिजनेस कॉरसपॉन्डेन्टस के माध्यम से या अन्य नेटवर्क के माध्यम से अपना काम–काज करेंगे। प्रस्ताविक बैंकों में विदेशी निवेश का मार्ग खुला रखा गया है। जो सरकार की विदेशी प्रत्यक्ष निवेश नीति के अन्तर्गत ही किया जायेगा।

सरकार द्वारा नए विशेष बैंकों की स्थापना के लिए न्यूनतम आवश्यक पूँजी रू० 100 करोड़ निर्धारित की है जिसमें न्यूनतम 40 प्रतिशत हिस्सेदारी प्रवर्तकों की होगी। यह हिस्सेदारी 40 प्रतिशत से अधिक होने की स्थिति में तीन वर्ष के अन्दर इसे घटाकर 40 प्रतिशत तक, 10 वर्ष के अन्दर घटाकर 30 प्रतिशत तक तथा 13 वर्षों के अन्दर इसे घटाकर 26 प्रतिशत के स्तर पर लाना होगा। बैंकिंग एवं वित्त में 10 वर्ष का अनुभव रखने वाले देशी नागरिक, कम्पनियाँ, सोसायटियों को छोटे बैंकों की स्थापना के लिए प्रवर्तक के रूप में पात्र होने की व्यवस्था की गयी है। एन बी. एफ सी, माइक्रो फाइनेन्स संस्थान एवं लोकल एरिया बैंक भी छोटे बैंक के रूप में परिवर्तित होने का विकल्प चुन सकते हैं।

भुगतान बैंकों की स्थापना के लिए एन बी एफ सी, मोबाइल फोन कम्पनियाँ, सुपर मार्केट चेन्स, रीयल एस्टेट क्षेत्र की कॉआपरेटिब्स व सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयाँ भी आवेदन कर सकेगी। नए प्रस्तावित बैंकों के बोर्ड में मताधिकार के प्रावधान निजी बैंकों के समान ही होंगे।

**महिला बैंकिंग** – भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में अन्तर्गत भारतीय महिला बैंक भी स्थापित किया गया है। भारतीय महिला बैंक (BMB) की शुरुआत 19 नवम्बर 2013 को की गयी। इस सम भारतीय महिला बैंक की शाखाओं के विस्तार के लिए प्रयासरत हैं। यह बैंक केवल महिलाओं द्वारा ही संचालित है। मार्च 2014 को बैंक शाखाओं के विस्तार की कार्यवाही की गयी। भारतीय महिला बैंक द्वारा देहरादून में 5 मार्च 2014 को, तिरूवन्तपुरम में 10 मार्च को, गोवा में 11 मार्च को, जयपुर में 13 मार्च को, भुवनेश्वर में 20 मार्च 2014 को भारतीय महिला बैंक की नयी शाखाऐं स्थापित की गयीं। इसके साथ 22 मार्च को हैदराबाद, 24 मार्च को अगरतला, 25 मार्च को शिलांग व अगरतला तथा 29 मार्च 2014 को पटना में नयी शाखाऐं खोली गयी। इस बैंक द्वारा ईटानगर तथा गंगटोक में भी नयी शाखाऐं खोलना मार्च 2014 में प्रस्तावित किया गया। इस प्रकार मार्च 2014 तक भारत में भारतीय महिला बैंक की 25 शाखाऐं खोलने का लक्ष्य रखा गया था। वर्ष 2014–15 में 55 से 60 शाखाऐं खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

**सूक्ष्म वित्त (Micro Finance) का विस्तार** – वाणिज्यिक बैंकों द्वारा ग्रामीण वित्तीय समावेशन को सुदृढ़ बनाने के लिए सूक्ष्म वित्त को अधिक उपयोगी बनाने पर जोर दे रहे हैं। संयोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत बैंकों की पहुँच छोटे उद्यमियों से आसान हुई है। इस रणनीति के अन्तर्गत सीमान्त किसान, भूमिहीन श्रमिक, शिल्पकार, हस्तशिल्पी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फेरी और और विक्री जैसे छोटे व्यवसाय में लगे अन्य लोगों को शामिल किया गया है। वर्तमान में कुल 498 बैंक सूक्ष्म वित्त की उपलब्धता में संलग्न है जिसमें 50 वाणिज्यिक बैंक शामिल हैं। वाणिज्यिक बैंकों द्वारा सूक्ष्म वित्त की उपलब्धता कराने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जैसे – बैंकों को समय पर ऋणों की अदायगी, गरीबां और बैंकों दोनों की लेन–देन लागतों में कमी, गरीबों को उनके ही स्थान पर बचत और ऋण की उपलब्धता, ग्रामीण अछूती व्यवसाय क्षमता का दोहन करना आदि शामिल है।

31 मार्च 2012 को स्वयं सहायता समूहों की बचतों में वाणिज्यिक बैंकों का हिस्सा सबसे अधिक था। महिला स्वयं सहायता समूहों को दिये जाने वाले बैंक ऋणों पर ब्याज की दरों में रियायत दी गयी है ताकि ऋणों की उपलब्धता, उपयोग तथा वापसी में सुविधा हो। विभिन्न शोध अध्ययनों से भी यह तथ्य सामने आया है कि वाणिज्यिक बैंकों के ऋण वापसी में स्वयं सहायता समूहों ने उल्लेखनीय उपलब्धियां प्राप्त की हैं। माइक्रो फाइनेन्स कम्पनियों के माध्यम से भी इस दिशा में सार्थक प्रयास किये गये हैं।

आपको ध्यान दिलाना आवश्यक है कि विभिन्न समितियों की सिफारिशों में प्राथमिकता क्षेत्र को समाप्त करने या इसकी सार्थकता कम करने को शामिल किया गया लेकिन इन प्राथमिकता क्षेत्रों की भरपाई वाणिज्यिक बैंकों द्वारा सूक्ष्म ऋण के रास्ते से किये जाने की व्यवस्था है। वाणिज्यिक बैंकों की पहुँच से बाहर रहने वाले इन ग्रामीण परिवारों को बैंक ऋण की मुख्य धारा में शामिल करने की नीति अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध हुई है। सरकार की इस बैंक सम्बद्धता रणनीति की पूर्व सफलता के कारण सूक्ष्म वित्त की ओर वर्तमान में भी अत्यधिक ध्यान दिया जा रहा है। महिला स्वयं सहायता समूह के गठन के द्वारा सूक्ष्म वित्त पर समावेशन द्वारा बचतों को संग्रहति एवं क्रियाशील किया जा रहा है।

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा छोटे बैंकों को लाइसेंस देने के लिए भी रणनीति तैयार की गयी है। ऋणों की वसूली के लिए 6 नये न्यायाधिकरण स्थापित करने की भी योजना है। वित्तीय समावेशी मिशन के अन्तर्गत महिलाओं, छोटे और सीमान्त किसानों, मजदूरों एवं कमजोर वर्गों के आर्थिक उत्थान के उद्देश्य से प्रत्येक परिवार में दो बैंक खाते खाले जाने की रणनीति तैयार करके अमल में लायी जा रही है। देश की जनता की बचतों को संग्रहित कर उसके सदप्रयोग के साथ–साथ देश में व्याप्त अनेक प्रकार की वित्तीय अनियमितताओं पर नियन्त्रण लगाने पर भी वाणिज्यिक बैंकों का सहारा लिया जा रहा है।

## 10.6 सारांश

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में बैंकों द्वारा जोरदार कार्य किया गया तथा विकास की गति को बल मिला। फिर भी समय के अनुकूल बैंकिंग क्षेत्र में सुधारों की आवश्यकता महसूस की गयी। बैंकिंग सुधारों की प्रक्रिया 1991 में गठित नरसिम्हम समिति **I** की सिफारिशों को सरकार द्वारा स्वीकार करने से प्रारम्भ मानी जाती है। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार द्वारा बैंकिंग क्षेत्र में अनेक सुधार किये जिनमें कानूनी तरलता अनुपात में कमीं, नकद आरक्षित अनुपात में कमीं, निर्देशित उधार प्रोग्राम समाप्त करना, बैंकों का विलयन एवं पुनर्गठन, द्वैत नियंत्रण प्रणाली की समाप्ति, ब्याज दरों की शिला पट्टियों को दूर करना, पर्यवेक्षण विभाग की स्थापना, ऋणों की वसूली को सुविधाजनक बनाना, उधार के मापदण्डों को उदार बनाना आदि प्रमुख हैं।

खान समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए भारतीय रिजर्व बैंक ने ठोस कार्यवाही की। नरसिम्हम समिति **II** द्वारा भी मजबूत बैंकिंग प्रणाली स्थापित करने, बैंकिंग अधिकारियों की समीक्षा करने, बैंकों को अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय स्तर पर ले जाना, पूँजी पर्याप्तता अनुपात को उन्नत करने जैसी अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की गयीं।

भारत में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा अनेक प्रकार की ऐसी नीतियाँ अपनायी जा रही हैं जो देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होने के साथ आम जनता तक बैंकिंग सेवायें पहुँचाने का रास्ता खोज रही हैं। बैंकिंग प्रणाली की पहुँच से दूर गरीब,

मध्यम तथा सामान्य परिवार की महिलाओं को जोड़ने के लिए भारतीय महिला बैंक की स्थापना के साथ इनके विस्तार पर कार्य किया जा रहा है।

## 10.7 शब्दावली

- **कानूनी तरलता अनुपात** – वाणिज्यिक बैंकों को अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित भाग अपने पास नकद रूप में रखना होता है। जिसे कानूनी तरलता अनुपात कहा जाता है। कानूनी तरलता अनुपात वाणिज्यिक बैंकों की उधार देने की क्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।
- **नकद आरक्षित अनुपात** – इस व्यवस्था के अन्तर्गत वाणिज्यिक बैंकों को अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित अनुपात भारतीय रिजर्व बैंक के पास सुरक्षित रखना होता है, जिसका निर्धारण केन्द्रीय बैंक द्वारा ही किया जाता है।
- **निजी बैंक** – निजी बैंक से हमारा तात्पर्य ऐसे अनुसूचित बैंकों से है जिनका संचालन निजी व्यक्तियों, कम्पनियों या निगमों द्वारा किया जाता है। ये बैंक भारतीय रिजर्व बैंक के दिशा–निर्देश में ही कार्य करते हैं।
- **प्राथमिकता क्षेत्र** – प्राथमिकता क्षेत्र का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता रहा है। इसके अन्तर्गत कृषि, वानिकी, मत्स्य पालन के साथ सूक्ष्म तथा लघु उद्यमों को शामिल किया जाता है। ऋण प्रदान करने में इन क्षेत्रों को वरीयता दी जाती है।

## 10.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिए?

(क) आर्थिक सुधारों का क्या अभिप्राय है?
(ख) खान समिति की तीन प्रमुख सिफारिशें कौन–कौन सी हैं?
(ग) एम. नरसिम्हम समिति 1991 की दो प्रमुख सिफारिशें लिखो?
(घ) सन् 1990 में तैयार की गयी बैंकों के लिए कार्य–योजना को संक्षेप में लिखो?
(ड़) बैंकिंग क्षेत्र सुधार पर समिति कब गठित की गयी?
(च) बैंक अधिनियमों की समीक्षा करने की सिफारिश किस समिति द्वारा की गयी?
(छ) बैंकिंग प्रणाली पर द्वैत नियंत्रण प्रणाली को समाप्त करने की सिफारिश किसके द्वारा की गयी?
(ज) वाणिज्यिक बैंकों की तीन प्रमुख समस्याऐं बताओ?

(2) नीचे दिये गये कथनों में से सत्य अथवा असत्य कथनों को छांटिये।

(क) सन् 1997 में कानूनी तरलता अनुपात 35 प्रतिशत था।
(सत्य/असत्य)
(ख) खान समिति ने अपनी सिफारिशें 1998 में भारतीय रिजर्व बैंक को प्रस्तुत की।
(सत्य/असत्य)
(ग) वर्ष 1994–95 में ब्याज दर की शिला पट्टिकाऐं केवल 2 थी।
(सत्य/असत्य)
(घ) बैंकिंग सुधारों में राष्ट्रीयकृत बैंकों का निजीकरण शामिल है।
(सत्य/असत्य)

(3) नीचे दिये गये कथनों में से रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(क) खान समिति ने ऋण वसूली कानून ..... को बदलने की सिफाारिश की।
(1993, 1995, 2003, 2010)

(ख) प्राथमिकता क्षेत्र को पुनः परिभाषित करने पर ..... समिति ने जोर दिया।
(खान समिति, नरसिम्हम समिति I, राज समिति, केलकर समिति)

(ग) भारत में आर्थिक सुधार ..... से प्रारम्भ किये गये।
(1985, 1991, 1995, 2000)

(घ) भारतीय रिजर्व बैंक भारत का ..... बैंक है।
(स्थानीय, राष्ट्रीय, केन्द्रीय, निजी)

उत्तर – 2–(क) असत्य (ख) सत्य (ग) सत्य (घ) असत्य
3–(क) 1993 (ख) खान समिति (ग) 1991 (घ)केन्द्रीय

## 10.9 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दीजिए?

1. आर्थिक सुधारों से क्या तात्पर्य है तथा वाणिज्यिक बैंकों का इनसे क्या सम्बन्ध है?
2. आर्थिक सुधारों के समय में वाणिज्यिक बैकों के क्षेत्र में क्या उपलब्धियाँ प्राप्त की गयी?
3. बैंकिंग सुधार हेतु सरकार द्वारा गठित विभिन्न समितियों के सुझावों की समीक्षा कीजिए?
4. विभिन्न समितियों के सुझावों के आधार पर सरकार द्वारा उठाये गये कदमों की विवेचना कीजिए?

## 10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- गौरव, दत्त एवं अश्वनी महाजन (2013) भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी प्रा0लि0, रामनगर, नई दिल्ली
- आहूजा, एच.एल. (2003) उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी प्रा0लि0, रामनगर, नई दिल्ली
- वैश्य एम0सी0 (2003) मौद्रिक अर्थशास्त्र, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी प्रा0लि0, रामनगर, नई दिल्ली
- मिश्र एवं पुरी (2011) भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
- Shekhar, K.G. & Lekshmy Shekhar (2006) Banking Theory and Practice Vikas Publishing House Pvt. Ltd. Sector-4, Noida (U.P.)


## 10.11 सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- मिश्र, जगदीश नारायण (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था, पुस्तक महल पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली
- जालान, विमल (2008) इक्कीसवीं सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, दिल्ली
- सेठी, टी.टी. (2008) मुद्रा, बैंकिंग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं राजस्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, संजय पैलेस, आगरा–282002
- कोमली, एल.एन. (2008) भारतीय अर्थव्यवस्था, लक्ष्मीनाराण, प्रकाशक, संजय पैलेज, आगरा

# इकाई–11 केन्द्रीय बैंकः कार्य एवं सिद्धान्त (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया)

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 केन्द्रीय बैंक की परिभाषायें
11.4 केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक की तुलना
11.4.1 समानताएं
11.4.2 असमानताएं
11.5 केन्द्रीय बैंक के कार्य
11.6 केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध
11.7 केन्द्रीय बैकों के निर्देशक सिद्धान्त
11.8 आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक (रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया) की भूमिका
11.9 सारांश
11.10 शब्दावली
11.11 लघुउत्तरीय प्रश्न
11.12 संदर्भ सहित ग्रन्थ
11.13 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची
11.14 निबन्धात्मक प्रश्न

## 11.1 प्रस्तावना

किसी भी देश का शिखर बैंक उसका केन्द्रीय बैंक होता है जो उस देश की मौद्रिक एवं वित्तीय प्रणाली की केन्द्रीय धुरी के समान है। सरकार की आर्थिक क्रियायें केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही संचालित होती हैं । विभिन्न देशों में इसके अलग–अलग नाम हैं जैसे भारत में इसे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, इंग्लैंड में में बैंक आफ इंग्लैण्ड, अमेरिका में फेडरल रिजर्व सिस्टम, फ्रांस में बैंक ऑफ फ्रांस, स्वीडन में स्विस बैंक इत्यादि नामों से जाना जाता है।

एक देश की बैंकिंग व्यवस्था में उस देश की केन्द्रीय बैंक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से अपना निर्देशन प्राप्त करते हैं और विभिन्न प्रकार से इस पर निर्भर रहते हैं।

एक पथप्रदर्शक, दार्शनिक के रूप में केन्द्रीय बैंक देश की अन्य बैंकों को सहायता प्रदान करता है। व्यवसाय को नियमित करने तथा मौद्रिक नीति को लागू करने में केन्द्रीय बैंक अहम् भूमिका निभाता है। इसके महत्व को देखते हुये बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय बैंकिंग के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना आवश्क हो जाता है।

## 11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि –

- ✓ केन्द्रीय बैंक क्या है।
- ✓ इसके विभिन्न कार्य क्या–क्या हैं।
- ✓ केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक में क्या अंतर है।
- ✓ केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण की कौन–कौन से रीतियां हैं।
- ✓ भारत के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के प्रमुख कार्य क्या हैं।
- ✓ केन्द्रीय बैंक का विकास किस प्रकार हुआ।
- ✓ केन्द्रीय बैंक के मुख्य निर्देशक सिद्धान्त क्या हैं।
- ✓ आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक की क्या भूमिका है।

## 11.3 केन्द्रीय बैंक की परिभाषा

देश के मौद्रिक तथा बैकिंग क्षेत्र में मुख्य स्थान होने के कारण उसे देश के केन्द्रीय बैंक की संज्ञा दी गयी है। इस केन्द्रीय बैंक को देश के अधिनियम द्वारा कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की जाती हैं जिसके द्वारा यह अन्य व्यापारिक बैंकों को नियंत्रित करती है।

केन्द्रीय बैंक की कई परिभाषाएं उसके कार्यों पर आधारित हैं।

**हॉट्रे** के विचार में केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक है क्योंकि यह अन्य बैंकों के लिये अन्तिम युग का ऋणदाता का कार्य करता है।

**क्राउथर** के अनुसार *''केन्द्रीय बैंक का अन्य बैकों के साथ ठीक वही सम्बन्ध होता है जैसा स्वयं अन्य बैंकों का जनता के साथ होता है।"*

**शॉ** के अनुसार *"केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा का नियन्त्रण रखने वाला बैंक है।"*

**केन्ट** के अनुसार *''केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है, जिसे सामान्य जनहित को दृष्टि में रखते हुए मुद्रा की मात्रा के विस्तार और संकुचन का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी सौंपी जाती है।''*

**ए.सी.एल.डे**. का कहना है *''केन्द्रीय बैंक वह है जो मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित एवं स्थिर करने में सहायक होता है।"*

**वेरा स्मिथ** के अनुसार *''केन्द्रीय बैकिंग की प्राथमिक परिभाषा है – ऐसी बैकिंग प्रणाली जिसमें कोई एकल बैंक करेन्सी नोट जारी करने का पूर्ण अथवा अवशिष्ट एकाधिकार रखता है।''*

**सैम्यूल्सन** के द्वारा दी गयी व्यापक परिभाषा के अनुसार *''केन्द्रीय बैंक बैंकरों का बैंक है इसका कर्तव्य मौद्रिक आधार को नियन्त्रित करना है और इस उच्चस्तरीय मुद्रा के नियन्त्रण के माध्यम से समुदाय को मुद्रा पूर्ति को नियन्त्रित करना है।"*

**केन्द्रीय बैंक की उचित परिभाषा** :– *केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जो देश की मौद्रिक बैकिंग तथा साख व्यवसाय का इस प्रकार नियमन एवं निर्देशन करती है जिससे देश की आर्थिक प्रगति वांछित गति से उचित दिशाओं में होती रहै।*

### 11.3.1 केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता :–

केन्द्रीय बैंक किसी भी देश के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी आवश्कता विभिन्न कारणों से होती है। एक पथप्रदर्शक, दार्शनिक के रूप में केन्द्रीय बैंक देश की अन्य बैंकों को सहायता प्रदान करता है।

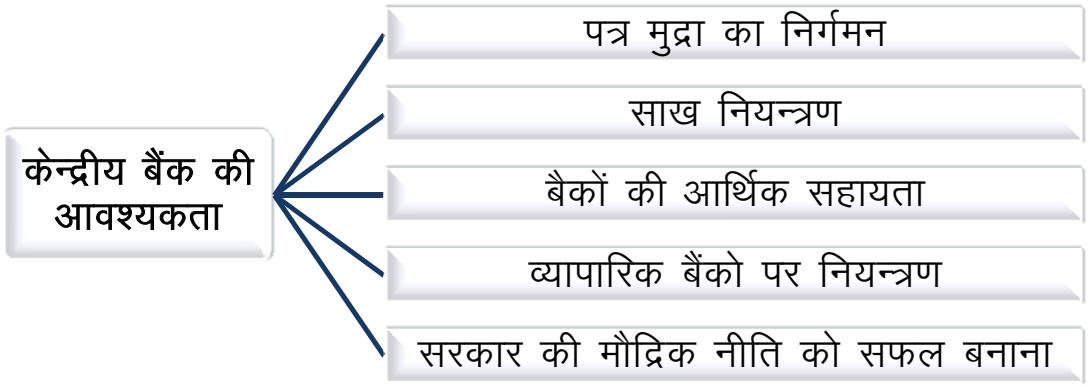


## 11.4 केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक की तुलना

### 11.4.1 समानता :–

- दोनों केन्द्रीय एवं वाणिज्यक बैंक मुद्रा का व्यवसाय करते हैं। जहां केन्द्रीय बैंक मुद्रा का निर्माण करता है वहीं व्यापारिक बैंक मुद्रा का लेन–देन और साख मुद्रा का निर्माण करता है।
- दोनो ही साख का निर्माण करते हैं। केन्द्रीय बैंक नोटों का निर्गमन करके साख का निर्माण करता है वहीं व्यापारिक बैंक व्युत्पन्न जमाओं के रूप में साख निर्माण में सहायक है।

- दोनों ही बैंक न तो अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण और न ही दीर्घकालीन ऋण देते हैं।

**11.4.2 असमानताएं** :– केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक के मध्य असमानताओं को एक सारिणी के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

| क्र0सं0 | अन्तर का आधार | केन्द्रीय बैंक | व्यापारिक बैंक |
|---|---|---|---|
| 1. | संख्या | अमेरिका को छोड़कर (12 केन्द्रीय बैंक) अन्य सभी देशों में एक केन्द्रीय बैंक होता है। | प्रत्येक देश में अनेक व्यापारिक बैंक होते हैं। |
| 2. | बैंकिग व्यवस्था में स्थान | इसका स्थान सर्वोच्च होता है और अन्य बैंकों का नियंत्रण करता है। | यह सम्पूर्ण प्रणाली का एक अंग होता है। |
| 3. | नोट निर्गमन | इसे पत्र मुद्रा का निर्गमन करने का अधिकार होता है। | व्यापारिक बैकों का यह अधिकार नहीं होता है। |
| 4. | सरकार का बैंकर | यह सरकार की ओर से लेन–देन करते हैं। | इनका ऐसा कोई विशेष दायित्व नहीं होता है। |
| 5. | जनता से सम्बन्ध | यह जन साधारण के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय नहीं करता है। | ये जन साधारण से व्यवसाय करते है। |
| 6. | ब्याज | यह अपने पास जमा कराये गये धन पर ब्याज नहीं देता है। | ये अपने जमा धन पर ब्याज देते हैं। |
| 7. | स्वामित्व | इन पर सरकार का स्वामित्व होता है। | ये प्रायः अंशधारियों के बैंक होते हैं। |
| 8. | उद्देश्य | राष्ट्रहित में बैकिंग प्रणाली का सफल संचालन करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। | लाभ कमाना इनका मुख्यउद्देश्य है। |
| 9. | ऋण | यह अन्तिम ऋणदाता है और व्यापारिक बैकों को बिल भुनाने की सुविधा देता है। | ये केन्द्रीय बैंक से ऋण लेते हैं। |
| 10. | सम्बन्ध | यह व्यापारिक बैंकों का भी बैंक है। | ये केन्द्रीय बैंक के ग्राहक होते हैं। |
| 11. | समाशोधन गृह | यह समाशोधन गृह का कार्य करता है। | केवल केन्द्रीय बैंक के निर्देश पर ही ये समाशोधन गृह का कार्य कर सकते हैं। |
| 12. | स्वतंत्र नीति | अर्थव्यवस्था के हित में यह स्वतंत्र एवं क्रियाशील नीति अपनाता है। | ये केन्द्रीय बैंक के निर्देशन में अपना कार्य करते हैं। |
| 13. | मुख्य प्रशासक | केन्द्रीय बैंक का मुख्य प्रशासक गवर्नर कहलाता है। | व्यापरिक बैंकों का मुख्य प्रशासक चेयरमैन कहलाते हैं। |

## 11.5 केन्द्रीय बैंक के कार्यः–

केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न विचार प्रकट किये हैं। प्रो0एम एच डी कॉक के अनुसार केन्द्रीय बैंक के कार्य निम्नलिखित हैं :–

- ✓ नोट निर्गमन का एकाधिकार।
- ✓ सरकार का बैंकर, एजेण्ट तथा सलाहकार।
- ✓ बैकों का बैंक।
- ✓ विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक।
- ✓ समाशोधन एवं स्थानान्तरण सुविधा।
- ✓ साख नियन्त्रण।
- ✓ आर्थिक विकास में सहायक।
- ✓ ऑकड़े संकलित करना।

1. **नोट निर्गमन का एकाधिकार** (Monopoly & Note Issue) :– केन्द्रीय बैंक के इस कार्य के कारण इसे निर्गमन बैंक भी कहा जाता है। यह अधिकार इसको देने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :–

- मुद्रा प्रणाली में एकरूपता।
- साख निर्माण पर नियन्त्रण।
- मुद्रा प्रणाली में लोच।
- जनता का विश्वास केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये नोटों के प्रति अधिक रहता है।
- नोटों से प्राप्त सम्पूर्ण लाभ सरकार को मिल जाता है।
- मुद्रा के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है क्योंकि मुद्रा की मात्रा को नियंत्रित करना आसान होता है।
- केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी नीति का पालन करने में सुविधा होती है।

इस प्रकार के केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन पर एकाधिकार रखकर देश में सस्ती व उपयुक्त चलन प्रणाली की व्यवस्था करता है तथा मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने का प्रयास करता है।

2 **सरकार के बैंकर, एजेण्ट तथा सलाहकार** (Banker, Agent and Advisor of the Government) –

***सरकार का बैंकर*** :– इस रूप में केन्द्रीय बैंक सरकार को वो सेवाएं प्रदान करता है जो व्यापारिक बैंक जनता को प्रदान करते हैं। यह सरकारी विभागों के खाते रखता है और कोषों की व्यवस्था करता है। सरकार को आवश्यकता पड़ने पर ऋण भी देता है। सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं का क्रय–विक्रय भी करता है।

***सरकार के एजेण्ट के रूप में*** :– सरकारी अभिकर्ता के रूप में यह सरकार की ओर से प्रतिभूतियों ट्रेजरी बिलों आदि का क्रय–विक्रय करता है। सरकार जिन देशों से भी आर्थिक लेन–लेन के समझौते करती है, वे सब केन्द्रीय बैंक के माध्यम से किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा अन्ताराष्ट्रीय संस्थाओं तथा सम्मेलनों में केन्द्रीय बैंक के विशेषज्ञ सरकार के प्रतिनिधि का कार्य करते हैं।

***सरकार के आर्थिक सलाहकार के रूप में*** :– केन्द्रीय बैंक सरकार को आर्थिक व वित्तीय मामलों में सलाह भी देता है। केन्द्रीय बैंक की सहायता से सरकार मुद्रा एवं बैंकिंग सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है।

**डी कॉक** के अनुसार *''सरकारी बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक केवल इसीलिए सुविधाजनक तथा मितव्ययी हैं, वरन् इसलिये भी कि सार्वजनिक वित्त तथा मौद्रिक मामलों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है।"*

3 **बैंको का बैंक** (Bankers' Bank) :– केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा व्यापारिक बैंकों का ग्राहकों के साथ होता है। वह न सिर्फ व्यापारिक बैंकों की रकम जमा करता है बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण देता है। कुछ देशों में व्यापारिक बैकों को केन्द्रीय बैंक के पास नकद रखना अनिवार्य कर दिया गया है। संक्षेप में बैंको के बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक निम्न कार्य करता है –

- व्यापारिक बैकों के नकद कोष अपने पास रखता है।
- आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण देता है।
- व्यापारिक बैकों के श्रेष्ठ बिलों की पुर्नकटौती करता है।

इसके कई लाभ हैं :–

- राष्ट्रीय संकट के समय जमा राशि का समुचित रूप से उपयोग किया जाता है।
- इससे साख प्रणाली में लोच उत्पन्न होती है।
- इसे व्यापारिक बैकों की साख निर्माण नीति तथा ऋण नीति को नियंत्रित करने का अवसर मिल जाता है।
- बैंकों का आपसी लेन–देन सरल हो जाता है।

4 **विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक** (Custodian of foreign reserves):– देश को विदेशी व्यापार विदेशी ऋण और अनुदानों से जितनी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है उसका श्रेष्ठतम प्रकार से प्रयोग करते हुए केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रूप में भी कार्य करता है।

- सभी विदेशी मुद्रा केन्द्रीय बैंक में जमा होती है।
- विदेशी मुद्रा के लेन–देन पर प्रतिबन्ध रखा जाता है।
- विदेशी विनिमय का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिये ही किया जाता है।
- विदेशी भुगतानों के लिये आवश्यक रकम की व्यवस्था की जाती है।
- अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के विकास तथा विनिमय दरों की स्थिरता के लिये विदेशी मुद्रा के कोषों को उचित मात्रा में बनाये रखने की आवश्यकता होती है। अतः केन्द्रीय बैंक अर्न्तराष्ट्रीय विनिमय पर नियंत्रण रखता है।

5. **व्यापारिक बैंकों के लिये अंतिम ऋणदाता** (Lender of Last resort) :–

केन्द्रीय बैंक दो प्रकार से व्यापारिक बैकों की सहायता करता है :–

- श्रेष्ठ व्यापारिक बिलों की पुर्नकटौती द्वारा

तथा

- प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की धरोहर पर ऋण द्वारा।

जब अन्य किसी साधन से उधार मिलने की आशा नहीं रहती है तब केन्द्रीय बैंक रकम उपलब्ध कराता है, इस कारण केन्द्रीय बैंक को अंतिम ऋणदाता कहा गया है । केन्द्रीय बैंक जो रकम उधार में देता है वह सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर देता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में मुद्रा की पूर्ति पर देता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाता है।

चूंकि केन्द्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में उपलब्ध होता है, इस कारण व्यापारिक बैकों को अधिक नकद कोष रखना पड़ता है और बैकों पर नियंत्रण रखना और सरल हो जाता है।

6. **समाशोधन एवं स्थानान्तरण सुविधा** (Clearing & Transfer Facility) :– केन्द्रीय बैंक एक समाशोधन ग्रह के रूप में ऐसी व्यवस्था करता है कि विभिन्न बैकों के पारस्परिक लेन–देन अथवा एक दूसरे पर लिखे गये चैकों के भुगतान का निबटारा केवल खातों में आवश्यक परिवर्तन द्वारा किया जा सके। इस प्रकार करोड़ों रूप्ये का हिसाब–किताब केवल खातों में जमा या नाम लिखने मात्र से हो जाता है। दैनिक लेन–देन का समायोजन केन्द्रीय बैंक द्वारा बड़े–बड़े नगरों में समाशोधन गृह की स्थापना द्वारा सहजता से हो जाता है।
7. **साख का नियन्त्रण** (Controller of Credit) :– साख नियन्त्रण से तात्पर्य साख मुद्रा की मात्रा में देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार कमी अथवा वृद्धि करने से है। साख नियन्त्रण के माध्यम से केन्द्रीय बैंक देश की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने का प्रयास करता है ताकि आर्थिक उच्चावचनों बचा जा सके। प्रो0 शॉ ने साख नियन्त्रण को केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना है।साख की मात्रा आवश्यकता से अधिक होने पर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है और कम होने पर मुद्रा संकुचन की स्थिति। केन्द्रीय बैंक साख को नियनत्रित करके इन स्थितियों पर अंकुश लगता है। अतः यह इसका प्रधान कार्य माना गया है।

   1931 से पूर्व साख नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय दर में स्थिरता रखना होता था पर 1931 में स्वर्णमान के पतन के बाद इसका प्रमुख उद्देश्य आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता बनाये रखना हो गया। वस्तुतः साख नियन्त्रण का उद्देश्य दोनों में स्थायित्व की प्राप्ति होना चाहिये।

8. **कुछ अन्य कार्य** (some other functions)

   **डी कॉक** द्वारा बताये गये केन्द्रीय बैंक के उपर्युक्त सात कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के कुछ अन्य कार्य भी हैं जैसे :–

1. **आर्थिक विकास में सहायक होना** :– वर्तमान केन्द्रीय बैंक न महज आर्थिक स्थिरता अपितु आर्थिक विकास को भी प्रोत्साहन देते हैं व्यापारिक बैंकों को सरकारी बैंकों सहकारी बैंकों अन्य वित्तीय संस्थाओं तथा बिल बाजार के विकास एवं विस्तार के लिये केन्द्रीय बैंक कार्य करता है। ताकि निवेश के साधनों का विस्तार किया जा सके। सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन के माध्यम से वित्तीय साधन उपलब्ध कराता है। विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका विकास सम्बन्धी कार्य के लिये अधिक सजग है।

**2. आंकड़े संकलित करना** :– देश को मुद्रा साख बैंकिग, विदेशी निवेश आदि से सम्बन्धित आर्थिक स्थिति के बारे में आंकड़े व सूचनाएं एकत्र करना तथा उन्हें जन हित में प्रकाशित करना केन्द्रीय बैंक के कार्यों में सम्मिलित है। ये आंकड़े व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के लिए देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान कराते हैं। इससे आर्थिक नियोजन में सफलता मिलती है।

## 11.6 केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध (Restrictions) :–

**डी कॉक** के अनुसार केन्द्रीय बैंक के सफल संचालन और अर्थव्यवस्था के हित के लिये आवश्यक है कि उसके कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा रहे। जैसे जनता से प्रत्यक्ष रूप में नकदी न स्वीकार करना, न ही जनता को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करना बल्कि व्यापारिक बैकों के माध्यम से यह कार्य करने चाहिए। व्यापारिक बैंक से प्रतिस्पर्धा न हो अतएव केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के कार्य नहीं करने चाहिए। उसे निष्पक्ष होकर देश की मुद्रा प्रणाली का संचालन करना चाहिए।

भारत के संदर्भ में रिजर्व बैंक पर यह प्रतिबन्ध लगा दिये हैं कि वे निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता :–

1. कोई उद्योग अथवा व्यापार नहीं खोल सकता।
2. किसी बैंक या कम्पनी के शेयर नहीं खरीद सकता।
3. अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता।
4. बिना जमानत के ऋण नहीं दे सकता।
5. मियादी बिल न लिख सकता है और न ही स्वीकार कर सकता है।
6. जमाओं पर ब्याज नहीं दे सकता।

ऐसा करने से केन्द्रीय बैंक कार्यों में निष्पक्षता सरलता एवं सुरक्षा तथा तरलता बनाये रखता है।

## 11.7 केन्द्रीय बैकों के निर्देशक सिद्धान्त (Principles of Central Banking) :–

केन्द्रीय बैकों का स्वरूप संगठन उद्देश्य तथा कार्य व्यापारिक बैकों से भिन्न होने के कारण केन्द्रीय बैंक के निर्देशन भी भिन्न होते हैं।

केन्द्रीय बैंक मुख्यतः निम्नलिखित सिद्धान्तों को अपनाता है :–

**1. सम्पूर्ण देशहित की प्रमुखता का सिद्धान्त** (Principle of priority to national interest) :– लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं वरन लोक तथा राष्ट्र कल्याण की भावना से प्रेरित होकर केन्द्रीय बैंक को कार्य करना चाहिए। लोकहित प्राप्ति को गौण मानना चाहिए। डी कॉक भी यह मत प्रस्तुत करते हैं।

2. **मौद्रिक तथा वित्तीय स्थिरता का सिद्धान्त** (Principle of monetary and financial stability):– मौद्रिक एवं वित्तीय स्थिरता के अभाव में देश की आर्थिक स्थिति कमजोर हो सकती है। अतः केन्द्रीय बैंक को देश में मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय तथा सार्वजनिक ऋण के नियमन के लिये एक सक्रिय नीति अपनाना चाहिए।

3. **राजनीतिक प्रभाव से स्वतंत्र रहने का सिद्धान्त अथवा निष्पक्षता का सिद्धान्त** (Principle of being free from political influnce or principle of impartiality) :– किसी विशेष समुदाय अथवा राजनीतिक वर्ग का पक्षपात करते हुए नीति का निर्धारण न करें। निष्पक्ष

नीति का अनुसरण करें। राजनीतिक दलबन्दी के प्रभाव से मुक्त रहते हुए सरकार का सहयोंग करना चाहिए चाहे वह किसी दल की सरकार हो।

4. **मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार** (exclusive right of note issuing) :– केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त नोट निर्गमन का अधिकार अन्य किसी संस्था को नहीं होना चाहिए। तभी यह देश में मुद्रा तथा साख व्यवस्था पर उचित तथा प्रभावपूर्ण नियंत्रण रख पायेगा। न ही तब मुद्रा स्फीति का भय रहेगा और आर्थिक स्थिरता भी बनी रहेगी।

5. **साधारण बैंकिंग कार्यों से अलग** (different from the functions of a commercial bank) :– केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैकों की भांति सामान्य लेन–देन के कार्य न करें अर्थात वह न तो जनता से प्रत्यक्ष रूप से जमा राशियां स्वीकार करे और न ही सीधे ऋण दे। व्यापारिक बैंक से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिए। ये बैकिंग व्यवसाय के विकास के लिए हितकर रहेगा। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। केन्द्रीय बैंक को केवल केन्द्रीय बैंक के ही कार्य करने चाहिए। इससे देश की मुद्रा की पूर्ति पर उसका प्रभावपूर्ण नियंत्रण रहे एवं चलन प्रणाली में एकरूपता बनी रहे।

## 11.8 आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक की भूमिका (Role of Central bank in economic development) :–

विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली तथा मुद्रा एवं पूंजी बाजार विकसित करने में अधिक गतिशील भूमिका होती है। विकसित देशों में व्यापारिक बैंक का पूर्ण रूप से विकास हुआ रहता है एवं उनके मुद्रा एवं पूंजी बाजार भी सुगठित रहते हैं अतः इन देषों में इनकी भूमिका भिन्न होती है।

**सेयर्स** का मानना है कि अर्द्धविकसित देशों में केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के कुछ कार्य भी करने चाहिए परन्तु यह ऐसे विवाद का विवाद विषय है । निम्न बिन्दुओं द्वारा यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि विकासशील देशों में *व्यापारिक बैकिंग प्रणाली को विकसित करने में केन्द्रीय बैंक एक अहम् भूमिका निभाता है।*

1. **प्रभावपूर्ण मौद्रिक नीति** (effective monetary poliy) अर्द्धविकसिक देशों में असंगठित बैंकिंग प्रणाली नियोजित आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है। लोगों में बैकिंग आदत का अभाव होना बैंकों की संख्या कम होना अर्थव्यवस्था में विकास को रोकती है। ऐसे में केन्द्रीय बैंक द्वारा एक सुदृढ़ मौद्रिक नीति को अपनाना अहम् हो जाता है।
2. **पूंजी निर्माण में सहायक** (helpful in capital formation) केन्द्रीय बैंक को अर्द्धविकसित देशों में पूंजी के निर्माण में एक अहम भूमिका निभानी चाहिए। बचत को गतिशील बनाने हेतु केन्द्रीय बैंक उचित कदम उठा सकता है और इस बचत को उत्पादक कार्यों में निवेश करने के लिये बैकिंग प्रणाली को विकसित किया जाना चाहिए।
3. **साख की सुविधा में वृद्धि** (increase in the cresit facility) अर्द्धविकसित देशों की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर निर्भर होती है परन्तु इन क्षेत्रों में प्रचारित सुविधा न होने के कारण ये देश अर्द्धविकास के नियम् चक्र में फंसे रहते हैं। अतः केन्द्रीय

बैंक को चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करें कि ग्रामीण क्षेत्रों के कृषकों के माध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण उपलब्ध हो सके। कृषि साख संस्थाओं का विकास होना चाहिए। उदाहरण के लिये भारत में नाबार्ड के माध्यम से रिजर्व बैंक यह सुविधा उपलब्ध कराता है।

4. **औद्योगिक क्षेत्र का विकास** (development of the industrial sector) विशिष्ट औद्योगिक वित संस्थाओं की स्थापना करके औद्योगिक क्षेत्र का विकास केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। जैसे भारत में औद्योगिक विकास बैंक भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना में केन्द्रीय बैंक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन संस्थाओं से देश की औद्योगिक वित की आवष्यकता की पूर्ति हो पा रही है।
5. **विदेशी विनिमय रिजर्व का प्रबन्ध** (management of the foreign exchange reserve) केन्द्रीय बैंक विदेशी कोषों का संरक्षक होता है अतः उसे बहुत सोच समझाकर इन विदेशी विनिमय का प्रयोग करना चाहिए ताकि देश में कच्चा माल, मशीने आदि आयातों की आवश्यकता की पूर्ति की जा सके जिससे कि देश की भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ सके।
6. **सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध** (management of public debt) प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध करता है। केन्द्रीय बैंक की एक महत्वपूर्ण भूमिका अर्थव्यवस्था के आर्थिक नियोजन के लिये वित्तीय व्यवस्था करना है। केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक ऋण का समुचित प्रबन्ध करता है जिससे देश को विदेशी ऋण पर आश्रित न रहना पड़े।
7. **व्यापरिक बैंकों के लिये प्रशिक्षित अधिकारियों एवं कर्मचारियों की व्यवस्था** (arrangement of trained officials and workers for the commercial banks) यह केन्द्रीय बैंक का कार्य है कि वह व्यापारिक बैंक के कुशल कार्य प्रणाली हेतु प्रशिक्षित कर्मचारियों की उचित व्यवस्था करे । सभी कर्मचारियों का उच्च प्रशिक्षण हेतु प्रबन्ध की जिम्मेदारी केन्द्रीय बैंक की होती है, क्योंकि व्यापारिक बैंक इसके उचित व्यवस्था कराने में असक्षम होते हैं। साथ ही व्यापारिक बैंकों की शाखाओं का विस्तार और उनका सन्तुलित विकास केन्द्रीय बैंक को करना चाहिए।
8. **सरकार की सलाहकार की भूमिका** (role of advisor to the government) सरकार को मौद्रिक वित्तीय एवं तकनीकी सलाह देना केन्द्रीय बैंक के कार्यों मे शामिल है किन्तु एक अर्द्धविकसिक दश में यह भूमिका और भी अहम् हो जाती है। सरकार को आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी सर्वेक्षण करके रिपोर्ट प्रस्तुत करना केन्द्रीय बैंक की जिम्मेदारी है। जिससे कि सरकार उनका अवलोकन करके उचित नीतियां बना सके।

ऊपर दिये बिन्दुओ से यह स्पष्ट होता है कि अर्द्धविकसित देश की आर्थिक विकास को गति प्रदान करने में केन्द्रीय भूमिका एक अहम् भूमिका अदा करता है।

## 11.9 सारांश :–

एक देश की बैंकिंग व्यवस्था में उस देश की केन्द्रीय बैंक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। एक पथप्रदर्शक, दार्शनिक के रूप में केन्द्रीय बैंक देश की अन्य बैंकों को सहायता प्रदान करता है। विभिन्न देशों में इसके अलग–अलग नाम हैं जैसे भारत में इसे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, इंग्लैंड में में बैंक आफ इंग्लैण्ड, अमेरिका में फेडरल रिजर्व सिस्टम, फ्रांस में बैंक ऑफ फ्रांस, स्वीडन में स्विस बैंक इत्यादि नामों से जाना जाता है। केन्द्रीय बैंक को देश

के अधिनियम द्वारा कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की जाती हैं जिसके द्वारा यह अन्य व्यापारिक बैंकों को नियंत्रित करती है।

केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न विचार प्रकट किये हैं। केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन पर एकाधिकार रखकर देश में सस्ती व उपयुक्त चलन प्रणाली की व्यवस्था करता है तथा मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने का प्रयास करता है। केन्द्रीय बैंक सरकार को वो सेवाएं प्रदान करता है जो व्यापारिक बैंक जनता को प्रदान करते हैं। सरकार जिन देशों से भी आर्थिक लेन–लेन के समझौते करती है, वे सब केन्द्रीय बैंक के माध्यम से किये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक सरकार को आर्थिक व वित्तीय मामलों में सलाह भी देता है। बैंको के बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रूप में भी कार्य करता है और अर्न्तराष्ट्रीय विनिमय पर नियंत्रण रखता है। जब अन्य किसी साधन से उधार मिलने की आशा नहीं रहती है तब केन्द्रीय बैंक रकम उपलब्ध कराता है, इस कारण केन्द्रीय बैंक को अंतिम ऋणदाता कहा गया है । केन्द्रीय बैंक एक समाशोधन ग्रह के रूप में ऐसी व्यवस्था करता है कि विभिन्न बैकों के पारस्परिक लेन–देन अथवा एक दूसरे पर लिखे गये चैकों के भुगतान का निबटारा केवल खातों में आवश्यक परिवर्तन द्वारा किया जा सके। साख नियन्त्रण के माध्यम से केन्द्रीय बैंक देश की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने का प्रयास करता है ताकि आर्थिक उच्चावचनों बचा जा सके। केन्द्रीय बैंक साख को नियनत्रित करके इन स्थितियों पर अंकुश लगता है। अतः यह इसका प्रधान कार्य माना गया है।

विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका विकास सम्बन्धी कार्य के लिये अधिक सजग है। व्यापारिक बैंक से प्रतिस्पर्घा न हो अतएव केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के कार्य नहीं करने चाहिए। उसे निष्पक्ष होकर देश की मुद्रा प्रणाली का संचालन करना चाहिए। विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली तथा मुद्रा एवं पूंजी बाजार विकसित करने में अधिक गतिशील भूमिका होती है। विकासशील देशों में व्यापारिक बैकिंग प्रणाली को विकसित करने में केन्द्रीय बैंक एक अहम् भूमिका निभाता है।

## 11.10 शब्दावली :–

| | |
|---|---|
| ▪ संकुचन | Contraction |
| ▪ आर्थिक प्रगति | Economic Progress |
| ▪ मुद्रा चलन | Currency in circulation |
| ▪ वित्तीय एजेण्ट | Financial agent |
| ▪ पुर्नकटौती | rediscount |
| ▪ समायोजन | adjustment |
| ▪ एकाधिकार | Monopoly |
| ▪ वित्तीय स्थिरता | Financial stability |
| ▪ प्राथमिक उद्देश्य | Primary objective |

## 11.11 लघुउत्तरीय प्रश्न :–

1. केन्द्रीय बैंक के दो प्रमुख कार्य लिखिये।
2. भारत के केन्द्रीय बैंक का नाम बताइये और यह कहाँ स्थित है।
3. भारत का केन्द्रीय बैंक कब स्थापित हुआ था और इसका राष्ट्रीयकरण कब हुआ ?

4. केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक के बीच दो मुख्य अंतर बताइये।

**उत्तर –**

**1.** नोट निर्गमन का एकाधिकार, बैंकों का बैंक **2.** रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, मुम्बई **3.** 1935, 1949, **4.** केन्द्रीय बैंक की संख्या एक (अमेरिका को छोड़कर) होती है जबकि व्यापारिक बैंक अनेक होते हैं।, **5.** केन्द्रीय बैंक जन साधारण के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय नहीं कर सकता जबकि व्यापारिक जन साधारण के साथ व्यवसाय करते है।

## 11.12 संदर्भ सहित ग्रन्थ :–


- **सिहाई, जी. सी., जे पी मिश्रा एवं के. पुल गुप्ता** : अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा।
- **सेठी, टी. टी.** : मुद्रा बैकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा।
- **झिंगन, एम. एल**.: समष्टि अर्थषास्त्र, वृंदा पब्लिरिकन, नई दिल्ली।


## 11.13 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची :–


1. Mithani, D.M. (2008) International Economics, Himalaya Publishing House.
2. Mithani, D. M. (1998), Modern Public Finance, Himalaya Publishing House. Mumbai.
3. Musgrave, R. A. and P. B. Musgrave (1976), Public Finance in Theory and Practice McGraw Hill, Kogakusha, Tokyo.
4. Agrawal, Deepak (2009), Money Banking, Public Finance & International Economics, Himalaya Publishing House.


## 11.14 निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. आधुनिक अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. केन्द्रीय बैंक क्या है ? इसके प्रमुख कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. केन्द्रीय बैंक के निर्देषन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

# इकाई – 12 साख नियन्त्रण परिणात्मक एवं गुणात्मक विधियां

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंन्त्रण
12.4 साख नियंत्रण के उद्देश्य
12.5 साख नियन्त्रण की विधियां
12.5.1 परिमाणात्मक विधियां
12.5.2 गुणात्मक विधियां
12.5.3 साख नियंत्रण की कठिनाइयां
12.6 सारांष
12.7 शब्दावली
12.8 लघु उत्तरीय प्रश्न
12.9 संदर्भ सहित ग्रन्थ
12.10 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची
12.11 निबन्धात्मक प्रश्न

## 12.1 प्रस्तावना :–

पिछली इकाई में हमने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा और उसके विभिन्न कार्यों पर प्रकाष डाला। केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों में साख नियंत्रण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। साख के नियंत्रण से केन्द्रीय बैंक देष की अर्थव्यवस्था मे मुद्रा स्फीति की स्थिति को न सिर्फ नियंत्रित कर सकता है बल्कि अवस्फीति की दशा में साख विस्तार से इस समस्या का समाधान भी कर सकता है।

प्रस्तुत इकाई में साख नियंत्रण को विस्तृत रूप से समझाया गया है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण के इस कार्य के विभिन्न उद्देश्यों और इसको क्रियान्वित करने के विभिन्न विधियों पर भी प्रकाश डाला गया है।

साख नियंत्रण की विधियों के द्वारा केन्द्रीय बैंक की सशक्त भूमिका का पता चलता है। अर्थव्यवस्था की स्थितियों अनुकूल केन्द्रीय बैंक द्वारा साख का सकुशल नियंत्रण देश को विकास के पथ पर ले जाती है। मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु केन्द्रीय बैंक का ये कार्य अति महत्वपूर्ण कार्यों में एक हैं।

## 12.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि –

1– साख नियंन्त्रण का उद्देश्य क्या है।
2– साख नियंन्त्रण की विभिन्न रीतियां कौन सी हैं।
3– इन रीतियों की क्या समीक्षा है।
4– साख नियन्त्रण की क्या कठिनाइयां हैं।

## 12.3 केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण :–

केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों में साख नियन्त्रण का कार्य व्यापारिक बैंक की साख निर्माणशक्ति को नियनत्रित करता है।

वर्तमान समय में साख मुद्रा का प्रयोग अत्यधिक बढ़ जाने से साख की मात्रा पर प्रभाव पड़ने लगा है जिससे देश की अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। मुद्रा की मात्रा का नियमन बहुत कुछ साख के नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है क्योंकि मुद्रा में चलन तथा साख मुद्रा दोना ही सम्मिलित हैं।

अतएव केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति तथा मौद्रिक नीति में विशेषरूप से कोई अंतर नहीं होता। साख को नियन्त्रित करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके माध्यम से केन्द्रीय बैंक देश की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने का प्रयास करता है। आर्थिक उच्चावचनों से अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इसीलिये प्रो0 शॉ ने भी साख नियन्त्रण को केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण कार्य बताया है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान कर सके।

## 12.4 साख नियन्त्रण के उद्देश्य :–

प्रो0 राबर्टसन ने उचित ही कहा है कि जहाँ मुद्रा मानव जाति के अनेक सुखों का स्रोत है वहीं नियन्त्रण के यह संकट का कारण भी बन जाती है।

साख नियन्त्रण के उद्देष्यों में समय–समय पर परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। जहाँ पूर्व में स्वर्णमान युग में विनिमय दरों की स्थिरता पर बल दिया जाता था और मुद्रा की आन्तरिक मूल्य अथवा कीमत स्तर की स्थिरता को गौण समझा जाता था तब साख नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता प्राप्त करना था। परन्तु तीसी की

महामन्दी के पश्चात् विनिमय दरों की अपेक्षा कीमत स्थिरता देश के आर्थिक हितों के लिये अधिक आवश्यक माना गया। अतः साख नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय स्थिरता से हटकर आन्तरिक मूल्य या कीमत स्तर पर आ गया।

परन्तु आज की आधुनिक विचारधारा के अर्न्तगत दोनों विनिमय स्थिरता एवं मूल्य स्थिरता ही आवश्यक है और यह प्रयास किया जाता है कि दोनो उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। महामन्दी से उबरने के पश्चात् केन्स की आर्थिक विचारधारा का गहरा प्रभाव दिखाई दिया। आय एवं रोजगार में स्थिरता को महत्व दिया जाने लगा। न महज स्थिरता को महत्व बल्कि आर्थिक नीति का उद्देश्य आय एवं रोजगार में वृद्धि करना भी था। अतः साख नियन्त्रण का उद्देश्य आय एवं रोजगार को उच्च स्तर पर स्थिरता प्राप्त करना हो गया।

आर्थिक विकास को गतिशील करना अहम् हो गया था क्योंकि द्वितीय महायुद्ध में विश्व की कई अर्थव्यवस्था चरमरा गयी थी। अर्द्धविकसित देशों के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वह कुषल आर्थिक नियोजन की नीति बनायें। इसके लिये भारी मात्रा में निवेश करना और अर्थव्यवस्था की बढ़ी हुयी मात्रा में मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक होता है। इसके लिये साख का उचित विस्तार एवं प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। अतः साख नियन्त्रण महज स्थिरता प्रदान करने के लिये वरन् आर्थिक विकास में सहायता करना भी होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हें कि केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति का केवल एक उद्देश्य न हो के भिन्न–भिन्न उद्देश्य हैं। साख नियन्त्रण के उद्देश्य वही होते हैं जो कि किसी देश द्वारा निर्धारित मौद्रिक नीति के उद्देश्य होते हैं।

विस्तृत रूप से साख नियन्त्रण के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं –

1– **आर्थिक स्थायित्व एवं पूर्ण रोजगार** (Economic stability and full employment) :

आधुनिक अर्थशात्रियों के अनुसार देश की मौद्रिक और साख की नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे व्यापार चक्रों को रोका जा सके तथा देश में आर्थिक स्थायित्व और पूर्ण रोजगार स्थापित किया जा सके।

2– **विनिमय दर में स्थिरता** (Stability in exchange rate) :–

यदि साख में वृद्धि करने से स्फीति की स्थिति उत्पन्न होने लगती है तो विनिमय दर गिरने लगती है। ऐसा होने पर देश की अर्थव्यवस्था में गड़बड़ी होने का भय रहता है और मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ सकता है।

3– **कीमत स्तर में स्थायित्व** (Stability in price level) :– कीमत स्तर में स्थिरता बनाये रखना भी साख नियन्त्रण का उद्देश्य होता है। साख की मात्रा और देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के बीच उचित सामंजस्य बनाये रखने से इस उद्देश्य की पूर्ति होती है।

4– **आर्थिक विकास** (economic development ):– साख का नियन्त्रण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि अर्थव्यवस्था में उचित विकास की दशाएं उत्पन्न हो सके।

यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त उद्देश्यों की सफल पूर्ति के लिये राजकोषीय नीति का भी सहयोग आवश्यक है।

## 12.5 साख नियन्त्रण की विधियां

साख नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक दो रीतियां अपनाता है। ये रीति परिमाणात्मक तथा गुणात्मक होती हैं। जहाँ एक और परिमाणात्मक अथवा मात्रात्मक विधियों का उद्देश्य साख की लागतें तथा मात्रा को नियन्त्रित किया जाना है वहीं गुणात्मक विधियां साख के प्रयोग और दिशा को नियन्त्रित करती हैं।

साख नियन्त्रण को दो भागों में बांटा जा सकता है –

**क– परिमाणात्मक**

*अ– बैंक दर*
*ब– खुले बाजार की क्रियाएं*
*स– परिवर्तनशील कोषानुपात*
*द– तरल कोषानुपात*

**ख– गुणात्मक**

*अ– चयनात्मक साख नियन्त्रक*
*ब– साख की राशनिंग*
*स– नैतिक दबाव*
*द– प्रचार*
*य– प्रत्यक्ष कार्यवाही*

**परिणात्मक विधियों में प्रमुख है :–**

### 1. बैंक दर या कटौती दर (Bank Rate or Discount Rate) :–

यह वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैकों को उधार देता है या जिस दर पर व्यापारिक बैंक द्वारा प्रस्तुत प्रथम श्रेणी के बिलों की पुर्नकटौती करता है। इस बैंक दर में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है। इंग्लैण्ड अमरीका आदि देशों में बिलों की पुर्नकटौती को महत्व देने के कारण इस दर को कटौती दर भी कहा जाता है।

यदि अर्थव्यवस्था के लिये साख बढ़ाने की जरूरत हो तो केन्द्रीय बैंक बैंक दर को घटा देता है। ऐसा करने से व्यापारिक बैंक अधिक उधार लेंगे और आगे उपभोक्ताओं को कम दर पर कर्ज देगें। जिससे कि व्यापार क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है और साख का विस्तार होता है कीमते बढ़ने लगतीं हैं। यही प्रक्रिया विपरीत हो जाती है जब साख का संकुचन करना होता है। अर्थात बैंक दर को बढ़ा दिया जाता है।

बैंक दर और बाजार दर में यह अंतर होता है कि बैंक दर केन्द्रीय बैंक की बैंको की कटौती करने की दर होती है। बैंक दर में वृद्धि अथवा कमी प्रत्यक्ष प्रभाव बाजार दर पर पड़ता है।

सार रूप में बैंक दर बढ़ाने से साख में संकुचन एवं बैंक दर घटाने से साख में विस्तार होता है।

*बैंक दर की **सफलता** के लिये आवश्यक शर्तें :–*

1– देश की अर्थव्यवस्था लोचदार होनी चाहिए।
2– मुद्रा बाजार में प्रचलित अन्य ब्याज की दरें बैंक दर में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप होनी चाहिए
3– व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होने चाहिए
4– उद्यमी और व्यापारी वर्ग का दृष्टिकोण बैंक दर के अनुकूल होना चाहिए।

बैंक दर कम करने से साख के विस्तार के फलस्वरूप व्यापारी का प्रोत्साहित होता है और आन्तरिक कीमत स्तर ऊँचा उठ जाता है।

बैंक दर में वृद्धि से बाजार दर बढ़ जाती है ब्याज अधिक मिलने के कारण विदेशी बैकों से तरल पूंजी ऊंची ब्याज दर पर लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से देश में आयात होने लगते हैं।

इसके अलावा बढ़ी बैंक दर के कारण विदेषी पूंजी को अधिक ब्याज मिलने के फलस्वरूप इसका जो आगमन बढ़ जाता है उससे देश की भुगतान शेष सुधर जाता है। बैंक दर के गिर जाने से विपरीत स्थिति दृष्टिगत होती है।

**बैंक दर की सीमाएं** (Limitation of Bank Rates) :– निम्नलिखित परिस्थितियों के कारण बैंक दर असफल हो जाती हैं –

1– साख या मुद्रा स्फीति – बैक दर तब प्रभावित हो जाती है जब देश में लाभ में निरन्तर वृद्धि हो रही हो या फिर मन्दीकाल में कम ब्याज दर पर भी ऋणों की मांग को नहीं बढ़ाया जा सकता।

2– बैंक में परिवर्तन का तत्कालीन प्रभाव बाजार दर पर पडना चाहिए और मुद्रा बाजार भी संगठित होनी चाहिए नही ंतो निर्धारित उद्देश्य सफल नहीं हो पाता।

3– लोचपूर्ण अर्थव्यवस्था के होने से ही बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव कीमत स्तर, रोजगार, उत्पादन पर वांछित दिशा में हो सकेगा।

4– पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर किसी प्रकार का नियन्त्रण होने से बैंक दर में होने वाला परिवर्तन अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो पाता।

5– व्यापारिक बैकों को केन्द्रीय बैकों पर अंतिम ऋणदाता के रूप में निर्भर रहना आवश्यक है।

6– एक विकसित बिल बाजार के होने पर ही बैंक दर में परिवर्तन सफल होगा।

7– बैंक दर की नीति का महत्व वहाँ कम हो जाता है जहाँ अधिकांश निवेश सार्वजनिक क्षेत्र में किया जाता है।

8– बैंक दर में परिवर्तन के परिणामस्वरूप ब्याज दरों तथा मुद्रा पूर्ति को एक साथ निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

**डी कॉक** के शब्दों में *''यदि वर्तमान काल की परिस्थितियां तथा नीतियां स्वतन्त्र कटौती दर की रीति के लिये अवसर नहीं देती हैं तथापि इस विश्वास का काफी दृढ़ आधार है कि वैधानिक कटौती दर की अब भी साख नियंत्रण की अन्य विधियों के साथ उपयोगी कार्य करना है''।*

**2. खुले बाजार की क्रियाएं** (Open Market operations) :–

**डी कॉक** के अनुसार *''विस्तृत अर्थ में खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय करना है। किन्तु संकुचित अर्थ मं खुले बाजार की क्रियाओं का आशय केन्द्रीय बैंक द्वारा केवल सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय से होता है।*

खुले बाजार की क्रियाओं के दो प्रमुख उद्देश्य हैं :–

(1) व्यापारिक बैंकों की आरक्षितयों को प्रभावित करना ताकि उनकी साख निर्माण की शक्ति पर नियंत्रण रखा जा सके।

(2) ब्याज की बाजार दरों को प्रभावित करना ताकि व्यापारिक बैंक साख पर नियन्त्रण रखा जा सके।

**कार्य प्रणाली** :– इन क्रियाओं की कार्य प्रणाली इस प्रकार से है :–

जब साख के विस्तार में तेजी हो रही होती है, तब केन्द्रीय बैंक उसे रोकने हेतु वह सरकारी प्रतिभूतियों को बेचने लगता है। यह प्रतिभूतियों व्यापारिक बैंक खरीद लेते हैं और रकम केन्द्रीय बैंक को चुकानी पड़ती है। इस प्रकार व्यापारिक बैकों के नकद कोष केन्द्रीय बैंक के पास पहुँच जाते हैं। नकद कोषों के कम होने से व्यापारिक बैंक की उधार देने की शक्ति कम हो जाती है।

इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक देश में साख विस्तार बढ़ाने के लिए बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ विदेशी विनिमय आदि खरीदना प्रारम्भ कर देता है जिसके फलस्वरूप मुद्रा की

मात्रा बढ़ जाती है और बैकों में जमा राशि भी बढ़ जाती है। व्यापारिक बैकों की साख निर्माण की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि साख में वृद्धि करने के लिये केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदता है और उसमें कमी करने हेतु प्रतिभूतियों को बेचता है। इस प्रकार प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय से व्यापारिक बैकों के नकद कोषों में परिवर्तन होता है जिससे उनके साख निर्माण की शक्ति में कमी या वृद्धि होने लगती है।

**उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण** – मान लीजिए अर्थव्यवस्था में स्फीति की दशा को नियन्त्रित करने हेतु केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैकों का साख निर्माण की शक्ति को रोकना चाहता है। इस उद्देश्य से यदि वह मुद्रा बाजार में 5 करोड़ रूप्ये की सरकारी प्रतिभूतियां बेचता है तो केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैकों के नाम उसी राशि का चेक मुद्रा बाजार द्वारा दिया जाता है। इनमें जनता के खाते होते हैं। केन्द्रीय बैंक अपने पास उनके हिसाब से यह राषि कम कर देता है। यदि व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक से प्रतिभूतियां खरीदता है तो यह नियम उन पर भी लागू होता है। इससे व्यापारिक बैकों के पास वास्तविक नगदी अनुपात 5 करोड़ रूपये तक कम हो जाता है। फलस्वरूप बैकों को उधार दी गयी राशि घटानी पड़ती है।

इसके विपरीत जब मंदी का दौर होता है तो केन्द्रीय बैंक विस्तारात्मक नीति अपनाता है। वह प्रतिभूतियां खरीदता है और विक्रेताओं को अपने नाम का चेक देता है। जिसे व्यापारिक बैकों में जमा कर दिया जाता है और इन बैकों के रिजर्व बढ़ जाते हैं। ये नकदी रिजर्व होते हैं।

यह क्रियाएं मुद्रा की पूर्ति परिवर्तन लाती हैं जिससे ब्याज की बाजार दर भी प्रभावित होती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियां बेचने पर मुद्रा पूर्ति घटती है और बाजार दरे ऊँची हो जाती हैं उसी प्रकार प्रतिभूतियों को खरीदने पर मुद्रा पूर्ति बढ़ती है और बाजार दरें नीची हो जाती हैं।

**दशाएं** :– खुली बाजार क्रियाएं निम्न दशाओं में अपनायी जाती हैं –

1– बैंक दर नीति को सफल बनाने के लिये।
2– पूंजी का निर्यात रोकने के लिये।
3– सरकारी प्रतिभूंतियों के मूल्य को ऊँचा रखने के लिये।
4– स्वर्ण के आयात निर्यात प्रभावों को समाप्त करने के लिये।
5– लोगों का बैंक पर विश्वास बनाये रखने के लिये

खुली बाजार प्रक्रिया को **सफल बनाने हेतु आवश्यक तत्व** :–

1– विकसित मुद्रा बाजार – जिससे कि प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय में कोई कठिनाई न हो।
2– स्कन्ध विनिमय बाजार – अच्छे स्टॉक एक्सचेंज होने से सभी प्रकार की सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय में आसानी होती है।
3– प्रतिभूतियां रखने की आदत – व्यापारिक बैकों के लिये सरकारी प्रतिभूतियां रखना अनिवार्य होना चाहिए जिससे उसका समय अनुसार क्रय–विक्रय किया जा सके।
4– मूल्यों में स्थायित्व – सरकारी प्रतिभूतियों में बहुत विशेष कमी या वृद्धि न हो जिससे उसके क्रय–विक्रय में रूकावट पैदा हो जाये।

**सीमाएं** :–

1– अर्द्धविकसित एवं अल्पविकसित देशों में यह क्रियाएं पूर्ण विकसित न होने के कारण सफल नहीं पाती।
2– ऐसे देशों में मुद्रा बाजार कम विकसित होते हैं।
3– बैकों को सरकारी प्रतिभूतियां रखने की विशेष आदत नहीं होती।
4– मूल्यों में अधिक उतार–चढ़ाव भी प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय को सीमित करते हैं।
5– देश की असाधारण राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियां इन क्रियाओं को सीमित करती हैं।

### 3. परिवर्तनशील कोषानुपात (Variable Reserve Ratio)–

इसे साख नियन्त्रण के सुझाव के रूप मं सबसे पहले केन्ज ने अपनी पुस्तक 'Treatise on money'' (1930) में दिया था और इसे 1935 में अमरीका के Federal Reseure System ने अपनाया था।

बैकों का बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों को एक निश्चित प्रतिशत अनुपात केन्द्रीय बैंकों के पास नकद कोष के रूप में जमा रखना होता है। इस अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैकों की साख निर्माण को शक्ति को नियन्त्रित करती है। अनुपात में वृद्धि के प्रभाव से केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि केन्द्रीय बैंक के पास रखनी होती है जिससे कि व्यापारिक बैकों के पास अतिरिक्त रिजर्व बढ़ पाता है और अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं।

भारत में सभी अनुसूचित (scheduled) बैकों को अपनी कुल जमाओं का कम से कम 4 प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा रखना पड़ता है। इस प्रतिशत में वृद्धि करने पर रिजर्व बैंक के पास रखे रिजर्व बढ़ जाते हैं और व्यापारिक बैकों की साख निमार्ण की शक्ति प्रभावित होती है। अब उनके अतिरिक्त रिजर्व कम हो जाने के कारण वे अपेक्षाकृत कम उधार दे सकते हैं। इसे जमा गुणक फार्मूले (deposit multiplier) की सहायता से भी निकाल सकते हैं।

व्यापारिक बैंक के पास कुल जमा = 200 करोड़ रूपये

आवष्यक रिजर्व अनुपात = 10 प्रतिषत

केन्द्रीय बैंक के पास रखे गये रिजर्व $= 200 \times \frac{10}{100} = 20$ करोड़

अतिरिक्त रिजर्व = 180 करोड़ रू0

साख का निर्माण $= 180 \times \frac{1}{10\%}$ [ER/RRr]

$= 180 \times \frac{100}{10}$

=1800 करोड़ रू0

(यहाँ ER अतिरिक्त रिजर्व है और RRr आवश्यक रिजर्व अनुपात)

यदि अब केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को बढ़ाकर 20 प्रतिशत कर देता है तो व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण की शक्ति बढ़कर 3800 करोड़ रू0 हो जायेगी।

**सीमाएं** –

1– व्यापारिक के पास नकद कोषों की अधिकता जिससे उनकी साख निर्माण की शक्ति में कमी नहीं आती।

2– यदि व्यापारिक बैकों के पास तरल विनियोग पर्याप्त मात्रा में है तो केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिक रकम मांगे जान पर वह अपनी कुछ प्रतिभूतियों बेच देगा और इसके उधार देने की शक्ति अप्रभावित रहेगी।

**4. वैधानिक तरल कोषानुपात** (Statutory Liquidity ratio):–

व्यापारिक बैंक अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश तरल रूप में रखते हैं। कई देशों में यह वैधानिक रूप से निर्धारित किया जाता है जैसे भारत में व्यापारिक बैंकों को अपनी सम्पत्ति का कम से कम 30 प्रतिशत तरल भाग (नकद, बिल, अन्य बैकों में जमा याचना राशि, सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में) रखना अनिवार्य है। आवश्यकतानुसार इससे परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस अनुपात में वृद्धि करने पर बैकों की उधान देने की क्षमता कम हो जाती है और विलोमशः।

### 12.5.2 गुणात्मक विधियां (Qualitative methods):–

जहाँ एक ओर परिमाणात्मक विधियों का उद्देश्य साख की मात्रा तथा कीमत को नियन्त्रित करना होता है वहीं दूसरी ओर साख के प्रयोग को नियंत्रित करने के लिये गुणात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है। गुणात्मक विधियां साख के वास्तविक व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं –

1– **चयनात्मक साख नियन्त्रण** (selective credit controls)–

- भिन्न कटौती दरें
- नकद कोषों में रियायत
- आयात पूर्व जमा
- ऋणों पर नियंन्त्रण और उनकी जाँच
- उपभोक्ता साख का नियमन
- सीमान्तर में वृद्धि

(अ)– **भिन्न कटौती दरे–** केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के बिलों कि लिए भिन्न–भिन्न कटौती दरें लागू करता है। यह इसलिये किया जाता है कि कुछ क्षेत्रों में ऋण की मात्रा को नियन्त्रित किया जा सके। यदि कुछ क्षेत्रों को प्रोत्साहन देना होता है जैसे निर्यात या कृषि क्षेत्र का, वो केन्द्रीय बैंक निर्यात एवं कृषि बिलों की कटौती दर कम निर्धारित करता है और व्यापार एवं उद्योगों को कठिन शर्तों पर तथा महंगी साख उपलब्ध कराती है जिससे उनको सीमित ऋण मिल सके।

(ब)– **नकद कोषों में रियायत**– कन्द्रीय बैंक कभी कभी व्यापारिक बैकों को उसके पास रखे गये नकद कोषों में रियायत दे देती हैं। यह रियायत विशेष उद्योगों को प्रोत्साहन हेतु दी जाती है। जैसे यदि इस्पात उद्योग को ऋण की जितनी रकम दी जाय उस रकम को केन्द्रीय बैंक में जमा की तरह मान लिया जायेगा। इस तरह व्यापारिक बैंक को अपने दिये गये ऋण पर ब्याज मिलने लगता है।

(स)– **आयात पूर्व जमा**– आयातों को निरूत्साहित करने हेतु केन्द्रीय बैंक कुछ ऐसे नियम बनाती है जिससे कि आयातकर्ता को आयात लाइसेंस का प्रार्थना पत्र मिलते समय आयात मूल्य का एक हिस्सा केन्द्रीय बैंक अथवा किसी अन्य अधिकृत बैंक के पास जमा करें। इस जमा पर उसे ब्याज भी नहीं मिलता।

(द)– **ऋणों पर नियन्त्रण एवं उनकी जॉच**– केन्द्रीय बैंक को यदि व्यापारिक बैंकों को कुछ विषेष क्षेत्रों के लिये ऋण सीमित करना हो तो वह निश्चित राषि से अधिक ऋण देने पर रोक लगा दी जाती है। कई बाद तो नयी कम्पनियों के शेयर खरीदने पर भी व्यापारिक बैंक ऋण नहीं देती दे सकती जिससे कि जनता से ही पूंजी प्राप्त की जा सके।

(य)– **उपभोक्ता साख में नियमन**– वस्तुओं की मांग को नियन्त्रित करने के लिए केन्द्रीय बैंक उपभोक्ता साख का भी नियमन करती है। जैसे द्वितीय युद्धकाल में सभी यूरोपीय देशों पर लगाये गये थे। उपभोक्ता ऋणों का भुगतान शीघ्र अति शीघ्र कर सके इस कारण किस्त साख की अधिकतम भुगतान अवधि निश्चित कर दी जाती है। इसका उद्देश्य उपभोक्ताओं पर माल खरीदार विक्रेताओं पर माल बेचने तथा बैंकों द्वारा ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगाना है। इससे साख के प्रसार पर रोक लगाई जा सकती है। यदि उपभोक्ता द्वारा मांग को बढ़ाना हो तो कम दर पर ऋण को उपलब्ध कराना, किस्तों पर कम ब्याज दरे लगाना, भुगतान अवधि सहज कर देना जैसे नियमों को लागू किया जाता है।

(र)– **सीमान्तर में वृद्धि**– केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को यंह आदेश जारी कर सकता है कि वे अनाज, सीमेन्ट या अन्य वस्तुओं की जमानत पर दिये जाने वाले ऋणों पर पहले से ही अधिक सीमान्तर रखते थे। जैसे 120 रूपये का सामान जमानत में रखने पर 100 रूपये का सामान जमानत में रखने पर 100 रूपये का ऋण वही अब केन्द्रीय बैंक उसे बढ़ाकर 30 या 40 प्रतिषत कर सकता है।

**2– साख की राशनिंग** (Credit Rationing) –

यह साख को नियन्त्रित करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। जब केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक की साख की मांग को पूरी तरह से पूर्ण नहीं कर पाता है तो वह साख की राशनिंग करता है। साख निर्माण की अधिकतम् सीमा निश्चित करके विभिन्न बैंको के लिये कोटा निधार्रित कर दिया जाता है। चार प्रकार से केन्द्रीय बैंक साख की राषनिंग कर सकता है–

(क)– किसी बैंक की बिलो को पुनः भुनाने की सुविधा पूर्ण रूप से समाप्त करके ।

(ख)– किसी बैंक की बिलों को पुनः भुनाने की सुविधा सीमित करके।

(ग)– कुछ बैंकों की ऋण प्राप्ति की सीमाएं निर्धारित करके।

(घ)– विभिन्न बैकों के लिये एवं विभिन्न कार्यों के लिये साख के अभ्यंश निर्धारित करके।

**बेजमैन** ने लिखा है कि *''अधिक पिछड़ी आर्थिक स्थितियों में साख का कोटा निर्धारित कर देना ही केवल एक ऐसी निर्णायक विधि है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यवसाय की ओर से अधिक साख की मांग को रोकने के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है।''*

**3– नैतिक दबाव** (Moral Suasion) –

केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों परर नैतिक दबाव डालकर भी साख का गुणात्मक नियन्त्रण कर सकती है। यहा पर केन्द्रीय बैंक मात्र परामर्श सुझाव एवं सलाह देकर व्यापारिक बैंक को साख का नियन्त्रण करने को कहती है। यह सुझाव व्यापारिक बैंकों के सम्मेलनो पर अधिकारियों के लखों, गर्वनर की चिट्ठियों द्वारा भी दिया जा सकता है। बैकों को यह

सुझाव अरूचिकर नहीं लगते और और दोनो में सद्भावना बनी रहती है। बैंक अपना सहयोग देते हैं परन्तु ऐसा न करने पर आदेश भी दिया जा सकता है।

**4– प्रचार** (Publicity) –

केन्द्रीय बैंक अपनी साख एवं मौद्रिक नीति का प्रचार करके भी साख पर नियन्त्रण रख सकते हैं। इन नीतियों के आधार पर व्यापारिक बैंक अपनी साख नीति में परिवर्तन करते हैं। विकसित देशों में पत्र–पत्रिकाओं , भाषण, गोष्ठियों के माध्यम से प्रचार तुरंत प्रभावी हो जाता है।

**5– प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Direct action) –

यदि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैक की सलाह मानने से इन्कार कर देता है या टालता रहता है तो केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष कार्यवाही भी कर सकता है वह व्यापारिक बैंकों को ऋण देने पर रोक लगा सकता है या फिर उसके विनिमय पत्रों की कटौती से इंकार कर सकता है या ब्याज की दर बढ़ा सकता है।

## 12.6– साख नियन्त्रण की कठिनाइयां (difficulties in credit control) :–

1– **मौद्रिक संस्थाओं पर अपूर्ण नियन्त्रण** – कई ऐसी मौद्रिक संस्थाएं जैसे– देशी बैंकर, वित्तीय एवं गैर वित्तीय संस्थाएं जो ऋण सम्बन्धी लेन–देन का कार्य करती हैं, केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण से बाहर हैं जिस कारण पूर्ण नियन्त्रण का अभाव रहता है और साख नियन्त्रण का उद्देश्य सफल नहीं हो पाता है।

2– **असंगठित बैकिंग व्यवस्था** – बैकिंग विकास पर्याप्त न होने के कारण साख नियन्त्रण में कठिनाई उत्पन्न होती है। बैंकों में पारस्परिक सहयोग या फिर केन्द्रीय बैंक को सम्बद्ध बैकों का पर्याप्त सहयोग न मिलने से भी ये नीति विफल हो जाती है।

3– **सम्बद्ध बैकों का सहयोग** – अपने निजी हितों की पूर्ति हेतु या फिर अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से बैंक केन्द्रीय बैंक के नियमों का उल्लंघन कर देते हैं। इससे केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैकों का वह परस्पर सहयोग नहीं मिल पाता जिस कारण साख नियन्त्रण विफल हो जाता है।

4– **साख की विभिन्न किस्में** – कई किस्म की वाणिज्यिक साख होती है जैसे– बैक साख, किताबी साख, वाणिज्यिक साख आदि। केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण मात्र बैंक साख पर ही होता है जिस कारण साख पर नियन्त्रण पूर्ण रूप से नहीं हो पाता।

5– **मुद्रा एवं पूंजी बाजार की स्थिति**– कुछ देशों में मुद्रा एवं पूंजी बाजार पर केन्द्रीय बैंक की नीतियों का प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि केन्द्रीय बैंक को ही मुद्रा बाजार से प्रभावित होकर उसका अनुसरण करना पड़ता है।

6– **परम्पराओं का अभाव** – जहाँ ऐसी परम्परा है कि केन्द्रीय बैंक के मात्र संकेत से ही व्यापारिक बैंक तत्कालीन प्रभावी हो जाते हैं वहां तो साख नियन्त्रण सहज कार्यशील हो जाती है पर जहॉ यह परम्परा नहीं है, वहॉ कठिनाइयां आने लगती है।

7– **साख के अंतिम उपयोग पर नियन्त्रण में कठिनाई**– केन्द्रीय बैंक चाहे भी तो सट्टा कार्यों के लिये ऋण पर रोक नहीं लगा पाती। क्योंकि बैकों के ग्राहक व्यावसायिक उद्देश्य से ऋण लेकर उसको सट्टा कार्य में लगा सकते है। ऐसे में कन्द्रीय बैंक नियन्त्रण कैसे लगा पायेगा और साख नियन्त्रण का उद्देश्य व्यर्थ हो जायेगा।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि यदि कन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण का पर्याप्त अधिकार प्राप्त हों और बैंकिंग व्यवस्था संगठित एवं विकसित हो तो उसके द्वारा किये गये प्रयोग एवं नीति पालन से निश्चित रूप से कुशलतापूर्वक उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी। इसके लिये पूंजी बाजार एवं मुद्रा बाजार का सहयोग भी आवश्यक है।

## 12.7 सारांश –

केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों में साख नियन्त्रण का कार्य व्यापारिक बैंक की साख निर्माण शक्ति को नियन्त्रित करता है। इसके माध्यम से केन्द्रीय बैंक देश की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने का प्रयास करता है। आज की आधुनिक विचारधारा के अर्न्तगत दोनों विनिमय स्थिरता एवं मूल्य स्थिरता ही आवश्यक है और यह प्रयास किया जाता है कि साख नियन्त्रण के दोनो उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। साथ ही आय एवं रोजगार को उच्च स्तर पर स्थिरता प्राप्त करना भी हो गया। साख नियन्त्रण का उद्देश्य महज स्थिरता प्रदान करने के लिये वरन् आर्थिक विकास में सहायता करना भी होता है। साख का नियन्त्रण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि अर्थव्यवस्था में उचित विकास की दशाएं उत्पन्न हो सके।

साख नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक दो रीतियां अपनाता है। ये रीति परिमाणात्मक तथा गुणात्मक होती हैं। जहाँ एक और परिमाणात्मक अथवा मात्रात्मक विधियों का उद्देश्य साख की लागतें तथा मात्रा को नियन्त्रित किया जाना है वहीं गुणात्मक विधियां साख के प्रयोग और दिशा को नियन्त्रित करती हैं। परिमाणात्मक विधि के अर्न्तगत *बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएं, परिवर्तनशील कोषानुपात, एवं तरल कोषानुपात आते हैं तो दूसरी ओर* गुणात्मक विधि के अर्न्तगत *चयनात्मक साख नियन्त्रक, खुले बाजार की क्रियाएं, साख की राशनिंग, नैतिक दबाव, प्रचार एवं प्रत्यक्ष कार्यवाही* है।

साख नियन्त्रण में कई कठिनाइयां आती हैं। बैकिंग विकास पर्याप्त न होने के कारण साख नियन्त्रण में कठिनाई उत्पन्न होती है। केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैकों का वह परस्पर सहयोग नहीं मिल पाता जिस कारण साख नियन्त्रण विफल हो जाता है। उसका नियन्त्रण मात्र बैंक साख पर ही होता है जिस कारण साख पर नियन्त्रण पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। केन्द्रीय बैंक चाहे भी तो सट्टा कार्यों के लिये ऋण पर रोक नहीं लगा पाती। कुशलतापूर्वक उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूंजी बाजार एवं मुद्रा बाजार का सहयोग भी आवश्यक है।

## 12.8 शब्दावली–

| | |
|---|---|
| 1– आन्तरिक मूल्य और स्तर | Internal price level |
| 2– परिणात्मक | Quantitative |
| 3– संकुचन | Contraction |
| 4– मौद्रिक प्रबन्ध | monetary management |
| 5– अनुसूचित | Scheduled |
| 6– कार्यवाही | Action |
| 7– गुणात्मक नियन्त्रण | Qualitative control |

## 12.9 लघु उत्तरीय प्रष्न –

1– बैंक दर और बाजार दर का ..... सम्बन्ध है।

2– खुली बाजार प्रचालन में केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियां बेचने पर साख का ..... ..... होता है।

3– साख की राशनिंग परिणात्मक/गुणात्मक साख नियन्त्रण की विधि है।

4– खुले बाजार की प्रक्रिया का सफलता के लिये स्कन्ध विनिमय बाजार की आवश्यकता नहीं पड़ती (सही/गलत)।

5– तरल कोषानुपात व्यापारिक बैंकों द्वारा कुल सम्पत्ति का एक भाग तरल रूप में रखना

(अनिवार्य / वैकल्पिक) है।

**उत्तर**– 1– सीधा 2– संकुचन 3– गुणात्मक 4– गलत 5– अनिवार्य

## 12.10 संदर्भ सहित ग्रन्थ


1– सिघांई, जी. सी., जे पी मिश्रा एव के. पुल गुप्ता : अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा।

2– सेठी, टी. टी. : मुद्रा बैकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा।

3– झिंगन, एम. एल.: समष्टि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।


## 12.11 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. Mithani, D.M.( 2008)International Economics, Himalaya Publishing House.
2. Mithani, D. M. (1998), Modern Public Finance, Himalaya Publishing House. Mumbai.
3. Musgrave, R. A. and P. B. Musgrave (1976), Public Finance in Theory and Practice McGraw Hill, Kogakusha, Tokyo.
4. Agrawal, Deepak (2009), Money Banking, Public Finance & International Economics, Himalaya Publishing House.


## 12.12 निबन्धात्मक प्रश्न –

1– साख नियन्त्रण से क्या अभिप्राय है ? केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनायी गयी साख नियन्त्रण की प्रमुख विधियों को समझाइये।

2– साख नियन्त्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिये। तथा यह बताइये कि साख को नियन्त्रित करने में केन्द्रीय बैंक किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

3– केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रण रीतियों का वर्णन कीजिय। इनमें कौन सी रीति सर्वश्रेष्ठ है ?

# इकाई – 13 मुद्रा पूर्ति अवधारणा, अवयव एवं निर्धारक तत्व

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 मुद्रा पूर्ति की परिभाषा
13.4 मुद्रा पूर्ति की विभिन्न अवधारणाएं
13.4.1 परम्परावादी दृष्टिकोण
13.4.2 शिकागो या मौद्रिक सम्प्रदाय का दृष्टिकोण
13.4.3 गुर्ले तथा शॉ का दृष्टिकोण
13.4.4 केन्द्रीय बैंकिग या रैडक्लिफ दृष्टिकोण
13.5 भारत में मुद्रा पूर्ति के मापक
13.6 मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति
13.6.1 मुद्रा का प्रचलन वेग
13.6.2 मुद्रा का आय प्रचलन वेग
13.7 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व
13.7.1 आवश्यक रिर्जव अनुपात
13.7.2 बैंक कोषों का स्तर
13.7.3 जनता की करेन्सी तथा जमाएं रखने की इच्छा
13.7.4 उच्च शक्ति मुद्रा
13.7.5 अन्य कारक
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 लघु उत्तरीय प्रश्न
13.11 संदर्भ सहित ग्रन्थ
13.12 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची
13.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 13.1 प्रस्तावना :–

पिछली इकाइयों में हमने केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया। साथ ही केन्द्रीय बैंक का साख नियंत्रण के महत्वपूर्ण कार्य में विभिन्न विधियों का भी अवलोकन किया।

प्रस्तुत इकाई में हम मुद्रा की पूर्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे क्योंकि इसका अध्ययन न महज मौद्रिक सिद्धान्त को समझने के लिये वरन् व्यवहारिक रूप में मौद्रिक नीति तथा कुशल मौद्रिक प्रबन्धन की नीति निर्धारित करने के लिये भी आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में मुद्रा पूर्ति एवं मुद्रा स्टॉक के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये मुद्रा की पूर्ति में बैंक के महत्व का भी अवलोकन किया जायेगा। मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाने वाले साधनों में 'तरलता' का गुण होता है। विनिमय का माध्यम होने के कारण इसे तरल साधन की संज्ञा भी दी गयी है।

## 13.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि –

1– मुद्रा की पूर्ति की परिभाषा क्या है।
2– मुद्रा की पूर्ति की माप के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएं क्या है।
3– मुद्रा पूर्ति एवं मुद्रा स्टॉक में क्या अन्तर है।
4– मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से क्या तात्पर्य है।
5– मुद्रा का प्रचलन वेग से क्या तात्पर्य है।
6– मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्व क्या हैं।
7– बैंक मुद्रा अथवा साख मुद्रा का निर्माण कैसे किया जाता है।
8– भारत में मुद्रा के विभिन्न मापक क्या है।

## 13.3 मुद्रा की पूर्ति की परिभाषा (Meaning of Supply of Money) :–

मुद्रा की पूर्ति के अन्य पर्याय है – मुद्रा स्टॉक, मुद्रा का परिमाण आदि शब्द हैं। किसी भी समय पर मुद्रा की पूर्ति का अर्थ है – *अर्थव्यवस्था में विद्यमान मुद्रा का कुल परिमाण।* सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की वह मात्रा है जिसे एक देश की जनता वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने के लिये अपने पास रखती है।

## 13.4 धारणाएं (Approaches):–

मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में तीन भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं।

### 13.4.1 परम्परावादी दृष्टिकोण (Classical approach)–

प्रथम मत अत्यधिक प्रचलित मत माना जाता है जिसका सम्बन्ध परम्परागत एवं केन्द्रीय विचारधारा से है। इस मत के ही अनुसार मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। अतः मुद्रा की पूर्ति से आशय उस करेन्सी से है जो जनता के पास तथा कामर्शियल बैकों में मांग जमा के रूप में विद्यमान है। इन्हें चलन मुद्रा भी कहते हैं। यह मुद्रा की पूर्ति की वैधानिक स्थिति है। इसके साथ ही बैकों की मांग जमाएँ चैक के माध्यम से ही चलन मुद्रा की भांति उपयोग में लायी जाती है। अतएव ये जमाएँ भी मुद्रा की कुल पूर्ति में सम्मिलित की जाती हैं।

मुद्रा की पूर्ति = करेन्सी + बैंकों की कुल जमा

*Money Supply = Currency + Demand Deposit*

परन्तु मौद्रिक नीति की दृष्टि से यह दृष्टिकोण बहुत संकुचित दृष्टिकोण है क्योंकि यह ड मात्र विनिमय का माध्यम है।

### 13.4.2 शिकागो या मौद्रिक सम्प्रदाय का दृष्किटकोण (Chicago approach) :–

अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय के महान अर्थशास्त्री फ्रीडमैन ने मुद्रा की कुल पूर्ति के सम्बन्ध में व्यापक विचारधारा का समर्थन किया। इसे मौद्रिक सम्प्रदाय भी कहते हैं।

मुद्रा की पूर्ति पर फ्रीडमैन ने प्रस्तुत परिभाषा दी *"शब्दशः वे डालर जिन्हें लोग अपनी जेबों में लिये घूमते हैं अथवा जो उनके खातों में बैंकों में मांग जमा के रूप में और कामर्शियल बैकों के सावधि जमाओं के रूप में भी विद्यमान है।"*

ऊपर दी गयी परिभाषा परम्परावादी परिभाषा से ज्यादा व्यापक है क्योंकि इसमें करेन्सी एवं मांग जमा के साथ–साथ सावधि जमा को भी सम्मिलित किया गया है।

**मुद्रा की पूर्ति = करेन्सी+ मांग जमा+सावधि जमा**

इसे भारत में M3 से दर्शाया जाता है।

इस दृष्टिकोण को मौद्रिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझा जाता है परन्तु इसमें समय जमायें मुद्रा का पूर्ण तरल रूप नहीं हैं।

### 13.4.3 गुर्ले तथा शॉ का दृष्टिकोण (Gurle and Shaw approach)–

अपनी पुस्तक ***'Money in a journey of Finance"*** मुद्रा की पूर्ति का अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में उन सब वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिए जो उसके निकट प्रतिस्थापन हैं। जैसे समय जमा, बचत बैंक जमा, साख पत्र, शेयर बांड आदि।

इस दृष्टिकोण के अनुसार : **मुद्रा की पूर्ति = करेन्सी+ मांग जमा + सावधि जमा + बचत बैंक जमा + बॉड्स + ....**

***Money supply = Currency + Demand Deposit + Time Deposit + Saving Bank + Share + Bonds +.....***

इस दृष्टिकोण की यह कमी है कि ये न तो मुद्रा के विनिमय माध्यम का कार्य पूरा करता है और नही इतना विस्तृत क्षेत्र केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में होता है।

### 13.4.4 केन्द्रीय बैंकिग या रैडक्लिफ दृष्टिकोण (Central Banking or Radcliffe approach)

मौद्रिक प्रणाली की परीक्षा हेतु नियुक्त 1959 में रेडक्लिफ समिति द्वारा प्रस्तुत रिर्पोट ने मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

इस दृष्टिकोण के अनुसार " ***मुद्रा से अभिप्राय विभिन्न साधनों द्वारा दी गयी साख है।*** *(Money is the credit extended by a wide variety of sources)*

**मुद्रा की पूर्ति = करेन्सी. मांग जमा + समय जमा + बचत खाता जमा + शेयर + बॉड्स + प्रतिभूतियां.+ असंगठित क्षेत्र से साख ।**

***Money supply = Currency + Demand deposit + Time deposits + Credit from unorganized sector.***

**उचित दृष्टिकोण :–**

ऊपर दिये गये विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र की अपेक्षा सामान्य रूप से करेन्सी तथा मांग जमा को

ही शामिल तथा मांग पत्र जमा को ही शामिल किया जाना चाहिए और बचतों तथा जमाओं को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

**मुद्रा की पूर्ति = करेन्सी + सिक्के + नोट + मांग जमा**

## 13.5 भारत में मुद्रा पूर्ति के मापक (Measures of Money Supply in India) :–

मुद्रा पूर्ति की द्वितीय कार्यकारी दल (Second working group on Money supply) की सिफारिशों के आधार पर भारतीय रिजर्व बैंक भारत में मुद्रा की पूर्ति का आकलन चार संघटकों की सहायता से करता है–

$M_1$ = जनता के पास मुद्रा (करेन्सी नोट, सिक्के) + बैंक की मांग जमा, चालू तथा बचत बैंक खाते पर

$M_2 = M_1$ + डाकखाने की बचत बैंक जमा

$M_3 = M_1$ + बैंकों की सावधि जमा

$M_4 = M_3$ + डाकखानों की सम्पूर्ण जमा

$M_1$ से $M_4$ की ओर बढ़ने पर मुद्रा के इन चार रूपों की तरलता क्रमशः घटती जाती है।

## 13.6 मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति (Effective supply of Money): –

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से अभिप्राय मुद्रा की उस मात्रा से है जो किसी समय परिचलन में रहती है। मुद्रा की कुल पूर्ति को अपने कार्य अथवा प्रभाव के आधार पर दो मुख्य भागों में बांटा गया है। एक भाग वह जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के पास " **आधार** " अथवा "**आरक्षित मुद्रा**" (Reserve Money) के रूप में रखा जाता है। यह परिचलन में प्रयुक्त नहीं किया जाता बल्कि कोषों में रखा जाता है। दूसरा भाग अधिक विस्तृत है जो परिचलन में रहता है। इसको विनिमय सम्बन्धी तथा अन्य भुगतानों के माध्यम के रूप में प्रयोग किये जाने के लिये जनता को उपलब्ध होती है।

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से आशय मुद्रा की कुल मात्रा के दूसरे भाग से है जो व्यय करने योग्य रूप में जनता को किसी समय प्राप्त होती है। मुद्रा के मूल्य निर्धारक तत्व के रूप में मुद्रा के प्रभावकारी पूर्ति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

### 13.6.1 मुद्रा का प्रचलन वेग (Velocity of Circulation of Money): –

मुद्रा स्टॉक होने के साथ–साथ उसका एक गुण यह भी है कि उसमें प्रवाह रहता है। मुद्रा की विभिन्न इकाईयॉ विनिमय की क्रिया में कई हाथों से बराबर गुजरती हैं और हर बार मुद्रा का कार्य करती हैं।

एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई औसतन जितने बार भुगतान करने के लिये प्रयोग की जाती है उसे मुद्रा का प्रचलन वेग (Velocity of Circulation of Money) कहते हैं।

किसी निश्चित अवधि में **मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति = प्रचलन में मुद्रा की मात्रा x मुद्रा का प्रचलन वेग।**

मुद्रा के प्रचलन वेग को ज्ञात इस **उदाहरण** से किया जा सकता है – यदि एक निश्चित अवधि में एक रूपये का नोट एक के बाद दूसरे हाथों में जाता है और हर बार विनिमय माध्यम का कार्य करता है तो उसका प्रचलन वेग 10 हुआ, इस अवधि में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति = 1 x 10 = 10 रूपये होगी।

### 13.6.2 मुद्रा का आय प्रचलन वेग (Income Velocity of Money) –

जब मुद्रा के प्रचलन वेग का राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्धित किया जाता है तो उसे मुद्रा का आय प्रचलन वेग कहा जाता है। ऐसे में मुद्रा के प्रयोग को केवल उन्हीं वस्तुओं व सेवाओं के क्रय–विक्रय में देखा जाता है जो किसी निश्चत अवधि में राष्ट्र की कुल वास्तविक आय (Real National Income) में सम्मिलित होती है। मुद्रा का आय प्रचलन वेग किसी वर्ष में मुद्रा की पूर्ति का उस वर्ष की राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। यह उस औसत संख्या को व्यक्त करता है, जितनी बार मुद्रा की इकाई एक निश्चित अवधि (एक वर्ष सामान्य रूप में ) अंतिम आय–प्राप्तकर्ताओं (ultimate income recipients) के नकद शेषों (Cash balance) में प्रविष्टि होती है अथवा इनसे बाहर निकलती है। इसे मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग (Circular Velocity of Money) भी कहा गया है।

## 13.7 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व (Determinants of Money Supply):–

मुद्रा पूर्ति के निर्धारण के संबंध में दो सिद्धान्त हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा पूर्ति को बैंक बहिर्जात रूप (exogenously) से निर्धारण करता है और दूसरे सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक क्रिया में होने वाले परिवर्तन अर्न्तजात रूप (endogenously) से मुद्रा पूर्ति को निर्धारित करते हैं जो लोगों की जमा की सापेक्षता में करेंसी धारण करने की इच्छा, ब्याज की दर इत्यादि को प्रभावित करती है।

अतः मुद्रा की पूर्ति निर्धारक बहिर्जात भी हैं और अन्तर्जात भी। यह प्रमुख निर्धारक तत्व निम्नलिखित हैं –

1. आवश्यक रिजर्व अनुपात (Required Reserve Ratio) ।
2. बैंक कोषों का स्तर (Level of Bank Reserves)।
3- जनता की करेंसी तथा जमाएं रखने की इच्छा (Public Desire to Hold Currency and Deposits)
4- उच्च स्तरीय मुद्रा (High powered money)

### 13.7.1 आवश्यक रिर्जव अनुपात (Required Reserve Ratio) –

यह मुद्रा पूर्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है।

- चालू तथा सावधि जमा देयताओं से नकदी का अनुपात (RR) कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक बैंक को इन देयताओं का कुछ प्रतिशत देश के केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप में रखना पड़ता है।
- आवश्यक कोष अनुपात में वृद्धि होने पर व्यापारिक बैंकों के पास मुद्रा की पूर्ति घट जाती है और जब आवश्यक कोष अनुपात घट जाता है तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है।
- भारत में मुद्रा पूर्ति निर्धारित करने के लिये कानून द्वारा एक अतिरिक्त कदम के रूप में वैधानिक रिजर्व अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) निश्चित किया गया है। यदि इसे बढ़ा दिया जाये तो इससे व्यावसायिक बैंकों को उधार देने के लिये मुद्रा पूर्ति कम हो जाती है। यदि इसको कम कर दिया जाय तो बैकों को उधार देने के लिये मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है।

### 13.7.2 बैंक कोषों का स्तर (Level of Bank reserves) –

बैंक कोषों के अन्तर्गत दो तत्व सम्मिलित रहते हैं :–

- व्यापारिक बैंक की केन्द्रीय बैंक के पास जमायें।

- व्यापारिक बैंकों की तिजोरियों में विद्यमान करेन्सी, नोट अथवा नकदी। इसे तरल कोषानुपात भी कहते हैं।

किसी देश का केन्द्रीय बैंक ही मुद्रा पूर्ति निर्धारित करने के लिए व्यापारिक बैंक की कोषों या तरल कोषानुपात को प्रभावित करते हैं । केन्द्रीय बैंक सभी व्यापारिक बैंकों के लिए यह आवश्यक कर देता है कि वे अपनी सावधि एवं मांग जमाओं दोनो का एक निश्चित प्रतिशत भाग आरक्षित के रूप में रखें। यही कानूनी, न्यूनतम अथवा आवश्यक रिर्जव है। आवश्यक रिजर्व अनुपात (RR) एवं जमाओं के स्तर (D) द्वारा आवश्यक रिजर्व निर्धारित होते हैं।

RRr = RR x D.

रिजर्व जितना अधिक होगा बैंक को उतने ही अधिक आवश्यक रिजर्व रखना होगा। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुद्रा पूर्ति निर्धारित करने के लिये अतिरिक्त रिजर्व (Excess Reserve ER) ही अधिक महत्वपूर्ण है।

ER = TR-RR ***(अतिरिक्त रिजर्व = कुल रिजर्व – आवश्यक रिजर्व)***

व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त रिजर्व ही उसकी जमा देयताओं के आकार को प्रभावित करते हैं। बैंक अपने अतिरिक्त रिजर्व के बराबर ही कर्ज देते हैं और अतिरिक्त रिजर्व मुद्रा पूर्ति का आवश्यक अंग है। किसी व्यापारिक बैंक की मुद्रा पूर्ति निर्धारित करने के लिये केन्द्रीय बैंक खुले बाजार परिचालन और बट्टा दर नीति अपनाकर उसके रिजर्वों को प्रभावित करता है।

व्यापारिक बैकों की आरक्षतियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव केवल तभी पड़ता है जब खुले बाजार परिचालन तथा बट्टा दर नीति एक दूसरे के पूरक हों।

### 13.7.3 जनता की करेन्सी तथा जमाएं रखने की इच्छा (Public Desire to Hold currency & Deposits) –

यदि लोगों की यह आदत बनी हुयी है कि वे अधिक जमा करते हैं एवं कम नकदी अपने पास रखते हैं तो मुद्रा पूर्ति में वृद्धि हो जायेगी। कारण यह है कि अधिक जमा का प्रयोग मुद्रा के निर्माण में प्रयुक्त हो जाता है। परन्तु यदि लोगों में बैंक में जमा करने की प्रवृत्ति नहीं है तो वे अपनी बचतों को अपने पास ही नकदी के रूप में रखना उचित समझते हैं तो बैकों द्वारा साख निर्माण अपेक्षाकृत कम होगा और मुद्रा की पूर्ति का स्तर भी नीचे होगा।

### 13.7.4 उच्च शक्ति मुद्रा (High Powered Money) –

उच्च शक्ति मुद्रा वह मुद्रा है जो व्यापारिक बैंकों के पास आरक्षितों और जनता के पास नोटों तथा सिक्कों के रूप में विद्यमान रहती है।

H = C + RR + ER

H = उच्च शक्ति मुद्रा
C = करेंसी
RR = आवश्यक रिजर्व
ER = अतिरिक्त रिजर्व

उच्च शक्ति मुद्रा बैंक जमाओं के विस्तार और मुद्रा पूर्ति के निर्माण का आधार है। यह बैक जमा के विस्तार और मुद्रा पूर्ति के निर्माण का आधार है। मुद्रा पूर्ति मौद्रिक आधार में परिवर्तन के साथ प्रत्यक्ष रूप से और करेन्सी और रिजर्व अनुपातों के साथ विपरीत परिवर्तित होती है।

### 13.7.5 अन्य कारक (Other factors) –

मुद्रा पूर्ति मौद्रिक अधिकारियों द्वारा निर्धारित केवल उच्चस्तरीय मुद्रा का ही फलन नहीं है, बल्कि ब्याज दरों, आय और अन्य कारकों का भी फलन है। व्यावसायिक क्रिया में परिवर्तन जनता और बैंकों के व्यवहार को परिवर्तित कर सकते हैं। अतः मुद्रापूर्ति केवल बहिर्जात नियंत्रण (exogenous controllable) मद ही नहीं बल्कि अंतर्जात निर्धारित मद भी है।

मुद्रा पूर्ति एवं बैंक साख एक दूसरे के साथ परोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। जब मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है तो उसका एक भाग जमाकर्ता की बचत प्रवृत्ति पर निर्भर करते हुये बैंकों में जमा कर दिया जाता है। यही बचतें बैकों की जमाएं बन जाती हैं। इसे आगे कानूनी रिजर्व आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद उधार देने में प्रयुक्त किया जाता है।

इस प्रकार मुद्रा पूर्ति में प्रत्येक वृद्धि के साथ बैंक साख बढ़ती है।

## 13.8 सारांश –

मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की वह मात्रा है जिसे एक देश की जनता वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने के लिये अपने पास रखती है। मुद्रा की पूर्ति से आशय उस करेन्सी से है जो जनता के पास तथा कामर्शियल बैकों में मांग जमा के रूप में विद्यमान है। सामान्य रूप से मुद्रा की पूर्ति से आशय करेन्सी तथा मांग जमा को ही शामिल तथा मांग पत्र जमा को ही शामिल किया जाना चाहिए और बचतों तथा जमाओं को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से अभिप्राय मुद्रा की उस मात्रा से है जो किसी समय परिचलन में रहती है।

मुद्रा की कुल पूर्ति को अपने कार्य अथवा प्रभाव के आधार पर दो मुख्य भागों में बांटा गया है। एक भाग वह जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के पास **'' आधार ''** अथवा **''आरक्षित मुद्रा''** के रूप में रखा जाता है। मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से आशय मुद्रा की कुल मात्रा के दूसरे भाग से है जो व्यय करने योग्य रूप में जनता को किसी समय प्राप्त होती है। मुद्रा के मूल्य निर्धारक तत्व के रूप में मुद्रा के प्रभावकारी पूर्ति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

मुद्रा स्टॉक होने के साथ–साथ उसका एक गुण यह भी है कि उसमें प्रवाह रहता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइंया विनिमय की क्रिया में कई हाथों से बराबर गुजरती हैं और हर बार मुद्रा का कार्य करती हैं। जब मुद्रा के प्रचलन वेग का राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्धित किया जाता है तो उसे मुद्रा का आय प्रचलन वेग कहा जाता है।

आवश्यक रिर्जव अनुपात मुद्रा पूर्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। किसी देश का केन्द्रीय बैंक ही मुद्रा पूर्ति निर्धारित करने के लिए व्यापारिक बैंक की कोषों या तरल कोषानुपात को प्रभावित करते हैं । व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त रिजर्व ही उसकी जमा देयताओं के आकार को प्रभावित करते हैं। बैंक अपने अतिरिक्त रिर्व के बराबर ही कर्ज देते हैं और अतिरिक्त रिजर्व मुद्रा पूर्ति का आवश्यक अंग है।यदि लोगों में बैंक में जमा करने की प्रवृत्ति नहीं है तो वे अपनी बचतों को अपने पास ही नकदी के रूप में रखना उचित समझते हैं तो बैकों द्वारा साख निर्माण अपेक्षाकृत कम होगा और मुद्रा की पूर्ति का स्तर भी नीचे होगा।

उच्च शक्ति मुद्रा वह मुद्रा है जो व्यापारिक बैंकों के पास आरक्षितों और जनता के पास नोटों तथा सिक्कों के रूप में विद्यमान रहती है। व्यावसायिक क्रिया में परिवर्तन जनता और बैंकों के व्यवहार को परिवर्तित कर सकते हैं। अतः मुद्रापूर्ति केवल बहिर्जात नियंत्रण मद ही नहीं बल्कि अंतर्जात निर्धारित मद भी है।

## 13.9 शब्दावली :–

1– न देने योग्य मुद्रा Non disposable Money

2– मौद्रिक सम्प्रदाय– अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री मौद्रिक सम्प्रदाय के कहे जाते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| 3– | सावधि जमा | काल जमा (time deposit) |
| 4– | वैधानिक नकद अनुपात | Statutory Liquidity ratio |
| 5– | उच्च शक्ति मुद्रा | High Powered Money (H+C+RR) |
| 6– | कुल मौद्रिक संसाधन | Aggregate Monetary resources |

## 13.10 लघु उत्तरीय प्रश्न –

1– मुद्रा की पूर्ति एवं मुद्रा स्टॉक में अंतर क्या है ?
2– मुद्रा की पूर्ति की माप के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाओं के नाम बताइये।
3– संकुचित मुद्रा कौन सी होती है।
4– भारत की किस कार्यकारी दल ने मुद्रा पूर्ति के चार संघटक बताये हैं ?
5– विस्तृत मुद्रा कौन सी होती है।
6– मुद्रा पूर्ति के चार निर्धारक तत्व कौन कौन से हैं।

## 13.11 संदर्भ सहित ग्रन्थ :–

1–सिहाई, जी. सी., जे पी मिश्रा एव के. पुल गुप्ता : अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा।
2–सेठी, टी. टी. : मुद्रा बैकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा।
3–झिंगन, एम. एल.: समष्टि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिरिकन, नई दिल्ली।

## 13.12 सहायक संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Mithani, D.M.( 2008)International Economics, Himalaya Publishing House.
2. Mithani, D. M. (1998), Modern Public Finance, Himalaya Publishing House. Mumbai.
3. Musgrave, R. A. and P. B. Musgrave (1976), Public Finance in Theory and Practice McGraw Hill, Kogakusha, Tokyo.
4. Agrawal, Deepak (2009), Money Banking, Public Finance & International Economics, Himalaya Publishing House.

## 13.13 निबन्धात्मक प्रश्न –

1– मुद्रा पूर्ति के विभिन्न अवयवों की व्याख्या कीजिए ?
2– मुद्रा पूर्ति के निर्धारकों की विवेचना कीजिये ?
3– भारत में मुद्रा पूर्ति के विभिन्न कार्यों की व्याख्या कीजिए ?

# इकाई – 14 राजस्व का आशय, विषय–वस्तु एवं निजी वस्तुएँ और सार्वजनिक वस्तुएँ

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 राजस्व का आशय
14.3.1 राजस्व का अर्थ
14.3.2 राजस्व की परिभाषाएँ
14.4 राजस्व की विषय–वस्तु
14.5 निजी वस्तुओं का अर्थ
14.6 सार्वजनिक वस्तुओं का अर्थ
14.7 सार्वजनिक एवं निजी वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन
14.8 सारांश
14.9 शब्दावली
14.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
14.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
14.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 14.1 प्रस्तावना (Introduction)

सामान्यतया राजस्व का तात्पर्य, लोक सत्ताओं के आय तथा व्यय से संबंधित होता है। आधुनिक काल में, विशेषकर कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण राजस्व के कार्य क्षेत्र में अत्याधिक विस्तार हुआ है। राजस्व की प्रकृति भी अर्थशास्त्र की भाँति विज्ञान तथा कला दोनों प्रकार की होती है। राजस्व की अवधारणा समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही हैं। सन् 1991 में अपनाई गयी नई आर्थिक नीति के वैश्वीकरण एवं उदारीकरण ने राज्य की भूमिकाओं को नये सिरे से परिभाषित किया है, जिसके फलस्वरूप राजस्व की अवधारणा भी प्रभावित हुई हैं। वर्तमान में, राज्य का कार्यक्षेत्र सुरक्षा एवं कानून व्यवस्था तक सीमित ना रहकर शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सामाजिक सुरक्षा, बैंकिग, वित्त आदि सभी क्षेत्रों तक फैल चुका है।

प्रस्तुत इकाई में राजस्व का अर्थ, परिभाषा व विषय–वस्तु के बारे में बताया जायेगा और इसके साथ–साथ निजी व सार्वजनिक वस्तुओं का अर्थ व आधारभूत अंतर को बताया जायेगा। जिससे की आप, किसी देश की अर्थव्यवस्था के उस पहलू को भी जान सकेंगे जो विभिन्न स्तर की सरकारों के आय, व्यय तथा उनके प्रशासन का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

## 14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त् आपको यह ज्ञात हो सकेगा कि–

- ✓ लोक वित्त की अवधारणाओं से क्या तात्पर्य है ?
- ✓ लोक वित्त की प्रमुख अवधारणायें कौन–कौन सी हैं ?
- ✓ लोक वित्त की अवधारणाओं को विकसित करने वाले अर्थशास्त्री कौन रहे हैं ?
- ✓ लोक वित्त की परिभाषाओं व सिद्धान्तों के निर्माण तथा विकास में लोक वित्त की अवधारणाओं की क्या भूमिका रही है ?
- ✓ लोक वित्त की विषय वस्तु एवं अवधारणायें किस प्रकार से संबंधित हैं ?

## 14.3 राजस्व का आशय

अतः राजस्व के आशय को समझने के लिए, पहले हमें इसके अर्थ को समझना होगा व यह जानना होगा कि विभिन्न अर्थशास्त्री राजस्व को किस प्रकार परिभाषित करते है। परम्परागत् तौर पर राजस्व को लोक वित्त भी कहते हैं। राजस्व की अवधारणाओं में समय के साथ–साथ परिवर्तन होता आया है। इसका कारण यह है कि राजस्व के विषय क्षेत्र में समय के अनुसार व्यापक परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन समय में राजस्व का क्षेत्र अत्यधिक सीमित था परन्तु वर्तमान समय में विशेषकर कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात् राज्य को मात्र सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था तक सीमित न रहते हुए स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, नागरिक सुविधायें जैसे जल, विद्युत आपूर्ति आदि कल्याणकारी कार्य करने होते हैं।

भारत जैसे देशों में जहाँ कि आर्थिक नियोजन फलस्वरूप जन्य नियोजित विकास की प्रक्रिया में राज्य द्वारा प्रमुख रूप से विकास कार्यों में सक्रिय तथा प्रभावी भूमिका निभायी हैं एवं विभिन्न सरकारों द्वारा राजस्व के सार्वजनिक निवेश, सार्वजनिक ऋण तथा राजकोषीय नीतियों से संबंधित विभिन्न अवधारणाओं का प्रयोग नियोजन एवं विकास प्रक्रियाओं में किया गया है। वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के दौर में राज्य की भूमिका पुर्नपरिभाषित हुई है। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया में जहाँ बाजार प्रभावी भूमिका निभा रहा है वहीं राज्य की भूमिका में भी परिवर्तन आया है। राज्य अब नियन्त्रक की नहीं अपितु

नियामक की भूमिका में आ गया है। उपरोक्त के कारण राजस्व की अवधारणाओं को एक नवीन दिशा मिली है।

### 14.3.1 राजस्व का अर्थ

राजस्व शब्द संस्कृत भाषा के दो अक्षरों– 'राजन्+स्व' से मिलकर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है– राजा का धन। राजस्व के अन्तर्गत राज्य के वित्त सम्बन्धी जैसे– आय का एकत्रीकरण, सार्वजनिक व्यय तथा ऋण–सम्बन्धी सभी क्रियायें का अध्ययन किया जाता है। राजस्व का यह पहलू ध्यान देने योग्य है कि राजस्व शास्त्र के अन्तर्गत जनता के वित्त का नहीं बल्कि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं, राज्य या फिर राज्य सरकारो की वित्तीय व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् सार्वजनिक सत्ताओं के आय व व्यय सम्बन्धी कार्यों के अध्ययन को ही राजस्व कहा जाता है।

### 14.3.2 राजस्व की परिभाषाएँ

अन्य आर्थिक विषयों की तरह ही राजस्व शास्त्र को परिभाषित करना कठिन कार्य है। इसकी कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि राजस्व निरंतर एक गतिशील विषय रहा है क्योकि सरकार के कार्य क्षेत्र और उत्तरदायित्वों में वृद्धि होने के साथ–साथ इस विषय की प्रकृति और कार्य क्षेत्र में परिवर्तन लगातार होता रहा है।

विभिन्न विद्वानों ने राजस्व को अलग–अलग प्रकार से परिभाषित किया है। जोकि इस प्रकार है –

- **डॉल्टन** (Dalton) **के अनुसार** *''राजस्व के अन्तर्गत लोक सत्ताओं के आय–व्यय तथा उसके पारस्परिक समायोजन और समन्वय का अध्ययन किया जाता है। (Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted to the other.)''*
- **फिण्डले शिराज** (Findlay Shiras) **के अनुसार** *''लोक सत्ता द्वारा साधनों की प्राप्ति एवं व्यय से सम्बन्धित सिद्धान्तों का अध्ययन ही राजस्व कहलाता है। (The study of the principle underlying the spending and raising of fund by public authorities.)''*
- **बेस्टेबल** (Bastable) **के अनुसार** *''राजस्व लोक सत्ताओं के आय और व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा वित्तीय और प्रशासन नियन्त्रण से संबंधित है। (Public Finance deals with the expenditure and income of public authorities of the state and their mutual relation as also with the financial administration and control.)''*
- **रिचार्ड मसग्रेव** (Richard Musgrave) **के अनुसार** *''राजस्व सार्वजनिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तों का अध्ययन है या और स्पष्ट रूप मे, आर्थिक नीति के उन पहलुओं का अध्ययन है जो सार्वजनिक बजट की क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। (...an investigation into the principles of public economy, move precisely into those aspects of economic policy that arise in the operations of the public budget)''*

➢ **जे0 के0 मेहता** (J.K. Metha) **के अनुसार** *"राजस्व राज्य के मौद्रिक तथा साख सम्बन्धी साधनों का अध्ययन है। (Public Finance then constitutes a study of the monetary and credit resources of the state.)"*

विभिन्न विद्वानों ने राजस्व को विभिन्न तरिकों से परिभाषित किया है। विश्लेषण के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि राजस्व का तात्पर्य सार्वजनिक सत्ताओं के आय और व्यय सम्बन्धी विषयों से है। यद्यपि वर्तमान समय में राजस्व की अवधारणायें अधिक व्यापक हो गयी हैं तथा इसके अन्तर्गत अध्ययन सार्वजनिक सत्ताओं जैसे केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन सत्ताओं के आय व्यय से संबंधित ही नहीं किया जाता अपितु वित्तीय प्रशासन, राजकोषीय नीतियों एवं वित्तीय नियन्त्रण के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। राजस्व के अन्तर्गत सरकारों की वित्त व्यवस्था से संबंधित सिद्धान्तों, समस्याओं, नीतियों, प्रक्रियाओं एवं समायोजन व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है।

सरल शब्दो में कहा जाये तो राजस्व में यह अध्ययन किया जाता है कि सार्वजनिक अधिकारी किस प्रकार से सार्वजनिक आय प्राप्त करते है और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों व सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक आय को किस प्रकार व्यय करते है।

## 14.4 राजस्व की विषय–वस्तु

इस तरह लोक वित्त अर्थशास्त्र का वह भाग है जो किसी देश की व्यवस्था तथा उससे सम्बन्धित प्रशासनिक एंव अन्य समस्याओं का अध्ययन क्रम को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1– सार्वजनिक व्यय
2– सार्वजनिक आय
3– सार्वजनिक ऋण
4– वित्तिय प्रशासन
5– राजकोषीय या वित्तिय– नीति

**1.सार्वजनिक व्यय** (Public Expenditure) लोक वित्त के इस अंग के अन्तर्गत यह अध्ययन कियाा जाता है कि सार्वजनिक व्यय किन–किन मदो पर करना आवश्यक है? व्यय का स्वरुप तथा परिणाम क्या हो? व्यय करते समय किन किन नियमों एंव सिद्धान्तो का पालन किया जाए? इन व्ययों का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है इससे सम्बन्धित कठिनाईया क्या है? तथा उन्हे किस प्रकार दूर किया जा सकतस है।

राजकीय अथवा सार्वजनिक व्यय का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। जन कल्याण के सभी का सार्वजनिक व्यय पर ही निर्भर करते है। सार्वजनिक व्यय की मदों तथा उन पर व्यय की जाने वाली धनराशि जिसके आधार पर उस देश की आर्थिक, सामाजिक एंव राजनैतिक नीतियो तथा स्थितियों की समीक्षा की जा सकती है।

**2. सार्वजनिक आय (Public Revennue)** इस अंग के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि सरकार अपनी आय किन किन स्त्रोतां से प्राप्त काती है। उसमें आय के विभिन्न स्त्रोतों का विश्लेषण वर्गीकरण, साधनों की गतिशीलता तथ उनके सापेक्षिक महत्व एंव सिद्धान्त का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आय के इन स्त्रोतो का देश के उपभेग, उत्पादन ,वितरण,बचत तथा विनियोग पर क्या प्रभाव पड़ा है का भी अध्ययन किया जाता है।

**3. सार्वजनिक ऋण (Public Debt)** इस अंग के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि सरकारी ऋण क्यों और किस उद्देश्य हेतु लिए जाते है। राज्य किन सिद्धान्तों के आधार पर सरकारी ऋण प्राप्त करता है? तथा इन ऋणो का भुगता किस प्रकार किया जाता है। ऋणो पर क्या प्रभाव पड़ता है? सार्वजनिक ऋणो से सम्बन्धित विभिन्न समस्याएं क्या है? अल्पकालिन एंव दीर्घकालीन ऋाणो का सापेक्षित महत्व क्या है? इत्यादि।

**4. वित्तिय प्रशासन (Financial administration)** इस विभाग के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सरकार वित्तय क्रियाओं का प्रबन्ध किस प्रकार करती है? इसके अन्तर्गत विशेष रुप से यह अध्ययन किया जाता है। कि बजट किस प्रकार बनाया जाता है बजट बनाने के क्या उद्देश्य है। घाटे के बजट तथा आधिक्य के बजट का क्या महत्व है, इसके अतिरिक्त लेखों का अंकेक्षण करना भी इसके अन्तर्गत आता है। वित्तिय प्रशासन लोक वित्त का महत्वपर्ण विभाग है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात इसका महत्व काफी बढ़ गया है। प्रो0 बैस्टेबल पुस्तक तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक तक कि वह वित्तिय प्रशासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।

**5. राजकोषीय या वित्तिय– नीति (Fiscal policy)** लोक वित्त के एक भाग के रुप में राजकोषीय अथवा वित्तिय नीति के महत्व को आधुनिक अर्थशास्त्र ने स्वीकार किया है। स्थिरता के साथ आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए आज वित्तिय नीति का सहारा लिया जाता है। वित्तिय नीति के द्वारा देश में उत्पादत क्रियाओं को नियमित करके राष्ट्रीय आय के विवरण को न्यायपूर्ण बनाकर तथा कीमतो में स्थिरता लेकर आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

ठस तरह नियोजित आर्थिक विकास हेतु राजकोषीय नीति का प्रयोग एंव अध्ययन लोक वित्त की विषय वस्तु का एक प्रमुख अंग है।

## 14.5 निजी वस्तुओं का अर्थ

निजी वस्तुओ का तात्पर्य ऐसी वस्तुओ से होता है जिसका उत्पादन तथा उपभोग निजी तौर पर किया जा सके। निजी वस्तुओ की व्यवस्था में बाजार तंत्र निपुणता के साथ कार्य करता हैं। निजी वस्तुओं के उपभोग हेतु मूल्य का भुगतान करना पड़ता है। निजी वस्तुओं की विशेषतायें निम्न हैं –

1. निजी वस्तुओ का उपभोग प्रतियोगी होता है तथा एक व्यक्ति द्वारा निजी वस्तु के उपभोग का प्रभाव अन्य व्यक्तियों के लिये उस वस्तु की उपयोगिता तथा उपलब्धता पर इस प्रकार से पड़ता है कि उस वस्तु द्वारा प्रदत्त होने वाले लाभ की मात्रा में कमी आ जाती है। उदाहरण हेतु किसी कालोनी में किसी फ्लैट को किसी व्यक्ति द्वारा क्रय कर लेने से अन्य व्यक्तियो के लिये फ्लैट की उपलब्धता में कमी आ जाती है।
2. निजी वस्तुओं के लिये वर्जन एवं उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागू होता है। इसके सिद्धान्त के अनुसार वही व्यक्ति निजी वस्तु का उपभोग कर पाते है जिन्होने उस वस्तु के बाजार मूल्य का भुगतान किया हो। भुगतान न कर पाने वाले व्यक्ति निजी वस्तु के उपभोग से वंचित रह जाते है।
3. निजी वस्तुओ के उपभोक्ता का अधिमान स्वतः एवं स्वायत रूप से अभिव्यक्त होता है।
4. निजी वस्तुयें विभाज्य होती हैं तथा उनके द्वारा उत्पन्न लाभ निजी व्यक्तियों तक ही सीमित रहते है। निजी वस्तुयें केवल उसे क्रय करने वाले उपभोक्ता तक ही सीमित

रहती है। कुल मिलाकर निजी वस्तु का उद्देश्य व्यक्तिगत हितों की आपूर्ति तक ही सीमित रहता है।

5. निजी वस्तु द्वारा लाभ सामान्यतया आंतरिक होते है एवं उसी व्यक्ति तक सीमित रहते है जोकि निजी वस्तु हेतु भुगतान करता है।
6. अधिकांश निजी वस्तुओं की व्यवस्था बाजार तंत्र के माध्यम् से होती है यानि निजी वस्तुओं का आबंटन बाजार व्यवस्था के माध्यम से होता है। बाजार तंत्र तथा कीमत तंत्र निजी वस्तुओं के सन्दर्भ में सामान्यतया निपुणता से कार्य करते हैं। निजी वस्तुओं का सामान्यतया उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में जहॉ कि अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाता आया है निजी वस्तुओं का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में भी होता है। यद्यपि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया के तीव्र होने से भारत में भी अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में बाजार तथा निजी क्षेत्र मुख्य भूमिका निभाने लगे हैं।
7. निजी वस्तुओं की मॉग एक दिये गये मूल्य पर मॉग वक्रों के क्षैतिज योग द्वारा प्राप्त होती है यानि कुल बाजार मॉग विभिन्न उपभोक्ताओं की मॉगों का योग होती है। चित्र संख्या '14अ' में तीन उपभोक्ताओं A, B तथा C के मॉग वक्र क्रमशः $D_A$, $D_B$ तथा $D_C$ एवं OP कीमत पर उनके उपभोग क्रमशः OM, MN एवं NR हैं।

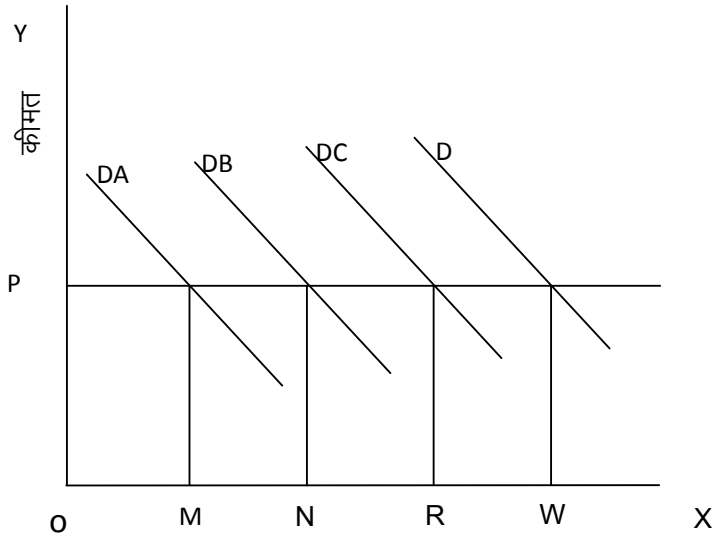


चित्र संख्या– 14 अ

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि कुल मॉग वक्र तीनों मॉग वक्रों के क्षैतिज योग से प्राप्त हुआ है।

कुल वस्तु की मात्रा = A का उपभोग + B का उपभोग + C का उपभोग

$$OW = OM + MN + NR$$

अतः चित्र '14अ' से स्पष्ट है कि यदि A का उपभोग में वृद्धि होती है तो OW को स्थिर बनाने हेतु दूसरे उपभोक्ताओं के उपभोग में कमी आयेगी। इससे यह प्रमाणित होता है कि निजी वस्तुओं का उपभोग प्रतियोगी होता है।

कुल मिलाकर मुख्यतया निजी वस्तुयें वह होती है जिनका उपभोग प्रतियोगी होता है एवं जिनमें वर्जन का सिद्धान्त लागू हो सकता है।

## 14.6 सार्वजनिक वस्तुओं का अर्थ

सार्वजनिक वस्तुयें वह होती हैं जिनका उत्पादन करने से वाह्य लाभ तथा बचतों का सृजन होता है तथा इनका उपयोग सामूहिक रूप से किया जाता है। यह वस्तुयें उपभोग में गैर प्रतियोगी होती है तथा इन वस्तुओं के सन्दर्भ में उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्णन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। सार्वजनिक वस्तुओं का आबंटन सामान्यतया राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम् से किया जाता है।

सैमुल्सन द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा 1959 में प्रकाशित ''**लोक व्यय की अवधारणा के शुद्ध सिद्धान्त**'' लेख में सार्वजनिक वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें उजागर की गयी, यह विशेषतायें उपयोग में गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होता है। जहाँ पर यह दोनों विशेषतायें पूर्ण होती हैं ऐसे वस्तु को शुद्ध सार्वजनिक वस्तु कहते हैं। सैमुल्सन द्वारा पुनः सार्वजनिक वस्तुओं को परिभाषित करते हुये इनको ''सामूहिक उपभोग की वस्तु'' के रूप में निर्धारित किया।

सार्वजनिक वस्तुओं के सामान्य उदाहरणों में रक्षा, प्रकाश स्तम्भ, स्ट्रीट लाईटिंग, पुल, पार्क, स्वच्छ वायु, पर्यावरणीय वस्तु एवं सूचना वस्तु आती है। सूचना वस्तु के अन्तर्गत अविष्कार एवं नवप्रर्वतन, तकनीकी विकास, लेखन आदि आते है। सूचना वस्तु से लाभ प्राप्ति हेतु कोई भी भुगतान नहीं देना चाहता है क्योंकि इस पर वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है तथा इसकी पुनरोत्पादन की लागत लगभग शून्य होती है।

**सार्वजनिक वस्तुओं पर आरोपित सिद्धान्त** – सार्वजनिक वस्तुओं की परिभाषा निर्धारित करने में मुख्यतया जो सिद्धान्त आरोपित होते है उनका विश्लेषण निम्नवत् है –

- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं के निर्धारण में उपभोग का गैर प्रतियोगी होना मुख्य लक्षण है। इसके अनुसार यदि सार्वजनिक वस्तु का उपभोग किसी एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो इसका प्रभाव अन्य व्यक्ति के लाभों पर नहीं पड़ता है। उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक पुल या पार्क किसी व्यक्ति के जाने न जाने से अन्य व्यक्तियों हेतु पुल या पार्क की सुविधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
- **उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन सिद्धान्त** – बाजार में क्रय विक्रय की प्रक्रिया द्वारा उपभोक्ता को पृथक किया जा सकता है । सार्वजनिक वस्तुओं हेतु उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। एक व्यक्ति को सार्वजनिक वस्तु की आपूर्ति होते ही इसके लाभ तुरन्त एवं एक साथ समाज के सभी व्याक्तियों पर पहुॅच जाते है। सार्वजनिक वस्तु के लाभों से किसी को वचिंत नहीं किया जा सकता है चाहे उसने उस वस्तु का भुगतान किया या नहीं किया हो। जैसे पर्यावरण एवं प्रदूषण सुधार कार्यक्रमों का लाभ समाज के सभी व्यक्तियों तक अपने आप पहुॅच जाते है तथा किसी को भी इसके लाभों से वंचित नहीं किया जा सकता है।
- **बाह्य बचतों का निर्माण** – सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन से समाज हेतु बाह्य बचतों का निर्माण होता है। बाह्य बचते समाज हेतु लाभों को उत्पन्न करती हैं।

बाह्य बचतों के प्रभाव से सामाजिक लागतो एवं निजी लागतों में अन्तर आ जाता है। इस दशा में सीमांत सामाजिक लागत सीमांत निजी लागत से कम हो जाती है। बाह्य बचतें उत्पादन की प्रक्रिया में धनात्मक बहिर्भाविता के कारण से उत्पन्न होती सामाजिक लागतों को निम्न सूत्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है –

सामाजिक लागत = निजी लागत – बाह्य बचत

बाह्य बचतों का निर्माण जितना अधिक होगा सामाजिक लागत उतनी कम तथा सामजिक लाभ उतना ही अधिक हो जायेगा। बहिर्भाविता के कारण से बाह्य बचतों के प्रभावों के कारण से लागत तथा लाभ का ऑकलन कीमत तंत्र के माध्यम् से नहीं हो पाता है जिससे बाजार तंत्र सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में हो जाता है।

- **प्रकट अधिमान** – उपभोक्ता की स्वतः अधिमान की अभिव्यक्ति पर बाजार में वस्तु की मॉग एवं कीमत निर्धारित होती है। सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में यह अधिमान की अभिव्यक्ति स्वतः नहीं होती है यह अभिव्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित की जाती है।
- **अविभाज्य लाभ** – सार्वजनिक वस्तुओं द्वारा उत्पन्न लाभ सार्वजनिक एवं सामूहिक होते है इन लाभों का विभाजन तथा प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में ऑकलन नहीं किया जा सकता है। उदाहरण हेतु समाज में प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा में व्यय का लाभ मिलता हैं परन्तु यह निर्धारित करना असंभव है कि किसी व्यक्ति को सुरक्षा व्यवस्था का आधा लाभ मिले और किसी को तिहाई लाभ मिले। अतः लाभ के अविभाजित होने पर कीमत निर्धारण कर पाना संभव नहीं हो पाता है।
- **निशुल्क सवार समस्या** – सार्वजनिक वस्तुओं के लाभों से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है चाहे वह उसके लाभों के लिये भुगतान करें या न करें। अतः ऐसी दशा में सार्वजनिक वस्तुओ का यह गुण उपभोक्ताओं हेतु सार्वजनिक वस्तुओं के उनमुक्त विदोहन हेतु प्रेरित करता है। यानि प्रत्येक व्यक्ति लाभ में हिस्सेदारी तो उठने हेतु प्रेरित होता है परन्तु इसके लिये वह त्याग में भागीदारी नहीं करता है। उदाहरण के तौर पर पर्यावरण प्रदूषण पर नियन्त्रण से सभी को स्वतः लाभ प्राप्त हो जाते है।

अतः निशुल्क सवार प्रवृत्ति व्यक्ति को प्रेरित करती है कि वह सार्वजनिक वस्तु के लिये भुगतान में हिस्सेदारी न करें। इसी समस्या का परिणाम सार्वजनिक एवं प्राकृतिक संसाधनों के अति दोहन तथा प्रदूषण के रूप में सामने आ रहा है। जैसे भूमिगत जल का लाभ हर व्यक्ति को बगैर इसके संरक्षण में प्रयास किये बिना उपलब्ध है जिसके कारण इसका अति एवं कुदोहन हो रहा है।

- **बाजार असफलता** – सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में कीमत तंत्र निपुणता से कार्य नहीं कर पाता है जिसके कारण बाजार सार्वजनिक वस्तुओं का समुचित तौर पर आंबटन नहीं कर पाता है। बाजार असफलता हेतु सार्वजनिक वस्तुओं की निम्न विशेषतायें उत्तरदायी होती है –
  - ➢ सार्वजनिक वस्तुओं का गैर प्रतियोगी तथा इसके लाभों का अविभाज्य होना।
  - ➢ बहिर्भाविता या बाह्य बचतों के कारण सीमांत सामाजिक लागत एवं सीमांत निजी लागत में अतंर होना।
  - ➢ बाजार में उपभोक्ता के अधिमान की स्वतः अभिव्यक्ति न होना।

➢ उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्णन के सिद्धान्त के लागू न हो पाने की दशा में यह होता है कि जो व्यक्ति सार्वजनिक वस्तु हेतु भुगतान नहीं करता है उसे उस वस्तु के लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता है।

- **लम्बीय योग द्वारा सामूहिक माँग वक्र का निर्धारण –** सार्वजनिक वस्तु उपभोग एवं लाभ हेतु प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से उपलब्ध रहती है। अतः यदि दो उपभोक्ता A तथा B किसी सार्वजनिक वस्तु का उपभोग करते है तो

सार्वजनिक वस्तु की मात्रा = A का उपभोग = B का उपभोग

चित्र संख्या 14ब में A तथा B उपभोक्ता हेतु सार्वजनिक वस्तुओं के मॉग वक्र क्रमशः $D_ad_a$ एवं $D_bd_b$ हैं। दोनों उपभोक्ता के मांग वक्र उनके सीमांत लाभ वक्र के माध्यम से निर्धारित किये गये है। दोनों उपभोक्ता सार्वजनिक वस्तु से प्राप्त सीमांत लाभ के अनुरूप भुगतान करना चाहते है।

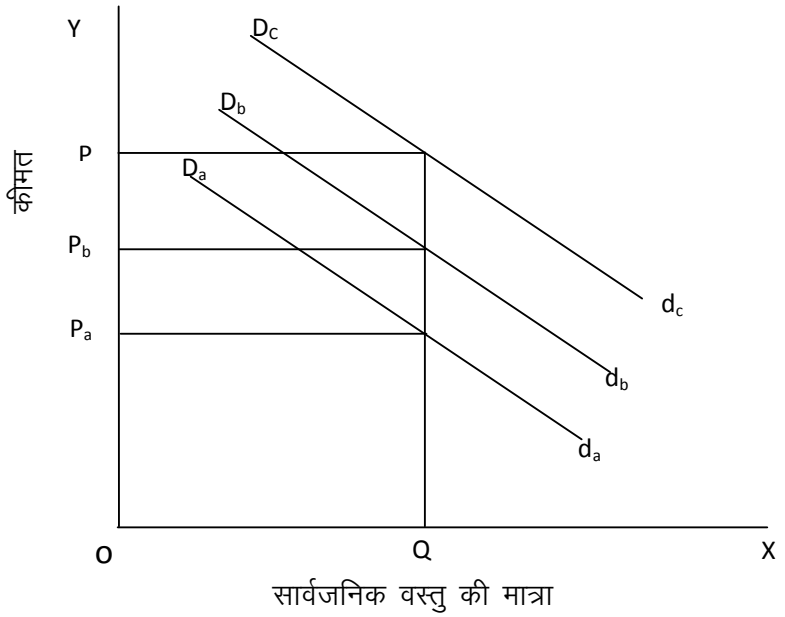


चित्र संख्या– 14ब

उपरोक्त चित्र म जहॉ OQ मात्रा हेतु A द्वारा $OP_a$ का भुगतान किया जाता है व B द्वारा $OP_b$ का भुगतान किया जाता है। यानि कुल OQ मात्रा हेतु दोनों के द्वारा $OP = OP_a + OP_b$, का भुगतान किया जाता है जिसे दोनों के लम्बीय अथवा उर्ध्वाधर योग द्वारा ज्ञात किया गया है।

**सार्वजनिक वस्तुओं की विशेषतायें –** सार्वजनिक वस्तुओं हेतु उपरोक्त वर्णित नियम तथा सिद्धान्तों से सार्वजनिक वस्तुओं की निम्न विशेषतायें उभरकर सामने आती है–

- सार्वजनिक वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी होता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं पर वर्णन एवं उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु नहीं होता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं के अधिमानों की अभिव्यक्ति स्वतः न होकर समाज द्वारा निर्धारित की जाती है।

- सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग एवं लाभ हेतु समाज में सभी के लिये समान मात्रा में उपलब्ध रहती है।
- सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग सामूहिक तौर पर किया जाता है तथा वस्तुओं की आपूर्ति से सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है।
- सार्वजनिक वस्तुओ द्वारा वाह्य बचतों के माध्यम् से समाज हेतु लाभ निर्मित होते है। सार्वजनिक वस्तुओं द्वारा उत्पन्न लाभ अविभाज्य होते है।
- सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में बाजार व्यवस्था तथा कीमत तंत्र असफल रहते है।
- सार्वजनिक वस्तुओं की मॉग विभन्न व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की मॉगों के लम्बीय या उर्ध्वाधर योग से प्राप्त होती है।
- सार्वजनिक वस्तुओं के लिये सीमांत सामाजिक लागत तथा सीमांत निजी लागत के मध्य अतंर आ जाता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में निशुल्क सवार समस्या के आत्मसात् होने के कारण बाजार एवं किसी तंत्र के माध्यम से सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन परेटो इष्टतम् के अनुकूल नहीं होगा।
- सार्वजनिक वस्तुओं का आबंटन एवं व्यवस्था में सामान्यतया बाजार व्यवस्था असफल रहती है अतः इनकी व्यवस्था राजकोषीय एवं बजटीय नीतियों के माध्यम से की जाती है।

**सार्वजनिक या सामाजिक वस्तुओं की व्यवस्था –** सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था से तात्पर्य सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन या सेवायें प्रदान करने से नहीं है अपितु इन वस्तुओं की चयन प्रक्रिया एवं भुगतान व्यवस्था से है। जहॉ तक चयन प्रक्रिया का प्रश्न है इससे तात्पर्य यह है कि किन–किन सार्वजनिक वस्तुओं को और कितनी मात्रा में समाज को उपलब्ध करायी जायें। उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति में सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में बाजार तंत्र असफल रहता है। अतः सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में आबंटनात्मक कार्य राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम से किया जाता है। कुल मिलाकर सार्वजनिक वस्तुओं के आबंटन के सम्बन्ध में राजकोषीय नीति का यह उद्देश्य होता है कि सार्वजनिक संसाधनों को विभन्न सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में किस प्रकार से आबंटित किया जाये जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके एवं समाज की कार्य कुशलता में वृद्धि हो सके। सरकार इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु विभन्न मदों जैसे सुरक्षा, प्रशासन, कानून–व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन आदि मदों पर बजट के माध्यम से धन का आबंटन करती है।

सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटनात्मक पहलू ना सिर्फ जटिल है अपितु अत्याधिक महत्व का है। भारत जैसे विकासशील एवं आय की असमानता वाले देश में इसकी जटिलता तथा चुनौती दोनों ही बढ़ जाते है। सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटन हेतु प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप भी करती है अर्थात सरकार का उत्पादन, विनिमेय वितरण एवं उपभोग आदि गतिविधियों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है । इसका एक उदाहरण भारत में सार्वजनिक उपभोग की आवश्यक वस्तुओं हेतु विशेषकर निर्धन वर्गो के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था है जिसमें सरकारी संस्थायें कीमत तथा उपभोग की मात्रा आदि को नियन्त्रित रखते हैं। सरकार राजकोषीय नीति में सार्वजनिक वस्तुओं के आंबटन एवं व्यवस्था के लिये अप्रत्यक्ष तौर–तरीकों जैसे सब्सिडी, विशिष्ट कर, उपकर,

फीस, लाईसेन्स आदि पर आधारित रणनीति को अपनाती है। यह समस्त् रणनीति सार्वजनिक वस्तुओं की प्रकृति एवं महत्व पर निर्भर करता है। अतः सार्वजनिक वस्तुओं के आंबटन एवं व्यवस्था के लिये निम्न रणनीतियों को अपनाया जा सकता है–

- **बल का प्रयोग** – बाजार असफलता की दशा में सरकारें विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु कानून के प्रयोग द्वारा अनिवार्य अंशदान हेतु लाभार्थियों को बाध्य कर सकती है ।
- **उत्पादन में भागीदारी** – सरकार सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम् से शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सार्वजनिक वस्तु एवं सेवाओं का उत्पादन सुनिश्चित कर सकती है । भारत में नियोजित विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया गया है ।
- **सामान्य करारोपण** – जिन वस्तुओं का प्रयोग पूर्णतया गैर प्रतियोगी है तथा जिन वस्तुओं के लिये उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन का सिद्धान्त लागु नहीं होता है। ऐसी दशा में सरकार सामान्य करों द्वारा इन वस्तुओं पर होने वाले व्यय की पूर्ति कर सकती हैं। इन करों में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों कर आते है यहॉ पर उल्लेखनीय है कि कर एक प्रकार के अनिवार्य भुगतान है जिसके एवज में करदाता को कोई भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं प्राप्त होता है। लेकिन इन करों से प्राप्त धन को राज्य समाज कल्याण हेतु प्रयोग करता है। इस प्रकार की सार्वजनिक वस्तुओं के अन्तर्गत रक्षा व्यवस्था आती है।
- **लाईसेन्स फीस एवं विशिष्ट कर** – जिन वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी है परन्तु जहॉ पर उपभोक्ताओं को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है वहॉ पर सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था एवं उन पर होने वाले व्यय के एवज सरकार लाईसेन्स फीस एवं विशिष्ट करों का प्रावधान कर सकती है। जैसे – वाहनो पर पथकर, पार्क में प्रवेश शुल्क, वाहनों पर सड़क कर, जलकर, भवन कर आदि।
- **कोटा, प्रशासित कीमतें एवं सब्सिडी** – जिन वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी होता है परन्तु उनमें उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु होता है ऐसी वस्तुओं की व्यवस्था सार्वजनिक कल्याण को देखते हुये सरकार आंशिक कीमत या आंशिक शुल्क वसूल करती है। भारत जैसे विकाशील देश में निर्धन वर्ग के कल्याण हेतु सरकार बहुत सी बाजार में उपलब्ध निजी वस्तुओं को सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अनुसार वितरित करती है जहॉ पर सरकार कोटा कीमत दोनों पर नियन्त्रण रखती है। कोटा निर्धारित कर सरकार आवश्यक वस्तु जैसे मिट्टी के तेल हेतु गैर प्रतियोगी स्वरूप निर्धारित करती है एवं सब्सिडीकृत कीमतों पर जन साधारण को वितरित करती है।
- **निजीकरण** – ऐसी सार्वजनिक उपयोग की वस्तुयें जोकि प्रतियोगी तो होती है परन्तु जिनके लाभ से जन सामान्य को वंचित नहीं किया जा सकता है यानि जो सार्वजनिक वस्तुओं की भाँति समाज हेतु समान रूप से उपयोगी होती है इनके अन्तर्गत साझा प्राकृतिक संसाधन जैसे कोयला, तेल, वन, मछलियॉ आदि आती हैं। इन संसाधनों की व्यवस्था हेतु सरकारें प्रतियोगी आधार पर निलामी के माध्यम से लाईसेन्स उपलब्ध करा सकती है।

लाईसेन्स फीस सामान्यतया सरकार को उन अवस्थाओं में प्राप्त होती है जबकि सरकारी अधिकारी स्वंय कोई कार्य या सेवा न करके अन्य व्यक्ति को उस कार्य को करने का अधिकार प्रदान करता है। लाईसेन्स प्रक्रिया के माध्यम् से सरकार का जन कल्याण तथा पर्यावरणीय हितो को ध्यान में रखकर ऐसे क्षेत्रों का नियमन कर सकती है।

- **शुल्क/ फीस–** सार्वजनिक हित की वर्जनीय सेवायें व वस्तुयें जो कि सार्वजनिक एवं सामान्य हित की होती है परन्तु जिनके लाभ से भुगतान न करने वालों को वंचित रखा जा सकता है यानि जिन वस्तु तथा सेवाओं में उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु होता है। ऐसी वस्तु तथा सेवाओं की व्यवस्था हेतु सरकार फीस की वसूली कर सकती है। फीस उस भुगतान को कहते हैं जो सरकार द्वारा सार्वजनिक हित में प्रदान की जाने वाली प्रत्येक आवर्ती सेवा की लागत को अदा करने के लिये दिया जाता है।
- **कीमत, किराया एवं क्रास सब्सिडी –** ऐसी वस्तुयें जोकि निजी वस्तुओं के समान प्रतियोगी होती है तथा जिनमें उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त भी लागु होता है परन्तु जिनके सार्वजनिक महत्व तथा आर्थिक विकास में योगदान को देखते हुये उनका प्रावधान सरकार द्वारा किया जाता है। उदाहरण हेतु भारत में रेल परिवहन को सरकार जनहित में रेल मंत्रालय के माध्यम से नियमन करता है। आम जनता हेतु रेल परिवहन को सस्ते मूल्य पर सुनिश्चित करने के लिये रेल मंत्रालय ऊँचें माल भाड़े तथा उच्च वर्ग पर मंहगें किराये के माध्यम से रेल यातायात व्यवस्था को सुनिश्चित करता है। इसी प्रकार सरकार सार्वजनिक महत्व की जन उपयोगी वस्तुओं को निर्धन तथा कमजोर वर्गो के लिये बाजार मूल्य से कम पर उपलब्ध कराती है। इसके लिये सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के माध्यम से सरकार प्रत्येक निर्धन व्यक्ति को आवश्यक वस्तुयें जैसे खाद्यान्न आदि सस्ते मूल्यों एवं निश्चित मात्रा में उपलब्ध कराती है।
- **गारण्टी –** बाजार असफलता की दशा में विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु योगदान करने वालों धन की सुरक्षा एवं उसकी पुर्नवापसी की गारण्टी प्रदान करती है। जिससे से सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था में योगदान करने वाले आश्वस्त हो जाते हैं।
- **कोसानियन समाद्यान–** रोनाल्ड कोसा ने सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था एवं भुगतान हेतु एक समाद्यान प्रस्तुत किया जो कि कोसानियन समाद्यान के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं से लाभ प्राप्त करने वाले समस्त लाभार्थी सार्वजनिक वस्तुओं व्यवस्था एवं भुगतान हेतु एक साझा संसाद्यनों का एक पूल तैयार करते हैं। जिससे सार्वजनिक वस्तुओं की विनिमेय लागत कम हो जाती है। जैसे हाउसिंग सोसाईटी के सदस्य सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था एवं भुगतान हेतु साझा प्रावद्यान करते हैं।
- **प्रशुल्क एवं किराया–** शुल्क फीस के माध्यम से सार्वजनिक वस्तु की व्यवस्था वहॉ सहज होती है जहॉ वह भुगतान कर्ता को मापनीय लाभ पहुॅचाती है। वास्तव में फीस का भूगतान सरकार की ओर से की जाने वाली

किसी व्यापारिक सेवा के लिये नहीं, वरन सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाओं हेतु किया जाता है। इन सेवाओं के लिये सरकार शुल्क के साथ–साथ अर्थ दंड का भी प्रावधान कर सकती है। तकनीकी प्रगति के कारण टेलीविजन प्रसारण, मोबाईल फोन सेवा, इंटरनेट सेवा आदि ऐसी सार्वजनिक उपयोग की सेवायें है जिन पर उपयोग एवं लाभ के अनुसार प्रशुल्क एवं किराया वसूल किया जा सकता है। उदाहरण के लिये टेलीविजन पर सेट टाप बाक्स एवं डिकोडर के माध्यम से किसी चैनल भुगतान प्राप्त कर लेते हैं।

## 14.7 सार्वजनिक एवं निजी वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन

सैमुल्सन द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा 1959 में प्रकाशित ''लोक व्यय की अवधारणा के शुद्ध सिद्धान्त'' लेख में सार्वजनिक वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें उजागर की गयी, यह विशेषतायें उपयोग में गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होता है। जहाँ पर यह दोनों विशेषतायें पूर्ण होती हैं ऐसे वस्तु को शुद्ध सार्वजनिक वस्तु कहते हैं। सैमुल्सन द्वारा पुनः सार्वजनिक वस्तुओं को परिभाषित करते हुये इनको ''सामूहिक उपभोग की वस्तु'' के रूप में निर्धारित किया।

सार्वजनिक वस्तुओं के विपरीत विशेषताओं वाली वस्तु को निजी वस्तु के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। निजी वस्तुयें उपभोग में प्रतियोगी होती है तथा इनके ऊपर वर्जन का सिद्धान्त लागु होता है। वास्तव में पूर्णतया निजी या सार्वजनिक वस्तुयें कम ही होती हैं। अधिकांश वस्तुओं में दोनो के गुणों का समावेश होता है।

**निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं में समानता** – यद्यपि निजी वस्तुओं की प्रकृति, विशेषतायें एवं उनके ऊपर आरोपित होने वाले सिद्धान्त लगभग विपरीत होते है। परन्तु दोनों वस्तुओं में कुछ समानतायें होती हैं जो कि निम्नवत् है –

- **मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि** – सार्वजनिक एवं निजी वस्तु दोनों का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं संतुष्टि का प्रयास करना है। यद्यपि दोनो में यह अन्तर है कि सार्वजनिक वस्तु सामूहिक तथा निजी वस्तु निजी रूप से संतुष्टि का प्रयास करती है।
- **अधिकतम संतुष्टि का प्रयास** – दोनों वस्तु के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि का प्रयास किया जाता है। यद्यपि सार्वजनिक वस्तु से जहॉ सामाजिक संतुष्टि को अधिकतम किया जाता है। वहीं निजी वस्तु से व्यक्तिगत संतुष्टि को अधिकतम करने का प्रयास किया जाता है।
- **राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान** – निजी तथा सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग से रोजगार निवेश तथा कल्याण में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती है।

**निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं में अन्तर** – सार्वजनिक तथा निजी वस्तुओं में निम्न प्रमुख अन्तर हैं –

- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तु का उपभोग गैर प्रतियोगी तथा निजी वस्तु का प्रतियोगी उपभोग होता है। सार्वजनिक वस्तु के किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग से अन्य व्यक्तियों के लाभ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जबकि निजी

वस्तु के उपभोग से अन्य उपभोक्ताओं हेतु उपलब्ध वस्तु की मात्रा पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

- **उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन सिद्धान्त** – सार्वजनिक वस्तु के लाभ से किसी को भी वंचित नहीं किया जा सकता है चाहे उपभोक्ता ने भुगतान किया या ना किया हो। उदाहरण हेतु रक्षा, प्रकाश स्तम्भ, स्ट्रीट लाईटिंग, शुद्ध वायु निवारण कार्यक्रम आदि के लाभ से वंचित किसी को भी नहीं किया जा सकता हैं। वहीं किसी वस्तु के सम्बन्ध में वर्जन के सिद्धान्त लागु होने के कारण भुगतान कर पाने की स्थिति में उपभोक्ता उपभोग से वंचित हो जाता है।
- **सामुहिक उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग सामूहिक तौर पर किया जाता है जबकि निजी वस्तुओं का उपभोग निजी तौर पर किया जाता है।
- **अधिमान की अभिव्यक्ति** – निजी वस्तुओं के बारे में उपभोक्ताओं के अधिमान स्वतः ही बाजार में अभिव्यवन्त हो जाते है। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं के अधिमानों की अभिव्यक्ति स्वतः नहीं होती है।
- **सार्वजनिक उद्देश्य** – सार्वजनिक वस्तुओं के उद्देश्य सार्वजनिक एवं सामाजिक कल्याण तथा उपभोग की पूर्ति करना है। जबकि निजी वस्तुओं के उद्देश्य निजी कल्याण की पूर्ति तक सीमित है।
- **लाभों का मापन** – निजी वस्तुओं के उपभोग से प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ हुआ है इसका ऑकलन तथा मापन संभव हैं। वहीं सार्वजनिक वस्तु के उपभोग से प्राप्त लाभों का मापन तथा ऑकलन करना है। इसका कारण यह भी है कि निजी वस्तुओं द्वारा प्राप्त लाभों को विभाजित किया जा सकता है परन्तु सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह लाभों को विभाजित नहीं किया जा सकता है। उदाहरण हेतु रक्षा व्यय से प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ मिलता है इसका ऑकलन कर पाना संभव नहीं है।
- **बाह्य बचत एवं लाभों का निर्माण** – निजी वस्तुओं के उपभोग तथा उत्पादन से आन्तरिक लाभों का ही निर्माण होता है। जबकि वाह्य बचतों का निर्माण करती हैं जिनसे समाज के लिये सामूहिक तौर पर ऐसे लाभ पैदा होते जिनके लिये समाज को भुगतान नहीं करना पड़ता है।
- **बाजार असफलता** – सार्वजनिक वस्तुओं के मूल्य निर्धारण तथा उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में बाजार तंत्र असफल रहता है। क्योंकि सार्वजनिक वस्तु गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होती है तथा इनके लाभों से किसी को वंचित किया जा सकता है। निजी वस्तुओं के सम्बन्ध में कीमत एवं बाजार तंत्र निपुणता तथा पूरी क्षमता के साथ कार्य करता है।
- **निशुल्क सवार समस्या** – यह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जोकि सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था से जुड़ी हुयी है। सार्वजनिक वस्तुओं के लाभों से उनको वंचित नहीं किया जा सकता है जो कि इसके लिये भुगतान नहीं कहते हैं। अतः इससे सार्वजनिक वस्तुओं के लाभ में हर कोई हिस्सेदारी चाहता है परन्तु इसके लागत में भागीदारी नहीं करना चाहता है। वहीं दूसरी ओर बाजार व्यवस्था के कारगर तौर पर कार्य करने से सामान्य रूप से निशुल्क सवार समस्या निजी वस्तुओं की व्यवस्था में सामने नहीं आती है।

- **माँग वक्र की अवधारणा** – निजी वस्तुओं की कुल मॉग दिये गये मूल्य पर क्षैतिज योग के द्वारा प्राप्त होती है जबकि सार्वजनिक वस्तुओं की मॉग विभिन्न उपभोक्ताओं द्वारा मॉगी गयी मात्राओं के लम्बीय योग द्वारा प्राप्त होती है।
- **वस्तुओं की व्यवस्था** – सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था अधिकांश रूप से राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम से की जाती है। वहीं निजी वस्तुओं की व्यवस्था हेतु बाजार तंत्र कारगर तरह से कार्य करता है।

## 14.8 सारांश

लोक वित्त की अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों के विकास में सदैव से ही सारी बहस राज्य तथा बाजार की भूमिकाओं के ही मध्य होती आयी है। निजी, सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं की प्रकृति, उद्देश्य तथा इनकी व्यवस्था में अंतर सरकार एवं बाजार की ही भूमिकाओं के माध्यम से निर्धारित होते है।

आर्थिक एवं तकनीकी विकास से जहॉ एक ओर सामाजिक एवं निजी आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ है वहीं दूसरी ओर इन वस्तुओं की प्रकृति तथा महत्व में भी सापेक्षिक अन्तर आया है। तकनीकी विकास, वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की प्रक्रिया ने बाजार की भूमिका को आज प्रभावी बना दिया है। ऐसे समय में भी सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं का महत्व और बढ़ गया है। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वस्तुओं से तात्पर्य सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित वस्तु नहीं है अपितु ऐसी वस्तु जो गैर प्रतियोगी, गैर वर्जनीय तथा सार्वजनिक एवं सामाजिक हितों की पूर्ति करने वाली है।

निजी, मेरिट तथा सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में अवधारणाओं, सिद्धान्तो तथा विशेषताओं के अध्ययन से निष्कर्ष तथा सामाजिक कल्याण की पूर्ति हेतु इन तीनों प्रकार की वस्तुओं की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। सार्वजनिक वस्तुओं तथा मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटनात्मक पहलू ना सिर्फ जटिल है अपितु अत्याधिक महत्व का है। भारत जैसे विकासशील एवं आय की असमानता वाले देश में इसकी जटिलता तथा चुनौती दोनों ही बढ़ जाते हैं। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कारगर बजटीय नीति की आवश्यकता है।

## 14.9 शब्दावली

**लाईसेन्स प्रणाली** – अर्थ व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों के नियमन तथा नियन्त्रण हेतु इस प्रणाली को अपनाया जाता है। जैसे भारत में औद्योगिक गतिविधियों के नियमन हेतु औद्योगिक लाईसेन्स की प्रणाली को अपनाया गया है।

**विशेष कर निर्धारण** – विशेष कर निर्धारण एक ऐसा अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त होने वाले विशेष लाभ के अनुपात में लगाया जाता है।

**क्रास सब्सिडी सहायता** – एक ही सेवा या वस्तु को सरकार निर्धन वर्गो के कल्याण या निजी विशिष्ट उद्देश्य के तौर पर सस्ते में उपलब्ध कराती है। यह प्रावधान सरकार अन्य उपभोक्ताओं को उसी वस्तु को अधिक कीमत पर उपलब्ध कराती है।

**आरोपित अधिमान** – जब सरकार उपभोक्ताओं को ऊपर विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किसी वस्तु विशेष का उपभोग में वृद्धि करने हेतु अधिमान को थोपकर आरोपित करती है तो उसे आरोपित अधिमान कहा जाता है।

**अवसर लागत** – किसी सीमित एवं अनेक वैकल्पिक प्रयोग में आने वाले साधन की अवसर लागत वह उत्पादन या लाभ का त्याग है जो किसी विशेष प्रयोजन की बजाय दूसरे श्रेष्ठतम् वैकल्पिक प्रयोग द्वारा प्राप्त हो सकता है।

**प्रत्यक्ष सब्सिडी** – सरकार द्वारा जब उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को सीधे बजट के माध्यम से सहायता प्रदान करती है तो उसे प्रत्यक्ष सब्सिडी के अन्तर्गत शामिल किया जाता है।

**अप्रत्यक्ष सब्सिडी** – जब सरकार उपभाक्ताओं तथा उत्पादकों को सहायता बजट के माध्यम से सीधे तौर पर न करके अन्य माध्यमों से जारी करती है तो ऐसी सहायता अप्रत्यक्ष सब्सिडी के अन्तर्गत आती है।

**आर्थिक कल्याण** – आर्थिक कल्याण सामान्य कल्याण का वह भाग है। जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुडा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।

**सामाजिक कल्याण** – वस्तु तथा सेवाओं के उपभोग से मनुष्य को संतुष्टि प्राप्ति होती जिस पर मनुष्य का कल्याण आधारित होता है। अतः समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों की संतुष्टि के योग को सामाजिक कल्याण कहते है। पेरेटो के अनुसार सामाजिक कल्याण तब होता है जबकि सामाजिक कल्याण में वृद्धि इस प्रकार से होती हो कि समाज के किसी भी व्यक्ति के कल्याण में कमी न हो।

## 14.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वजनिक वस्तु की अवधारण किस अर्थशास्त्री द्वारा प्रतिपादित की गयी है?
2. मेरिट वस्तुओं की अवधारणा किस अर्थशास्त्री द्वारा प्रतिपादित की गयी है?
3. किसी उपभोक्ता द्वारा सार्वजनिक वस्तु के उपभोग करने पर दूसरे उपभोक्ता के लाभ पर जब कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता हो तो सार्वजनिक वस्तु की ऐसी विशेषता को क्या कहा जाता है?
4. सार्वजनिक वस्तु के लाभों से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है। सार्वजनिक वस्तु की यह विशेषता किस सिद्धान्त का परिणाम होती है?
5. मेरिट वस्तुयें का अधिमान किसके द्वारा उपभोक्ताओं पर आरोपित होता है?
6. रक्षा एवं गली का प्रकाश किस प्रकार की वस्तुओं का उदाहरण है?
7. यदि मेरिट वस्तुओं को बाजार तथा निजी क्षेत्र के माध्यम से उत्पादित तथा वितरित किया जाये तो उपभोक्ताओं के उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ेगा?
8. बाजार व्यवस्था सार्वजनिक वस्तुओं के आबंटन किस प्रकार से कार्य करती है?
9. डिमेरिट वस्तुओं का बाजार द्वारा किस मात्रा में उत्पादन किया जाता है?
10. सामाजिक लागतों का स्तर सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ निजी लागतों की तुलना में किस स्तर पर होती है?
11. निजी वस्तुओं के अधिमान की अभिव्यक्ति बाजार में किस प्रकार से होती है?
12. निजी वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें कौन सी है?
13. सार्वजनिक वस्तुओं का मॉग वक्र व्यक्तिगत उपभोक्ताओं के मॉग वक्रों द्वारा किस प्रकार से निर्धारित होता है?

**उत्तरमाला** – 1. सैमुल्सन 2. मसग्रेव 3. गैर प्रतियोगी उपभोग
4. उपभोग में गैर वर्जनीय 5. सरकार 6. सार्वजनिक वस्तु
7. नकारात्मक 8. असफलता से
9. अति मात्राओं में 10. कम स्तर पर 11. स्वतः
12. उपभोग प्रतियोगी एवं वर्जनीय होना 13. लम्बीय योग से

## 14.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निजी वस्तुओं तथा सार्वजनिक वस्तुओं की मुख्य विशेषतायें समझाते हुये दोनों वस्तुओं में अंतरों को स्पष्ट कीजियें?
2. सार्वजनिक वस्तुओं के उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इन वस्तु की व्यवस्था पर चर्चा कीजियें?

## 14.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- सिंघई, जी0 सी0, मिश्रा, जे0 पी0, ''अर्थशास्त्र'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स (2012), आगरा ।
- त्यागी, बी0 पी0, ''लोकवित्त'' जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी (2004), मेरठ ।
- Basu Kaushik. *The Oxford companion to Economics in India*, Oxford University press (2007), New Delhi.
- Ahuja, H. L., *Advanced Economics Theory Microeconomic Analysis*, S. Chand & Company Ltd. (2004), New Delhi.

# इकाई 15 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त
15.4 सारांश
15.5 शब्दावली
15.6 लघु उत्तरीय प्रश्न
15.7 संदर्भ सहित ग्रन्थ
15.8 Selected Readings
15.9 निबन्धात्मक प्रश्न

## 15.1 प्रस्तावना :–

लोक वित्त के सिद्धान्तों का विकास लोक वित्त की विचारधाराओं एवं लोक वित्त की अवधारणाओं के माध्यम् से हुआ है। लोक वित्त के सिद्धान्तों से तात्पर्य लोक वित्त के मूलभूत नियमों से है जिसके द्वारा लोक वित्त की महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण होता है। लोक वित्त परम्परागत् विचारधारा ने इस अवधारणा को स्थापित किया सरकार को न्यूनतम् सरकारी व्यय करना चाहिए क्योंकि यह अनुत्पादक होता है। परन्तु कीन्स एवं डॉल्टन द्वारा प्राचीन विचारधारा का विरोध किया तथा सरकारी व्यय को महत्वपूर्ण एवं उत्पादक बताया।

आधुनिक समय में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्थापना के कारण लोक वित्त का महत्व अत्याधिक बढ़ गया है। लोक वित्त के इसी बढ़ते हुए महत्व के कारण ही अर्थशास्त्रियों द्वारा अधिकतम् सामाजिक कल्याण या अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है लोक वित्त के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो0 पीगू तथा प्रो0 डॉल्टन द्वारा किया गया। डॉल्टन का मत है कि ''कोई व्यय उत्पादक है या नहीं इसका मूल्यांकन उस व्यय की आर्थिक सामाजिक कल्याण की उत्पादकता से ज्ञात होती है।'' जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर किया गया व्यय प्रायः व्यक्तिगत् भोग विलासों पर किये जाने वाले व्यय की अपेक्षा अधिक उत्पादक तथा कल्याणकारी होते हैं तथा इन कार्यों को पूर्ण करने के लिये जो कर लगाये जाते हैं, वह सार्वजनिक हित की भावना से लगाये जाते हैं तथा इस प्रकार से समस्त कर बुरे नहीं होते हैं।

## 15.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि –

- ✓ कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्थापना के कारण क्या है।
- ✓ आधुनिक समय में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्थापना के कारण ।

## 15.3 अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage) :–

अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage) आजकल इस बात को विशेष महत्व दिया जाने लगा है कि राजस्व का उचित सिद्धान्त क्या होना चाहिए। राजस्व के अर्न्तगत सरकार आय व व्यय सम्बन्धी दो मुख्य कार्यो को करती है। इसलिए राजस्व का जो भी सिद्धान्त होगा वह यह बतायेगा कि सरकार की कितनी आय प्रप्त करनी चाहिए तथा कितना व्यय करना चाहिए। यहा यह कहा जा सकता है कि राजस्व का न्यायोचित सिद्धान्त वह होगा जिनके अनुसार राजकीय आय व व्यय से अधितम सामाजिक लाभ का नियम कहा है। उसके अनुसार '' यह नियम राजस्व के मूल में विद्यमान रहता है तथा राजस्व की सर्वोतम प्रणाली वह जिसमें राजकीय आय–व्यय सम्बन्धि कार्यो के फलस्वरूप अधिकतम लाभ होता है।

1. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का आधर सम–सीमान्त उपयोगिता नियम का तथा सम–सीमान्त उत्पादनशीलता नियम है जिस प्रकार एक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार खर्च करता है कि उसे प्रत्येक खर्च से लगभग समान सीमान्त उपयागिता मिलती रहे । तथा वह उत्पत्ति के विभिन्न साध्नों का उपय्रो इस प्रकार करता है कि उसे प्रत्येक

साधन से अधिकतम उत्तपति मिले ताकि कुल उतपत्ति अधिकतम हो सके । इसी प्रकार सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिए राज्य को भी विभिन्न मदो पर इसी प्रकार व्यय करना चाहिए कि प्रत्येक व्यय से समान सीमान्त उपयोगिता मिले और प्रत्येक साधन से इस प्रकार आय प्राप्त करनी चाहिए कि कुल आय अधिकतम हो जाये।

2. सिद्धान्त की व्याख्या – इस सिद्धान्त की महत्वपुर्ण व्याख्या डाल्टन के द्वारा की गयी है। उनके अनुसार ''राजस्व के मूल में एक बुनियादी सिद्धान्त होना चाहिए। इसे हम अधिकतम सामाजि लाभ काउ सिद्धान्त कह सकते है। राजस्व की समस्त क्रियाएँ एक प्रकार से समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग में क्रय शक्ति का हस्तान्तरण है। इस क्रय–शक्ति के हस्तान्तरण का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है। सिद्धान्त की स्पष्ट रू॰ से व्याख्या करते हुए डाल्टन ने लिखा है कि ''राजकीय व्यय प्रत्येक दिशा में उस सीमा तक बढ़ता रहना चाहिए जब तक कि इस व्यय से उत्पन होने वाला सन्तोष राज्य द्वारा लगाये गये करों से उत्पन्न हिोने वाले असन्तोष के बराबर न हो जाए। यह सीमा ही राजकीय आय और व्यय में वृद्धि करने की आदर्श सीमा हो सकती है।''
3. अधिकतम सामाजिक लाभ उसी दशा में प्राप्त हो सकता है जबकि सार्वजनिक आय (करारोपण) से होने वाला सामाजिक असन्तोष सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सन्तोष के बराबर न हो जाय। दूसरे शब्दों में जब तक सामाजिक त्याग सामाजिक सन्तोष के बराबर न हो जाये। सरकार के द्वारा सार्वजनिक कार्यो की पूर्ति के लिए समय समय पर लगाये जाते है। करो के लगाने से लोगों का त्याग बढने लगता है, उनकी क्रयशक्ति में कमी आने लगती है और उनके रहन सहन के स्तर में भी कमी आ जाती है। कुल मिलाकर हम इसे 'सीमान्त सामाजिक त्याग कह सकते है। सरकार आय प्राप्त होने वाली सामाजिक सुख–सुविधा को हम ''सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि कह सकते है। अतः राज्य को सार्वजनिक व्यय उसी सीमा तक बढ़ाने चाहिए जहाँ पर व्ययों से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता करारोपण के सीमान्त त्याग के बराबर न हो जाय। अधिकतम सामाजिक लाभ को तालिका 15.1 से स्पष्ट किया जा सकता है।

| कर व व्यय की राशि की इकाई | कर की प्रत्येक इकाई से होने वाला सामाजिक त्याग | सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक इकाई से होने वाली सामाजिक उपयोगिता |
|---|---|---|
| 1 | 50 | 95 |
| 2 | 55 | 85 |
| 3 | 60 | 75 |
| 4 | 65 | 65 |
| 5 | 70 | 55 |
| 6 | 75 | 45 |
| 7 | 80 | 35 |

उपयुक्त तालिका से स्पष्ट है कि ज्यो– ज्यो समाज मे कर भार बढ़ता है त्यों –त्यों सामाजिक त्याग में वृद्धि होती है। क्योंकि लोग पुराने कर भारों को तो थोड़े समय बाद भूल जाते है, परन्तु प्रत्येंक नये कर सीमान्त त्याग मे वृद्धि कर देता है। जहाँ तक सार्वजनिक व्यय का प्रशन है व्ययों के बढ़ जाने से बार –बार समान सुविधाएँ उपलब्ध

होती रहे तो उन सुविधाओं का समाज के लिए विशेष महन्व नहीं रह जाता है। उपयोगिता हास नियम की प्रवृति के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। तालिका के अनुसार अधिकतम सामाजिक लाभ चौथी इकाई पर लाभ और त्याग आपस में बराबर होता है। यहा इस बात को भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि करारोपण की प्रथम, द्वितीय और तृतीय इकाई के त्यो से व्यय की राशि से मिलने वाला लाभ अधिक है। अतः करारोपण उस बिन्दु तक किया जाये जहाँ पर त्याग व सन्तोष दोनों बराबर होते है। इस व्याख्या को रेखचित्र 15.1 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

4. रेखाचित्र 15.1 में OX अक्ष पर सार्वजनिक आय व व्यय को तथा वल अक्ष पर सामाजिक सीमान्त त्याग व सीमान्त उपयोगिता को प्रदर्शित किया गया है। SS रेखा त्याग को व UU रेखा सन्तुष्टि को व्यक्त करती है। ज्यों –ज्यों की दर में वृद्धि की जाती है। त्यों –त्यों SS रेखा बाये से दायी ओर ऊपर को उठती है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्यों –ज्यों कर भार बढ़ता है, त्यों–त्यों सामाजिक त्याग में वृद्धि होती है। इसके विपरीत ज्यों–ज्यों सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जाती है त्यों–त्यों UU रेखा से दाये की ओर गिरते हुए क्रम में होती है।इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यय में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि भी सामाजिक सन्तोष को बढ़ाने की अपेक्षा घटाती है। यहाँ सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है। SS वक्र UU वक्र को बिन्दु पर काटता है। स्पष्ट है कि बिन्दु M पर अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त हो रही है। बिन्दु M पर सार्वजनिक आय व सार्वजनिक व्यय का सन्तुलन हो चुका है। रेखाचित्र के अनुसार किसी भी सरकार को op मात्रा में आय प्राप्त करनी होगी और उतना ही op मात्रा में व्यय भी करना होगा। सरकार को आय प्राप्त करने व व्यय करने की क्रिया बिन्दु o से बिन्दु p तक करनी चाहिए। यदि सरकार बिन्दु p से आय व व्यय की क्रिया लागू करती है तो यह असन्तुलित व्यवस्था होगी, क्योंकि बिन्दु p से मिलने वाली उपयोगिता त्याग की अपेक्षा कम है।

चित्र के अनुसार यदि सरकार k बिन्दु तक कर लगाये और उतनी ही राशि को व्यय करे तो समाज का सीमान्त त्याग k, k2 है जबकि इस व्यय से प्राप्त होने वाली सामाजिक उपयोगिता k k1 हैऔर यहाँ पर k1,k2 के बराबर समाज को त्याग अधिक करना पड़गा। अतः यह सिद्ध हो गया कि सरकार को op से आगे अपना क्षेत्र नहीं बढ़ाना चाहिए। इसके विपरीत यदि सरकार oj बिन्दु तक ही अपने आय–व्यय को सीमित रखे तो यह स्थिति भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि सरकार oj मात्रा में कर लगाकर जो राशि सार्वजनिक हित में खर्च कर रही है उससे सामाजिक सीमान्त त्याग j, j1 है जबकि इस खर्च से सामाजिक सन्तुष्टि j, j2 है। स्पष्ट है कि सामाजिक सन्तुष्टि सामाजिक त्याग से अधिक है। यहाँ समाज की सकल सन्तुष्टि j1, j2 के बराबर है। इससे स्ष्ट होता है कि लोगों में अभी त्याग करने की क्षमता है। इसलिए सरकार धीरे–धीरे यह क्रम बढा कर बिन्दु च तक लाना चाहिए, तभी अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त हो सकेगी।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त केवल इस बात की ही व्याख्या नहीं करता कि सरकार को किस सीमा तक आय व व्यय का संचालन करना चाहिए, अपितु वह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि–

(1) **राजकीय व्यय को विभाजन विभिन्न मदों पर किस प्रकार हो–**अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न मदों में इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि प्रत्येक मद पर जो राशि व्यय की जा रही है, उससे मिलने वाला

सीमान्त सामाजिक सन्तोष लगभग बराबर हो अतः यहा पर समसीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार आचरण करना है। ऐसा करने से समाज को अधिकतम लाभ मिलेगा। माना कोई राष्ट्र विसित हो अथवा विकासशील उसकी अपनी–अपनी समस्याएँ हो और प्रत्येक समस्या से उसे समान उपयोगिता भी नीं मिल सकती है। माना किसी राष्ट्र की तीन समस्याएँ होती है और प्रत्येक समस्या से उसे समान उपयोगिता भी नहीं मिल सकती है। माना किसी राष्ट्र के सम्मुख तीन समस्याएँ युद्ध, शिक्षा व स्वास्थ्य की है। अब यदि वहा की सरकार अकेले युद्ध के सुचालन पर अधिक खर्च करे तो इससे समाज का अधिकतम कल्याण नहीं होगा। अतः सरकार तभी अधिकतम सन्तोष प्रदान कर सकती है जबकि वह सब समस्याओं पर लगभग बराबर व्यय करे। इस बात को हम रेखाचित्र 15.2 से स्पष्ट कर सकते है।

चित्र में AB तथा A1 B2 उस समय की उपयोगिता वक्र – रेखाएँ है जब राज्य AA1 मदो पर परव्यय करता है। यदि राज्य वर राशि A1 मद पर तथा वा राशि A मद पर व्यय करता है। तो इस स्थिति में उपयोगिता A1 मद से वरचं तथा A मद से OKP2A प्राप्त होगी। दोनो ही मदों से सम्पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होगी क्योंकि दोनों मदों की सीमान्त उपयोगिता (jp+ kp2) आपस में बराबर है। यदि मदों पर खर्च करने का तरीका उपर्युक्त से भिन्न अपनाया गया तो यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है।

**(2) राजकीय आय के स्त्रोतो का निर्माण :** अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या करता है कि आय के विभिन्न स्त्रोतो में करों का निर्धारण किस प्रकार किया जाय कि सामाजिक त्याग न्यूनतम हो। माना किसी मद में करो के लगने से सीमान्त त्याग दूसरे मद की अपेक्षा अधिक होता है तो सरकार का यह कर्तव्य है कि वह पहली मद से कर – भार हटा कर दूसरी मद में समायोजित कर दें। इस प्रकार से सामाजिक त्याग में अवश्य कमी आयेगी। यहाँ यह भी किया जा सकता है कि धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर कर–भार कम कर देने से सामाजिक त्याग में बहुत कमी आयेगी।

उदाहरण के लिए a,b,c, तथा क व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अलग–अलग है। यदि इन व्यक्तियों का त्याग अलग–अलग होगा।

त्याग की तुलनात्मक स्थिति का आकंलन तालिका 15.2 में स्पष्ट किया गया है।

| द्रव्य की इकाईयाँ | व्यक्तियों का सीमान्त त्याग | | | |
|---|---|---|---|---|
| कर की मात्रा (रू0में) | A | B | C | D |
| 1 रू0 कर देने पर | 5 | 6 | 8 | (10) |
| 2.रू0 कर देने पर | 6 | 7 | (10) | 11 |
| 3.रू0 कर देने पर | 7 | (10) | 12 | 13 |
| 4.रू0 कर देने पर | (10) | 15 | 13 | 14 |
| 5.रू0 कर देने पर | 12 | 16 | 17 | 20 |

मान लिजिए सरकार को 10 रूपये कर से वसूल करने है तो उसे व्यक्ति से 4 रू इ से 3 रू ब से 2 तथा क से 1 रू वसूल करना चाहिए, क्योंकि ऐसी दशा में सब का सीमान्त त्याग 10 इकाई के बराबर है।

संक्षेप में करारोपण लोगों की देय – क्षमता के अनुसार किया जाना चाहिए।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण (Diagrammatic Representation) उपर्युक्त व्याख्या को रेखाचित्र 15.3 से स्पष्ट किया जा सकता है। माना सरकार द्वारा A तथा B वस्तुओं पर कम लगाया जाता है। कर लगने से A वस्तु के सीमान्त त्याग की रेखा को SS से दर्शाया गया है। जब A वस्तु से on और b वस्तु on मात्रा में कर वसूल किया जाता है तो दोनो दशाओं में सीमान्त त्याग np-ne है। यह स्थिति अधिकतम सामाजिक लाभ की है। यदि A वस्तु से वद की अपेक्षा वद मात्रा में कर वसूल किया गया तो A वस्तु का सीमान्त त्याग इ वस्तु के सीमान्त त्याग ne से बढ़कर ne हो जायेगा, अतः ऐसी स्थिति में अधिकतम सामाजिक लाभ नहीं हो सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए तीन बातों का ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(1)सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता कर –भार के त्याग के बराबर होनी चाहिए।
(2) विभिन्न साधनों पर लगाये गये करों के भार से उत्पन्न सीमान्त त्याग बराबर होना चाहिए।
(3) विभिन्न उपयोगों पर सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर नही होनी चाहिए।

प्रो0 मसग्रेव ने भी डाल्टन व पीगू के अधिकतम सामाजिक कल्याण के विचार के ही आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट किये है, जैसे कि हम जानते है डॉ0 डाल्टन ने कहा है सरकारी आय तथा व्यय से सामूहित फल के रूप में समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होना चाहिए इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अर्थ – प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। प्रो0 पीगू ने इस नियम को अधिकतम सामूहित कल्याण का नियम (Law of Maximum Aggregate Welfare) कहा है। उनके अनुसार – **जहाँ तक राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, अधिकतम सामूहिक कल्याणप्रतयोक स्थान पर हो यही राज्य का सही उद्देश्य होना चाहिए।**

प्रो0 मसग्रेव के अनुसार – (1)राज्य द्वारा साधनों के विभिन्न जन–उपयोग में वितरित किया जाना चाहिए। (2) राजकीय व्यय को उसी बिन्दु तक किया जाना चाहिए जिस पर कि अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ उस सामाजिक सीमान्त त्याग के बराबर हो, जो कर के रूप में द्रव्य की अन्तिम इकाई देने में किया जाता है इस विचार को रेखाचित्र 15.4 से स्पष्ट किया गया है।

चित्र में सार्वजनिक व्यय को नन से तथा करो से होने वाले त्ययग को ss रेखा से दिखाया गया है। दोनों ही दशाओं में उपयोगिता को घटती दर से दिखाया गया है। np रेखा ss में से uu को हटाने से प्राप्त होती है जो शुद्ध बचत को बताती है, प्रो0 मसग्रेव के अनुसार बजट का अनुकूलतम आकार om पर तय होता है। यहा सीमान्त शुद्ध लाभ शून्य हो जाता है। अतः करोकारण के रूप में न्यूनतम त्याग का विचार सार्वजनिक व्यय के रूप में अधिकतम लाभ के विचार से मेल खाता है, व्यवहार में त्याग व उपयोगिता को मापना कठिन है, परन्तु इसे अनुभव किया जा सकता है।

अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की सीमाएँ अथवा व्यवहारिक कठिनाइयों (Llimitation and Difficulties of Principal of Maximum Social Advantage)

इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैः

**(1) सामाजिक सीमान्त त्याग व उपयोगिता को मापना कठिन** – यह कहा जाता है कि सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करों से त्याग बढ़ता है। परन्तु त्याग को मापना कठिन है। साथ ही सभी आय वर्गो के व्यक्ति रहते है, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता अलग–अलग होती है। धनी व्यक्ति की अपेक्षा निर्धन व्यक्ति अधिक त्याग करता है। ऐसी स्थिति में समाज के कुल त्याग का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। यही समस्या सार्वजनिक व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता के सम्बन्ध में भी है। हमें इस बात की सही जानकारी नहीं मिल पाती है कि सार्वजनिक व्यय से कौन– सा वर्ग लाभान्वित हो रहा है और कौन– सा नहीं । दूसरी समस्या यह है कि हम इस बात का सही अनुमान नहीं लगा सकते हैकि किस मद में कितना व्यय किया जाय, ताकि उस व्यय से प्राप्त होने वाला सामाजिक लाभ दूसरी मद की अपेक्षा अधिक हो जाय।

**(2) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दृष्टिकोण में अन्तर–** राज्य आय का सृजन केवल अल्पकालीन योजनाओ के लिए नीं करती है। बल्कि दीर्घकालीन योजनाओं के लिए भी करती है। ऐसी स्थिति में करो का भार वर्तमान पीढ़ी को वहन करना होगा, जबकि इसका लाभ भावी पीढ़ी को होगा। इस प्रकार वर्तमान त्याग व भविष्य के लाभ के आधर पर अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

**(3) अनुपयोगिता को ज्ञात करना कठिन** – लोक वित्त आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थिति से तो प्रभावित होता है इसको सही दिशा देने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करने होते है। जब तक लोक वित्त की कार्य प्रणाली द्वारा इस बात की जानकारी नहीं कर ली जाती है कि लोकत्ति के कार्यो से कहा और किस सीमा तक अनुपयोगिता बढ़ती है तब तक अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना करना निरर्थक है।

**(4) करारोपण के मिश्रित लाभों की जानकारी न होना–** एक वयक्ति के लिए यह बताना कठिन है कि करों से उसे कितनी अनुपयोगिता प्रापत हो रही है। और आय से कितनी उपयोगिता , तब सरकार के लिए तो यह कार्य और भी कठिन हो जाता है उसे कितनी उपयोगिता तथा अनुपयोगिता प्राप्त हो रही है। अतः यह निश्चित करने के लिए राज्य की वित्तीय क्रियाओं से सामाजिक कल्याण हुआ या नहीं डाल्टन ने निम्नलिखित आधर बताये है।

**अधिकतम सामाजिक लाभ की आर्थिक कसौटी** (Economic Test of Social Advantage) डाल्टन के अधिकतम सामाजिक लाभ के निम्नलिखित आधार बताये हैः

(1) आर्थिक कल्याण में वृद्धि – अधिकतम सामाजिक कल्याण तभी हो सकता है जब देश के आर्थिक विकास कल्याण में वृद्धि होती है। आर्थिक कल्याण में वृद्धि दो बातों पर निर्भर करती हैः 1 देश की उत्पादन – शक्ति में वृद्धि, 2 उत्पादन में सुधार। डाल्टन के अनुसार निम्न बातें इसे तय करेंगी।

1. उत्पादन में सुधार तभी कहा जायेगा जब कम से कम प्रयास के बाद श्रमिकों द्वारा पहले से अधिक उत्पादन किया जा रहा हो।

2. उत्पादन के संगठन में सुधार हो रहा हो जिसके कारण उत्पादन के साधनों का अव्यय न हो।
3. उत्पादन के स्वरूप व आकार में सुधार हो जिसके कारण सब की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से की जा सके।

संक्षेप में उत्पादन –शक्ति में वृद्धि करने के लिए सरेार को आवश्यक वस्तुओं पर कम कर लगाने चाहिए ताकि लोगों को आसानी से सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध हो सके ऐसी व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए कि अनेक प्रकार का संरक्षण प्रदान कर रोजगार के स्तर को बढ़ाया जाना चाहिए। इन उपायों से उत्पादन की शक्तियों का विकास होगा और सामाजिक कल्याण में भी वृद्धि होगी।

उत्पादित धन के वितरण में समानता लाने के लिए डाल्टन ने निम्नलिखित बातों को लागू करने की सिफारिश की है।

(1) धन के विवतरण की असमानताओं में कमी करना

(2) गरीब वर्ग के आय–स्तर में समय–समय पर होने वाले उतार–चढ़ावों को रोकना।

डाल्टन का कहना है कि '' **धन की विषमता को कम करना इसलिए वांछनीय है कि इससे व्यक्तियों और परिवारों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार आय मिलेगी और उनकी आय उपभोग करने की शक्ति के अनुसार ही होगी''।**

**(2) सुरक्षा एवं शान्ति** – जब तक देश में आन्तरिक एवं बाह्य शान्ति स्थापित नहीं की जाती है तब तक किसी भी प्रकार का किया गया आर्थिक विकास देश के लिए लाभप्रद नहीं हो सकेगा, विदेशी आक्रमणों से देश की सुरक्षा के लिए सेना व युद्ध–सामग्री पर किया जाने वाला व्यय देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा। इसी प्रकार आन्तरिक शान्ति–व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पुलिस एवं प्रशासन–व्यवस्था पर किया जाने वाला व्यय भी लाभप्रद होना। इसलिए एक बार स्थायी शान्ति प्राप्त कर लेने के बाद बार–बार की परेशानियों से गचा जा सकता हैं।

**(3) आर्थिक जीवन में स्थायित्व –** अधिकतम सामाजिक कल्याण तभी होगा, जब सरकारी प्रयासों के द्वारा आर्थिक स्थायित्व प्राप्त किया जा सके। आर्थिक उच्चावन के कारण मुद्रा–प्रयास बेरोजगारी या अवसाद जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण उपभोक्ताओं और उत्पादकों में निराशा पैदा होती है और आर्थिक विकास में भी वृद्धि नहीं होती है। अतः सरकार आर्थिक स्थायित्व के लिए किये जा रहे प्रत्येक प्रयास आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा।

**(4) भावी पीढ़ी पर प्रभाव–** केवल अल्पकालीन समस्याओं के समाधान से ही आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं हो सकती है, बल्कि भावी पीढ़ी की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए किया जाने वाला काग्र आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है। अतः सरकार को भावी योजनाओं के विस्तार पर भी उतना ही ध्यान देना होगा जितना कि अल्पकालिन योजनाओं पर ।

राजकोषीय नीति के अन्तर्गत इस बात का भी विशेष ध्यान रखना होता है कि जिस नीति को लागू किया जा रहा है उसका भविष्य में क्या योगदान होगा। डाल्टन के अनुसार ''**किसी भी वित्तिय प्रस्ताव की विवेचनस करते समय इस प्रस्ताव से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए। समाज को हाने वाले लाभ– हानि के बीच पता लगाया**

**जाय कि कौन अधिक है। इसकी तुलना अन्य प्रस्तावों के लाभ तथा हानियों से करके जो निष्कर्ष प्राप्त हो उन्ही के अनुसार कार्य करना चाहिए।''**

इस प्रकार हम कह सकते है कि सरकार को ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सके। इस सन्दर्भ में डाल्टन के विचार उल्लेखनीय है–'' हम बार–बार अधिकतम सामाजिक लाभ के सरल किन्तु व्यापक सिद्धान्त पर लौट आते है। किसी भी विचाराधीन वित्तीय प्रस्ताव के समस्त सम्भव परिणामों का जिनका अनुपालन किया जा सके, पूरा लेखा–जोखा करे तथा समाज से होने वाले सम्भावित लाभों और हानियों से तुलना करें। इस सन्तुलन की तुलना दूसरे वैकल्पिक प्रस्ताओं के सन्तुलनों से करे और इन तुलनाओं के परिणाम पर अमल करें। जो लोग इन लेखा–जोखा से परेशान हो उठें हो उन्ही प्राचीन यूनानियों की इस कहावत से सात्वना प्राप्ति करनी चाहिए कि चीजे सरल नहीं अपितु चीजें सुन्दर हुआ करती है। और इसका कौई सस्ता ढंग है भी नहीं।

अधिकतम सन्तुष्टि के सन्दर्भ में श्रीमती उर्सला हिक्स के विचार (views of mrs hicks) – श्रीमती उर्सला हिक्स ने डाल्टन के अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की विवेचना दूसरे ढंग से की है। उनका मत है कि लोक वित्त की कार्य – प्रणाली की कुशलता व अकुशलता को दो आर्दशों के आधार पर मापा जाना चाहिए (1) उत्पादन आदर्श (production optimum) (2) उपयोगिता आदर्श (utility optimum)

**उत्पादन आदर्श** (production optimum) – श्रीमती हिक्स के अनुसार, आर्थिक नीति का अन्तिम उद्देश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है। इसलिए आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के साधनों को बढ़ाया जाय। यदि उत्पादन अधिक न किया गया तो सन्तुष्टि कम प्राप्त होगी, चाहे वितरण नियोजित ही क्यों न हो। वस्तु के अभाव में उपभोक्ताओं की आवश्कताओं की पूर्ति नहीं हो पायेगी। उपादन को अधिकतम करने का तरीरा सका उचित बटवारा है। श्रीमती हिक्स के शब्दो में '' उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पान्न वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा में साधनों के वितरण में परिवर्तन करके दूसरी वस्तुओं का उत्पादन कम किये बिना एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव है।

**उपयोगिता आदर्श** (utility optimum) श्रीमती हिक्स के अनुसार उत्पादन आदर्श के बाद लोक–वित्त का दूसरा आधार उपयोगिता आदर्श है। उत्पादन आदर्श को विभिन्न व्यवस्थाओं से प्राप्त किया जा सकता है। हम इन व्यव्स्थाओं मे से उन व्यवस्थाओं को चुनना होता है जो अधिकतम सन्तुष्टि दे सके इस उपयोगिता आदर्श को 'उत्पादन आर्दश' की तरह परिभाषित किया जा सकता है। '' उपयेगिता उस समय सबसे अधिक होती है, जब एक व्यक्ति सन्तुष्टि को बिना दूसरे की सन्तुष्टि को कम करते हुए बढ़ाया सम्भव हो। उस विचारधरा के अनुसार लोक–वित्त की वह क्रिया ठीक समझी जानी चाहिए जिससे एक व्यक्ति की सन्तुष्टि में कमी हो परन्तु पहले व्यक्ति की सन्तुष्टि में वृद्धि दूसरे व्यक्ति की सन्तुष्टि में कमी से अधिक होनी चाहिए।

श्रीमती उर्सला हिक्स तथा डाल्टन के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्रीमती हिक्स के विचार भी डाल्टन के समान ही सैद्धान्तिक है। इन विचारो से यह ज्ञात नहीं होता है कि व्यवहार में इसे कैसे लागू किया जाय। परन्तु इसके लिए बढ़ी सर्तकता व निपुणता की आवश्यकता पड़ता है। इसलिए अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त अनुमानों नर ही आधरित रह जाता है।

## 15.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि लोक वित्त मूल रूप से सरकारों के आय–व्यय से सम्बन्धित है तथा सरकारों का केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सत्तओं से है। वर्तमान समय में लोक वित्त का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है लोक वित्त के अध्ययन क्रम को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है– सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन और राजकोषीय या वित्तीय–नीति। राज्य आज आर्थिक विकास को बढ़ावा देने बाह्य–आक्रमण से सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति बनाए रखनें, शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए, दुर्लभ साधनों के सर्वोतम ढंग से आवंटन के लिए, राष्ट्रीय उपक्रमों का विकास करने तथा बेरोजगारी दुर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये महत्वपूर्ण कार्य सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा सुगमतापूर्वक कर सकती है। कोई भी राज्य कुशलतापूर्वक अपने उक्त कार्यो का सम्पादन तब तक नहीं कर सकती जब तक कि उसके पास सुसंगठित लोकवित्त नहीं होगा। इस तरह राज्य के कार्यो एवं महत्व में वृद्धि होने से लोक वित्त के महत्व में अधिक वृद्धि हो चुी है। लोक वित्त तथा निजी वक्त में सामान्यता उपरी तौर पर कोई विशेष भिन्नता दृष्टिगोचर नही होती क्योंकि दोनों की समस्याएँ एक सी है तथा दोनो का उद्देश्य अपनी आय तथा व्यय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना होता है। निजी व्यय इसलिए होता है ताकि उससे 'अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि की प्राप्ति हो सके और सार्वजनिक व्यय इसलिए किया जाता है ताकि उससे अधिकतम सामाजिक लाभ उपल्बध हो सके। फिर भी लोक वित्त तथा निजी वित्त की प्रकृति उद्देश्य, सिद्धान्त व्यवस्था तथा प्रशासन आदि में आधारभूत एवं मौलिक भेद है। राजस्व का न्यायोचित सिद्धान्त वह होगा जिनके अनुसार राजकीय आय व व्यय से हुए इसको अधितम सामाजिक लाभ का नियम कहा है। इसके विभिन्न दृष्टिकोणें का आप ने अध्ययन किया ।

## 15.5 शब्दावली

**बजट–** सरकार का वार्षिक वित्तीय विवरण।

**आर्थिक सर्वेक्षण–** एक वित्तीय वर्ष में भारतीय अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों की स्थिति एवं मूल्याकंन का सरकारी प्रकाशन।

**वित्त आयोग–** राज्यों को संसाधनों के बंटवारे हेतु संविधान की धारा 280 के अर्न्तगत स्थापित आयोग अन्तरण हस्तान्तरण।

**कर प्रयास –** किसी भी राज्य के प्रति व्यक्ति कर राजस्व से प्रति व्यक्ति आय का अनुमान।

## 15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- आर0 ए0 मसग्रेव पब्लिक फिनान्स इन ए डेमोक्रेटिक सोसाइटी वाल्यूम
- आर0 ए0 मसग्रेव द थियरी ऑफ पब्लिक फिनान्स मैग्राहिल 1984
- जे0सी0 पन्त राजस्व ,लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन 1979
- अमरेश बागेची रीड़िग इन पब्लिक फिनान्स आक्सफोर्ड 1980
- ए0 प्रमचन्द गवर्नमेन्ट बजटिंग एण्ड एक्सपेन्डीचर कन्ट्रोल imf 1983
- एस0 के0 सिंह लोक वित्त साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा 2008

- H.Parnell, On Financial reform quoted by G Findaly shiras in the science of Public F inancle, p.31


## 15.7 सहायक पाठ्य सामग्री


- भाटिया एच0एल0 (2006) लोकवित्त चनइसपब पिदंदबम विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0लि जंगपुर नई दिल्ली
- प्त जे0सी0 (2005) राजस्व लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता अनुपम प्जाजा संजय प्लेस आगरा


## 15.8 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रो0 डाल्टन द्वारा राजस्व की दी गयी परिभाषा को संक्षेप में समझाइए।
2. किन्ही तीन बिन्दुओं के आधार पर राजस्व की प्रकृति और क्षेत्र को समझाइए।
3. सार्वजनिक वित्त और नीजि वित्त में अन्तर के किन्ही दो कारणों को लिखिए।
4. राजस्व के महत्व पर संक्षेप में विचार प्रकब कीजिए।

## 15.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अधिकतम सामाजिक कल्याण किस बिन्दु पर होता है?
   (अ) सामाजिक त्याग और सामाजिक उपयोगिता के बराबर होने पर
   (ब) सामाजिक उपयोगिता के सामाजिक त्याग से अधिक होने पर
   (स) सामाजिक त्याग के सामाजिक उपयोगिता से अधिक होने पर
   (द) उपयुक्त में से किसी पर नहीं
2. वह कौन सी प्रमुख बात है जिसके आधर पर सार्वजनिक वित्त को निजी वित्त से अलग किया जाता है?
   (अ) गोपनीयता (ब) कीमती नीति (स) आर्थिक स्थायित्वीकरण (द) माँग– प्रेरित

# इकाई 16 सामाजिक आय–व्यय

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 सामाजिक व्यय के उद्देश्य
16.4 सामाजिक आय एवं सिद्धान्त
16.5 सारांश
16.6 शब्दावली
16.7 लघु उत्तरीय प्रश्न
16.8 संदर्भ सहित ग्रन्थ
16.9 सहायक पाठ्य सामग्री
16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

## 16.1 प्रस्तावना :–

प्रस्तुत इकाई में सार्वजनिक व्यय व आय के उद्देश्यों का अध्ययन अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में करेंगे लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति पूर्णरूप से की जा सके। उद्देश्यों के निर्धारण एवं उद्देश्यों की प्राप्ति में अन्तर अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा लोक सत्ताओं के निर्णयों पर निर्भर करता है।

## 16.2 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि –

- ✓ लोक व्यय के उद्देश्यों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है तथा ये उद्देश्यों किन तत्वों द्वारा प्रभावित होते है?
- ✓ लोक व्यय के द्वारा आवंटन सम्बन्धी उद्देश्यों की क्या स्थिति है?
- ✓ लोक व्यय के द्वारा अर्थव्यवस्था में सामाजिक कल्याण के विकेन्द्रीकरण के द्वारा वितरण को किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?
- ✓ आर्थिक स्थिरीकरण को प्राप्त करने में लोक व्यय की क्या भूमिका होती है?
- ✓ आप समझ सकेंगे कि लोक व्यय के उद्देश्यों का निर्धारण करते समय कौन कौन सी समस्याऐं सामने आती है जिससे लोक व्यय का उद्देश्य किस प्रकार परिवर्तित होता है?

## 16.3 सामाजिक व्यय के उद्देश्य

किसी भी देश की सरकार जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर लोक व्यय करती है वह उददेश्य उस उददेश्य से सदैव अलग पाया जाता है जिसे लेकर निजी व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा व्यय किया जाता है। आपको शायद इस तथ्य से ज्ञात हो कि लोक सत्ताओं के व्यय तथा निजी व्यक्तियों के व्यय के उद्देश्य के मध्य एक उभयनिपर तत्व 'कल्याण' विद्यमान पाया जाता है लेकिन लोक व्यय के उद्देश्य की वात करें तो इस कल्याण का आकार एवं प्रकृति बदल जाती है। लोक व्यय के समक्ष सदैव लोक कल्याण का उद्देश्य रखा जाता है।

यदि हम स्मिथ के अनुसार राज्य के तीन कार्यो पर प्रकाश डालें तो क्रमशः बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा, आन्तरिक कानून व व्यवस्था तथा कुछ सार्वजनिक कार्यों को शामिल किया गया है। उक्त यह तीनों कार्य लोक वित्त के व्यय द्वारा ही किया जाना आवश्यक बताया गया। इन तीनों कार्यों के मध्य सामूहिक कल्याण के उददेश्य की भावना निहित है जो स्वतंत्र अर्थव्यवस्था एवं निजी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत बिना लोक व्यय के प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता है। प्रो0 जे0एस0 मिल ने लोक व्यय की सीमा में आवश्यक सुरक्षा, कानून व्यवस्था, वित्तीय व्यवस्था, सिक्के की व्यवस्था, मापतौल व्यवस्था, सड़क, प्रकाश, बन्दरगाह तथा बांध आदि को शामिल किया जिसके पीछे भी सामूहिक या लोक कल्याण के उददेश्य को रखा गया है। वर्तमान में भी व्यक्तिगत कल्याण के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा कल्याण के वंचित वितरण को बचाये रखने के लिए लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।

लोक व्यय राजकीय वित्त का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके साथ वर्तमान में विकसित देशों के साथ विकासशील तथा पिछड़े देशों में सार्वजनिक वित्त का अत्यन्त

महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया है। देशों की राजकोषीय नीति में लोक व्यय सबसे अधिक प्रभावशाली उपकरण के रूप में अपनाया जा रहा है अर्थशास्त्र में जो स्थान उपभोग द्वारा स्थापित किया गया है वहीं लोक व्यय सार्वजनिक वित्त में अपनी अलग भूमिका बनाये हुए है। किसी भी देश की राजकोषीय नीति के उद्देश्यों को देखा जाए तो लोक आगम, लोक व्यय, लोक ऋण तथा राजकोषीय नियन्त्रण का अपना अलग–अलग महत्वपूर्ण स्थान है। आपको यहां पर यह ध्यान देना होगा कि लोक सत्ताओं द्वारा व्यय की मदों का निर्धारण पूर्व में किया जाता है तत्पश्चात् उन मदों पर होने वाले लोक व्यय की राशि का अनुमान लगाया जाता है। इन मदों के निर्धारण एवं लोक व्यय की राशि का अनुमान लगाने का उद्देश्य अलग– अलग देशों की लोक सत्ताओं द्वारा अपने शासन नीति एवं अर्थव्यवस्था की प्रक्रति के आधार पर तय किया जाता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये लोक व्यय की पूर्ति करने तथा लोक व्यय की सार्थकता को बनाये रखने के लिये राजकोषीय नीति के अन्य उपकरणों यथा लोक आगम, लोक ऋण, वित्तीय प्रशासन को प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि लोक व्यय का उद्देश्य राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लोक कल्याणकारी लोक सत्ताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि ये लोक सत्ताये उन मदों पर व्यय करें जिन मदों पर व्यय करने के लिये निजी व्यक्ति समर्थ नहीं है। सामूहिक शिक्षा व स्वास्थ्य, आवास, सड़क परिवाहन आदि पर निजी व्यक्ति द्वारा व्यय किया जाना सम्भब नहीं है। इसी लिये इस प्रकार की महत्वपूर्ण योजनाओं का निर्माण एवं उनका संचालन लोक सत्ताओं द्वारा किया जा सकता है। लोक व्यय के द्वारा उन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है जो व्यक्तिगत रूप से पूरी नहीं की जा सकती है।

वर्तमान में लोक सत्ताओं के बढ़ते कार्यों एवं दायित्वों को देखते हुए लोक व्यय के उद्देश्यों को दो आधार पर भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथमतः लोक व्यय का उद्देश्य राज्य की आर्थिक क्रियाओं का कुशल संचालन है ताकि लोक सत्ताओं द्वारा एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके । वर्तमान में शायद आपने ध्यान दिया होगा कि लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारण में लागत लाभ विश्लेषण को ध्यान में रखा जाता है। अतः लोक सत्तायें भी निजी क्षेत्र की तरह लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से भी आर्थिक क्रियाओं का संचालन कर रही हैं इसके साथ राष्ट्रीयकरण की भावना से भी प्रेरित होकर उद्योगों का संचालन करने लगी है। द्वितीयतः सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि करने के उद्देश से लोक व्यय किया जाता है जिसके अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि करके रोजगार व उपभोग में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है इसीलिये लोक सत्ताओं द्वारा लोक व्यय के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र को व्यापक बनाती हैं ।

## 16.4 सामाजिक आय एवं सिद्धान्त

इस इकाई के इस भाग के अन्तर्गत आप अध्ययन कर सकेंगे कि करारोपण का क्या आशय है? एवं करारोपण के साथ इससे सम्बन्धित सिद्धान्तों के मध्य क्या अन्तर्सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

### करारोपण का आशय

आपको यहाँ पर स्पष्ट रूप से समझना होगा कि कर एवं करारोपण एक ही अवधारणा नहीं है। सामान्य रूप से करारोपण को कर के ही रूप में परिभाषित किया जाता

रहा हे। लेकिन करारोपण तथा कर एक दूसरे के पूरक रूप में ही हैं। प्रथमतः आपको कर की अवधारणा को स्पष्ट किया जाय। कर जनता पर लगाया गया वह अनिवार्य भुगतान है जिसे सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से एकत्रित किया जाता है तथा उसे सार्वजनिक कार्यों पर सामान्यतः व्यय कर दिया जाता है।

**डॉल्टन** के अनुसार, *''कर किसी सार्वजनिक सत्त द्वारा लगाया गया एक अनिवार्य अंशदान है भले ही इसके बदले में करदाताओं को उतनी सेवाएँ प्रदान की गयी हों अथवा नहीं। यह किसी कानूनी अपराध के दण्डस्वरूप नहीं लगाया जा सकता।'*

**बेस्टेबेल** (Bastable) के शब्दों में कर को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है, *''कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो सार्वजनिक सेवाओं को चलाने के लिए अनिवार्य रूप से बसूल किया जाता है।'*

अर्थशास्त्री **शिराज** ने भी कर को निम्नवत स्पष्ट किया है, *''कर सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा बसूल किया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है जो सार्वजनिक भलाई के खर्च को पूरा करने के लिए लिया जाता है और उसका किसी विशेष लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।'*

कर की अवधारणा को स्पष्ट करके आपको करारोपण की अवधारणा को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

## करारोपण एवं सिद्धान्तों के मध्य सम्बन्ध

लम्बे समय से ही सरकारों के क्रियाकलापों में वृद्धि के साथ अनेक प्रकार के उद्देश्यों में भी परिवर्तन पाया गया है। सरकार द्वारा अपनी अर्थव्यवसा संचालन के लिए वित्तीय व्यवस्था अनेक प्रकाकर के उपायों द्वारा की जाती रही है। करारोपण उनमें से एक महत्वपूर्ण उपाय के रूप में जाना जाता है। सरकार के ऊपर लगातार बढ़ती जिम्मेदारियों के मद्देनजर यह भी आवश्यक होता है कि सरकाकर की व्यवस्थाओं का सर्वाधिक लाभ किस वर्ग या व्यक्ति को प्राप्त हुआ है तथा किस वर्ग को किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं हो सका। सरकार को देश में वित्तीय व्यवस्था को सुचारु बनाये रखने के साथ शान्ति व्यवस्था तथा सामाजिक सुरक्षा आदि का भी ध्यान रखना होता है। इसीलिए करारोपण को एक अत्यन्त विचारणीय बिन्दु के रूप में देखा गया है। सरकार की वित्तीय व्यवस्थायें भी पूर्ण हों तथा जनता में भी शान्ति तथा सुरक्षा व्यवस्था बनी रहे इसके लिए किसी सामान्य से पैमाने से काम चलने वाला नहीं है। करारोपण के विभिन्न सिद्धान्त सरकार तथा जनता से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन कर आधारित किये गयेहैं। इसीलिए इन सिद्धान्तों की प्रासंगिकता प्राचीन से वर्तमान में भी बनी हुई है।

वर्तमान में कर प्रणाली इतनी विस्तृत है कि करारोपण के बिना सरकाकर के क्रियाकलापों को संचालित कर पाना सम्भव नहीं होगा। कल्याणकारी राज्यों में करारोपण के साथ–साथ करारोपण के सिद्धान्त भी समकक्ष रूप में देखे जाने लगे हैं। अतः सिद्धान्तों की अवहेलना करके करारोपण को सफल नहीं बनाया जा सकता है।

## करारोपण के सिद्धान्त

करारोपण का आशय एवं सिद्धान्तों के साथ सम्बन्धों को समझने के बाद आपको यह भी भली–भाँति समझना आवश्यक होगा कि करारोपण के लिए उचित एवं अनुचित का निर्धारण करने वाले सिद्धान्त कौन–कौन से हैं। अध्ययन की आसानी के लिए यहाँ पर करारोपण के सिद्धान्तों को तीन रूपों में स्पष्ट किया गया है।

करारोपण के मुख्य सिद्धान्त, करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त तथा कररोपण के अन्य सिद्धान्त।

## करारोपण के मुख्य सिद्धान्त

करारोपण के मुख्य सिद्धान्तों के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिनको करारोपण के समय मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता है। ये मुख्य सिद्धान्त निम्नवत रूप से स्पष्ट किये जा सकते हैं :–

(1) **एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त** : 1776 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप एवं कारणों की खोज' (An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations) में एडम स्मिथ ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे निम्नवत् हैं :–

– **निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty) : एडम स्मिथ** के ही शब्दों में, *''प्रत्येक व्यक्ति को जो कर देना है, वह निश्चित होना चाहिए मनमानापन नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की जाने वाली राशि, करदाता तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति को स्पष्ट होना चाहिए।'* यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि करारोपण के द्वारा सरकार एवं करदाता दोनों में से किसी को कोई असुविधा का सामना न करना पड़े। कर की राशि, समय, तथा अन्य महत्वपूर्ण तथ्य स्थिर तथा स्पष्ट हो ताकि कर के संग्रहण में अनावश्यक विवादों से बचा जा सके। कर देने वाले एवं कर लेने वाले दोनों को कर के बारे में पूर्ण एवं स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। यह सिद्ध करदाता एवं करारोपण करने वाली संस्था या सत्ता दोनों के एि ही अत्यन्त लाभदायक माना गया है। कर सम्बन्धी निश्चितता होने पर करदाता को समय से पूर्ण करक चुकाने में अनावश्यक परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता है।

– **समानता का सिद्धान्त (Canon of Equality)** : करारोपण के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है, *''प्रत्येक राज्य की प्रजा को सरकार के लालन–पालन के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, अपना अंशदान अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार देना चाहिए अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं।'* यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कर देने वाले व्यक्ति पर अनावश्यक या आवश्यकता से अधिक करारोपण नहीं करना चाहिए। राज्य का संरक्षण से प्राप्त लाभों के आधार पर ही करारोपण का आकार निश्चित होना चाहिए।

इस सिद्धान्त में राज्य की संरक्षता तथा कर की मात्रा के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करना एक कठिन कार्य है। इसके साथ कर पर प्रतिफल की बाध्यता लागू करने के सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है। देश में गरीब, बेरोजगार, बीमार व्यक्ति राज्य की संरक्षता के अनुपात में कर का भुगतान करने में समर्थ नहीं कहे जा सकते हैं।

– **मितव्ययता का सिद्धान्त (Canon of Economy)** : एडम स्मिथ के इस सिद्धान्त को शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। **एडम स्मिथ** के अनुसार, *''प्रत्येक कर इस तरह लगाया और बसूल किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा सरकारी कोष में जितना द्रव्य आये उससे बहुत अधिक मात्रा में जनता की जेब से द्रव्य न निकाला जाय, अथवा जनता द्वारा दिये जाने वाले कर का सरकारी कोष में आने वाली रकम से आधिक्य न्यूनतम हो।''*

इस सिद्धान्त की वास्तविकता में जाने पर आप समझेंगे कि सरकार के पास अत्यधिक मात्रा में करारोपण से प्राप्त राशि अनावश्यक नहीं आनी चाहिए अन्यथा उस राशि का प्रयोग पूर्ण कुशलता के साथ नहीं हो सकेगा। यह सिद्धान्त सरकार की कार्यकुशलता पर नियंत्रण रखने पर ध्यान देता है।

– **सुविधा का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त के अनुसार करदाता को कर देने में किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए। यह करदाता को कर के भुगतान में किसी भी प्रकार की असुविधा होने पर करदाता को कर का भार अधिक सहना पड़ता है। एडम स्मिथ के अनुसार, *''प्रत्येक कर ऐसे समय और इस ढंग से लगाया जाय कि करदाता को भुगतान की सुविधा हो। प्रायः देखा जा सकता है कि प्रत्येक करदाता कर का सुविधाजनक रूप से भुगतान करना चाहता है।'*

(2) **लोच का सिद्धान्तः** अर्थव्यवस्थाओं के विकास एवं प्रकृति के अनुसार लोच का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी तथा महत्वपूर्ण रूप में देखा जा सकता है। अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप सरकारें करारोपण में आवश्यक परिवर्तन कर सकती हैं। ताकि देश में आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े। कर प्रणाली में लोच की कमी के कारण करदाता एवं सरकार दोनों को ही अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(3) **उत्पादकता का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली इस प्रकार की हो ताकि अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव उत्पादकता बढ़ाने वाले हों। कर प्रणाली का सम्बन्ध केवल कर देने एवं कर एकत्रित करने तक ही सीमित नहीं रह जाता है बल्कि कर प्रणाली एक अर्थव्यवस्था का केन्द्र बिन्दु होता है। कर एकत्रण की लागत पर कर प्राप्त की राशि आधिक्य होने पर भी उत्पादकता के रूप में देखा जाता है। इसके साथ उत्पादकता का सिद्धान्त भविष्य में करारोपण की प्रवृत्ति में वृद्धि बनाये रखने पर जोर देता है। यह सिद्धान्त उत्पादकों की उत्पादन वृद्धि, आय एवं बचत में वृद्धि की प्रवृत्ति, एवं उपभोग पर भी सकारात्मक प्रभाव डालता है।

(4) **विविधता का सिद्धान्त** : करारोपण का विविधता का सिद्धान्त वर्तमान में गतिशील अर्थव्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सरकारें करारोपण के लिए केवल किसी एक मद पर ही निर्भर नहीं रह सकती हैं क्योंकि एक स्रोत से सरकार के क्रियाकलापों के लिए वित्त की पूर्ण व्यवस्था नहीं की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली में अनेक प्रकार के कर होने चाहिए जिन्हें जनता की आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग–अलग व्यक्तियों एवं वस्तुओं पर लगाया जा सके। इससे करारोपण काक प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था पर फैलाने में सहायता मिलती है। एक कर प्रणाली से अर्थव्यवस्था का कुछ क्षेत्र कर प्रणाली से बाहर ही रह जायेगा और सरकार के लिए एक नई समस्या पैदा होगी।

**करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त**

समय–समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा जनता के साथ आर्थिक रूप से न्याय बनाये रखने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। न्याय सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है जो मुख्य रूप से निम्नवत हैं :–

(1) **कर देय योग्यता सिद्धान्त** : करारोपण के मुख्य एवं बहुत पुराने कर देय योग्यता सिद्धान्त (Ability ot pay theory) का प्रतिपादन 16वीं शताब्दी में जॉन बोर्डिन और 18वीं शताब्दी में बिलियम पेटी और एडम स्मिथ ने किया था। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एडम स्मिथ का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि, *''प्रत्येक राज्य की*

*जनता को राज्य की सहायता हेतु अपनी योग्यतानुसार अनुपात में अंशदान करना चाहिए अर्थात् उस आय के अनुपात में देना चाहिए जो कि वे राज्य के संरक्षण में प्राप्त करते हैं।'*

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की कर देने की योग्यता का निर्धारण करके करारोपण करना चाहिए ताकि वह उस कर का भुगतान आसानी से कर सके। यहाँ पर यह अत्यन्त साधारण सत्य है कि निर्धन वर्ग के व्यक्तियों की कर देने की क्षमता या योग्यता कम होती है। अतः निर्धनों पर कर का आरोपण करके कम मात्रा में अंशदान लिया जाय। इसके विपरीत धनीवर्ग के व्यक्तियों की कर देने की योग्यता अधिक होती है। अतः धनी वर्ग पर करारोपण द्वारा अधिक मात्रा में कर का अंशदान प्राप्त किया जाना चाहिए। इसी लिए सरकार द्वारा शासन को कुशलतापूर्ण चलाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के अनुसार अंशदान कर देना चाहिए या सरकार द्वारा बसूला जाना चाहिए। कर देय योग्यता के निर्धारण के लिए भावनात्मक तथा आन्तरिक दृष्टिकोणों की सहायता की आवश्यकता होती है।

(2) **सेवा लागत सिद्धान्त :** यह आपको विदित है कि लोक सत्तायें सार्वजनिक कार्यों का निष्पादन करती हैं तथा समाज के कल्याण में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती हैं। समाज कल्याण में वृद्धि करने के लिए सार्वजनिक कार्यों के निष्पादन पर सरकारों या लोकसत्ताओं को एक निश्चित लागत उठानी पड़ती है जिसे अपने देश के नागरिकों से ही बसूला जा सकता है क्योंकि ये सत्तायें इन्हीं नागरिकों के कल्याण के प्रयास करती हैं। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि समाज की सेवा पर आने वाली या उठायी जाने वाली लागत के बराबर समाज द्वारा सत्ताओं को कर दिये जाने चाहिए। सेवा लागत के सिद्धान्त के सम्बन्ध में डॉल्टन ने लिखा है कि, *''सेवा लागत का सिद्धान्त डाक सेवाओं, विद्युतधारा आदि की पूर्ति पर लागू किया जा सकता है। इन सेवाओं की कीमत इस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित की जा सकती है।'* प्रो0 ब्यूहलर ने इस सिद्धान्त के विषय में स्पष्ट किया है कि, *''अनेक लेखकों का सुझाव है कि करों को सरकार द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं की लागत के आधार पर ही लगाया जाना चाहिए। वह भी शायद इस आधार पर कि नागरिकों को सरकारी सेवाओं को चुनने या रद्द करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।'*

यहाँ आपको स्पष्ट होना चाहिए कि एक तरफ कर को अदा करने पर प्रतिफल की आशा नहीं करनी चाहिए वहीं यह सिद्ध कर अदा करने पर सेवा प्राप्त करने की कीमत पर आधारित किया गया है। जो वास्तव में करारोपण का सिद्धान्त न होकर शुल्क आरोपण के रूप में देखा जा सकता है। यह सिद्धान्त सेवाओं को प्राप्त न करने वालों पर करारोपण न करने की बात भी स्वीकार करता है।

(3) **अधिकतम कल्याण का सिद्धान्त :** करारोपण व्यवस्था में कल्याण आधारित इस सिद्धान्त को **एजवर्थ** तथा **पीगू** ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण माना। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण की व्यवस्था इस प्रकार तय की जाय कि व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण हो सके। **एजवर्थ** के अनुसार, *''करारोपण की नीति को समान सीमान्त त्याग पर आधारित करने के उपरान्त ही समाज को अधिकतम कल्याण प्राप्त हो सकता है।'*

इसी सम्बन्ध में **पीगू** ने एक तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया कि, *''सभी इस बात से सहमत हैं कि सरकार की क्रियाओं का नियमन इस प्रकार से होना चाहिए कि उसके नागरिकों का कल्याण अधिकतम हो। यही सरकार की सम्पूर्ण कानूनी प्रक्रिया*

*की कसौटी है और करारोपण के क्षेत्र में यही न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त है।'* इस सिद्धान्त को इस अवधारणा पर आधारित किया गया है कि जैसे–जैसे व्यक्ति की आय में वृद्धि होती जाती है, त्यों–त्यों व्यक्ति को मिलने वाली आय की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। इसीलिए बढ़ी हुई आय पर घटती दर से करारोपण किया जाना चाहिए। पीगू ने स्पष्ट किया कि न्यूनतम त्याग के लिए यह आवश्यक है कि करदाताओं द्वारा भुगतान की गयी द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान होनी चाहिए।

**डॉल्टन** तथा **मसग्रेव** ने भी अधिकतम कल्याण के सिद्धानत से सम्बन्धित न्यायपूर्ण वितरण की समस्या को समान सीमान्त त्याग तथा समान सीमान्त कल्याण की तुलना करके हल करने का प्रयास किया। करारोपण से अधिकतम कलयाण की स्थिति को उस समय प्राप्त किया जा सकता है जब सरकार द्वारा प्रत्येक मद पर किये गये व्यय से समाज को समान सीमान्त कल्याण प्राप्त हो तथा करारोपण से जनता को होने वाला सीमान्त त्याग समान हो।

(4) **आय सिद्धान्तः** करारोपण के आय सिद्धान्त का प्रतिपादन इटली के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डि मार्को द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित किया गया है। यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति की आय के अनुपात के आधारपर करारोपण करने पर जोर देता है। डि मार्को के अनुसार, *''जितनी अधिक आय एक व्यक्ति की होती है, उसे उतना ही अधिक कर देना चाहिए, क्योंकि उतनी ही अधिक सेवाओं का उपयोग उसने किया है। अतः धीन व्यक्ति अधिक तथा निर्धन व्यक्ति कम कर देगा। इस प्रकार करों का निर्धारण आय के अनुपात में किया जाना चाहिए।'* यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से आय कर से सम्बन्धित किया गया है यदि सम्पूर्ण कर व्यवस्था के लिए आय को आधार बनाया जाय तो अर्थव्यवस्था का संचालन के लिए सरकार की वित्त व्यवस्था अत्यन्त संकुचित रूप में ही रह जायेगी तथा अन्य क्षेत्र करारोपण से बाहर ही रह जायेंगे।

(5) **वित्तीय सिद्धान्त :** करारोपण का वित्तीय सिद्धान्त **कॉलबर्ट** के कथन *'बत्तख को इस प्रकार नोचों कि वह कम से कम शोर मचाये'* पर आधारित है। प्राचीन काल में सरकारों के सम्मुख मुख्य समस्या अपनी व्यवस्थाओं के लिए अधिक से अधिक मात्रा में आय अर्जित करने की थी न कि जनता के कल्याण में वृद्धि करने या आर्थिक स्थिरता की। इसीलिए इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को करारोपण के द्वारा अधिकाधिक पर्याप्त आय प्राप्त हो जानी चाहिए। वर्तमान में सरकारों के सामने आय प्राप्त के साथ समाज के कल्याण एवं त्याग के साथ अर्थव्यवस्था में समान वितरण सम्बन्धी समस्यायें उपस्थित रहती हैं।

## करारोपण के अन्य सिद्धान्त

करारोपण के अन्य सिद्धान्तों में **एडोल्फ बैगनर** (Adolph Wagner) द्वारा प्रतिपादित सामाजिक–राजनैतिक सिद्धान्त, सैलिगमैन के हितप्राप्ति सिद्धान्त को भी शामिल किया गया है।

सामाजिक राजनैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इस आधार पर कया गया कि करों काक चुनाव सामाजिक तथा राजनैतिक उद्देश्यों के आधार पर किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत उद्देश्यों के आधार पर किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। वैगनर के अनुसार सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार का संरक्षण सरकार द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

हित प्राप्ति सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा समाज को अनेक सामाजिक प्रशासनिक सेवायें उपलब्ध करायी जाती हैं और समाज के जीवन, धन एवं सम्पत्ति की रक्षा भी सरकार के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। अतः इस सेवाओं की लागत के बदले उन्हें कर का भुगतान सरकाकर को करना ही चाहिए तथा यह वित्तीय भार सेवाओं की प्राप्ति के अनुपात में ही वहन किया जाना चाहिए।

**करारोपण का वर्गीकरण**

करारोपण से सम्बन्धित विभिन्न अर्थशास्त्रियों में सिद्धानतों का अध्ययन करने के बाद आपको यह समझना अतयन्त आवश्यक है कि करारोपण का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है।

1. प्रत्यक्ष कर तथा परोक्ष कर
2. एकल एवं बहुकर प्रणाली
3. करों की दर की स्थिति के आधार पर वर्गीकरण
4. विशिष्ट कर एवं मूल्यानुसार कर
5. लोक सत्ताओं के आधार पर कर–केन्द्रीय कर, राज्यीय कर, स्थानीय कर
6. अन्य वर्गीकरण

करों के उक्त वर्गीकरणों के अन्तर्गत निर्धारित किये जाने वाले करों की विस्तृत व्याख्या के आधार पर आप इन वर्गीकरणों के बारे में भली–भाँति समझ सकेंगे।

**(1) प्रत्यक्ष कर तथा परोक्षकर (Direct and Indirect Tax)** एक लम्बे समय से अर्थशास्त्रियों में विवादास्पद विषय रहा है कि किन करों को प्रत्यक्ष कर माना जाय तथा किन करों को परोक्षकर की श्रेणी में रखा जाय। डॉल्टन ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के विषय में लिखा है कि, *''एक प्रत्यक्ष कर वास्तव में उसी व्यक्ति द्वारा दिया जाता है जिस पर वैधानिक रूप से वह लगाया जाता है जबकि अप्रतयक्ष कर एक व्यक्ति पर लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण या आंशिक रूप से वह अन्य व्यक्ति द्वारा भुगतान किया जाता है, जो अनुबन्ध एवं सौदा करने की शर्तों के परिणाम स्वरूप ऐसा होता है।''*

जे0एस0 मिल ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बारे में लिखा है कि, *''एक प्रत्यक्ष कर वह हे जो उसी व्यक्ति से माँगा जाता है जो उसे भुगतान करने की इच्छा या इरादा रखे और एक अप्रत्यक्ष कर वह है जो एक व्यक्ति से इस आशा एवं इच्छा से माँगा जाता है कि वह दूसरे की लागत पर इसकी क्षतिपूर्ति कर लेगा।'*

सामान्य तौर पर कर आघात तथा कर भार के आधार पर ही करों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों की श्रेणी में रखा गया है। प्रत्यक्ष करों के आरोपण पर कराघात एवं कर का आपतन एक ही इकाई या व्यक्ति पर पड़ता है जबकि परोक्ष करों के आरोपण की स्थिति में कराघात तथा कर का आयतन अलग–अलग इकाइयों या व्यक्तियों पर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष करारोपण के अन्तर्गत कर विवर्तन नहीं पाया जाता जबकि परोक्ष करारोपण की स्थिति में कर का विवर्तन किया जाता है। इस प्रकार आय, व्यय, धन, सम्पत्ति, उपहार, उत्तराधिकार, पूँजी आय, ब्याज आदि पर करारोपण प्रत्यक्ष कर की श्रेणी में आता है। उत्पादन शुल्क, बिक्रीकर, सीमा शुल्क आदि को परोक्ष कर की श्रेणी में रखा जाता है।

**(2) एकल एवं बहुकर प्रणाली**

सामान्य रूप एकल करारोपण की स्थिति में कर प्रणाली के अन्तर्गत केवल एक ही कर अस्तित्व में पाया जाता है। साधारण जीवन की अर्थव्यवस्था में इस कर प्रणाली को अपनाया जा सकता है जिसमें एक ही कर से अर्थव्यवस्था संचालन के लिए वित्त की व्यवस्था आसानी से हो सके।

लेकिन अर्थव्यवस्थाओं के विकास एवं अनेक जटिलताओं के चलते एकल कर प्रणाली से काम चलने वाला नहीं है। इस कर प्रणाली से न तो सरकार सभी को कर सीमा में ला सकती है और न ही सार्वजनिक कार्य पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में राजस्व की आपूर्ति को जुटा पा सकती है।

बहुकर प्रणाली के अन्तर्गत एक ही कर प्रणाली में एक साथ एक से अधिक कर अस्तित्व में पाये जाते हैं। इस कर प्रणाली में अधिकांशतः सभी को किसी न किसी कर की सीमा में लाया गया है तथा सरकार के लिए सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में राजस्व को जुटाया जा सका है। बहुकर प्रणाली से कर प्रणाली के अन्तर्गत पैदा होने वाली अनेक समस्याओं को हल किया जा सकता है।

एकल कर प्रणाली में अर्थव्यवस्था में आवश्यकतानुसार सुधारों की सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं तथा अर्थव्यवस्था में स्थिरता या ठहराव की स्थिति पैदा हो जाती है। इसके साथ बहुकर प्रणाली में लोचता की अधिकता के कारण अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

### (3) करों की दर की स्थिति के आधार पर कर

आपको यहाँ पर ध्यान देना होगा कि करों की दरों की स्थिति में अन्तर के आधार पर करों को अनेक रूपों में रखा जा सकता है।

- **आनुपातिक कर (Proportional Tax)** : आनुपातिक कर प्रणाली के अन्तर्गत सभी प्रकार की आय वाली इकाईयों एवं व्यक्तियों पर एक ही दर से कर लगाया जाता है। आय में वृद्धि होने पर कर राजस्व में वृद्धि होती है। आय में वृद्धि की दर तथा कर राजस्व में वृद्धि की दर समान पायी जाती हैं यदि एक आय स्तर 1000 करोड़ रुपये पर 10 प्रतिशत की दर से कर लगाने पर 100 करोड़ रूपया का राजस्व प्राप्त होगा। परन्तु आय स्तर 10000 करोड़ रूपये होने पर भी कर 10 प्रतिशत की दर से ही लगाया जायेगा तथा कर राजस0 की राशि 1000 करोड़ रूपये होगी।
- **प्रगतिशील कर (Progressive Tax)** : प्रगतिशील कर प्रणाली में आय के स्तर में वृद्धि होने पर कर की दर में भी वृद्धि हो जाती है। इसे एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझाया जा सकता है।

| आय स्तर (लाख) | की दर (%) | करों से प्राप्त आय (लाख रू0) |
|---|---|---|
| 100 | 10 | 10 |
| 400 | 15 | 60 |
| 600 | 20 | 120 |
| 1000 | 30 | 300 |

उपर्युक्त तालिका में आय स्तर में वृद्धि होने के साथ साथ कर की दर में वृद्धि हो रही है।

- **प्रतिगामी कर (Regressive Tax)** : इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रगतिशील करक प्रणाली की विपरीत दिशा में कर की दरें निश्चित की जाती हैं। प्रारम्भ में आय स्तर पर कर की दर उच्च पायी जाती हैं जैसे–जैसे आय का स्तर बढ़ता जाता है कर की दर घटती जाती है।
- **अधोगामी कर (Degressive Tax)** : अधोगामी कर प्रणाली में प्रारम्भिक आय स्तर से आय में वृद्धि होने पर कर की दरें बढ़ती जाती हैं लेकिन एक स्तर के बाद आय वृद्धि होने पर कर की दर बढ़ायी नहीं जाती हैं। इस सीमा के बाद कर की दर समान हो जाती हैं जैसे 100000 रू0 की आय पर 8 प्रतिशत की दर, रू0 200000

रू0 पर 10 प्रतिशत की दर तथा रू0 400000 की आय पर 15 प्रतिशत की दर से कर लगेगा लेकिन 400000 रू0 से ऊपर आय वृद्धि पर कर की दर 15 प्रतिशत ही रहेगी। यह कर प्रगतिशील तथा प्रतिगामी कर प्रणाली की संयुक्त विशेषताओं के आधार पर व्युत्पन्न किया गया है।

### (4) विशिष्ट कर एवं मूल्यानुसार कर

विशिष्ट कर वे कर कहलाते हैं जिन्हें किसी वस्तु के भार आकार या इकाईयों की संख्या के आधार पर लगाया जाता है, जबकि मूल्यानुसार कर वह कर है जिसे वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। सामान्य रूप से मूल्यानुसार कर को अधिक महत्व दिया जा रहा है।

### (5) लोक सत्ताओं के आधार पर कर

लोक सत्ताओं के अधिकार के आधार पर करों को निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है –

– **केन्द्रीय सरकार के कर :** जो कर किसी देश की केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं जैसे भारत में आय कर जो देष की संघीय सरकार द्वारा लगाया जाता है।

– **राज्य सरकार के कर :** किसी देश के अन्दर वहाँ की अलग–अलग राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले कर इस श्रेणी में आते हैं, जैसे भारत में कृषि तथा मनोरंजन कर आदि राज्यों की सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं।

– **स्थानीय कर :** ये कर स्थानीय सरकारों जैसे – नगर निगम, पंचायत द्वारा लगाये जाते हैं जैसे पथकर, गृहकर, जलकर आदि।

### 6. अन्य वर्गीकरण

करों के अन्य वर्गीकरणों में व्यक्ति कर तथा वस्तु कर, अस्थायी तथा स्थायीकर एवं सम्पत्ति कर तथा वस्तुकर (Tax on Propety and Tax on Commodity) को भी शामिल किया गया है।

## करारोपण की आवश्यकता

आपको इस बिन्दु के अन्तर्गत यह समझ में आ जायेगा कि किसी राजसत्ता या सरकार को करारोपण की आवश्यकता क्यों पड़ती है। क्या अन्य साधनों से करारोपण से प्राप्त राजस्व की भरपाई नहीं की जा सकती। किसी अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा करारोपण की आवश्यकता को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

1. सरकार के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता अपने सामाजिक कार्यों के लिए किये जाने वाले व्यय की पूर्ति के लिए आय प्राप्त करना निर्धारित की गयी। यह आवश्यकता अत्यन्त ही प्राचीन तथा सार्वभौमिक रूप में देखी गयी है।
2. विकास के दौर में सरकारों के सामने एक अन्य चुनौती स्वयं की अर्थव्यवस्थाओं को संतुलित स्तर पर चलाने की रही है। अर्थव्यवस्थाओं के नियमन एवं नियन्त्रण के लिये सरकारों द्वारा करारोपण का सहारा लिया गया है। व्यापारिक चक्रों की स्थिति, विदेशी प्रभाव आदि से बचने के लिए भी करारोपण को एक उपकरण के रूप में अपनाया जाने लगा है।
3. समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियों को दूर करने के लिए भी करारोपण पद्धति का सहारा समय–समय पर सरकारें लेती रही हैं। धन के असमान वितरण की समस्या का सामना करने वाली अर्थव्यवस्थाओं के लिए करारोपण की भूमिका और अधिक बढ़ जाती हैं।

**प्रो0 राजा चलैया** के एक कथन से करारोपण की आवश्यकता को और अधिक स्पष्ट रूप में रखा जा सकता है :–

*''एक विकासोन्मुख देश में एक अच्छी कर पद्धति का कार्य यह होना चाहिए कि वह उस आर्थिक वेशी को गतिशील करे जो अर्थव्यवसथा में अभी हाल में उत्पन्न हुई हो। आर्थिक वेशी उस अन्तर को कहते हैं जो वास्तविक चालू उपज तथा वास्तविक चालू उपभोग के बीच पाया जाता है। भारत जैसे देश में आर्थिक वेशी का एक बड़ा भाग कृषि क्षेत्र में उत्पन्न होता है। वह किसानों, व्यापारियों तथा अन्य लोगों द्वारा अपने पास रख लिया जाता है और ये लोग इस वेशी को उत्पादक विनियोजन में लगाने के अभ्यस्त नहीं होते। आर्थिक विकास की दृष्टि से कर नीति का कार्य यह है कि वह इस वेशी को गतिशील करे, उसे उत्पादक स्रोतों की ओर मोड़े तथा उसके आकार में निरन्तर वृद्धि करे।'*

इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए करारोपण की आवश्यकता भी अहम भूमिका अदा करती है।

## 16.5 सारांश

करारोपण एक अत्यन्त प्राचीन अवधारणा है। सरकारों को अपने सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए करारोपण द्वारा अनिवार्य रूप से कुछ धनराशि बसूली जाती है जिसे जनता द्वारा अदा किया जाता है। करारोपण का निर्धारण सरकारों द्वारा मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता है। इसके लिये करारोपण के अनेक सिद्धान्तों का सहारा लिया जाता है लेकिन यह वहाँ की अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति पर निर्भर करता है। एडम स्मिथ, विलियम पेटी, डि–मार्को, डॉल्टन, मसग्रेव, कॉलवर्ट, वैगनर तथा सैलिगमैन आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा करारोपण के लिए अलग–अलग सैद्धान्तिक विचारों का प्रतिपादन किया है।

करारोपण का वर्गीकरण भी विभिन्न आधारों पर किया गया है। किसी देश की सरकारक अपनी आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के आधार पर उनमें से करों का चयन करती है। सामान्य रूप से प्रत्यक्ष कर, परोक्ष कर, एकल कर–बहुकर तथा करों की दर के आधार पर वर्गीकरण को प्राथमिकता दी गयी है। सरकार के कार्यों कीपूर्ति गैर–कर राजस्व से कर पाना सम्भव नहीं होती है इसीलिए सरकाकरों को करारोपण की आवश्यकता होती है। अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए भी करारोपण का सहारा लिया जाता है।

## 16.6 शब्दावली

1. **कर** – सरकार द्वारा जनता से अनिवार्य रूप से वसूला जाने वाला अंशदान।
2. **करारोपण** – अनिवार्य रूप से वसूले जाने वाले अंश दान के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया या प्रणाली।
3. **सार्वजनिक सत्ता** – सरकार
4. **करदाता** – कर को अदा करने वाले व्यक्ति/संस्था करदाता कहलाता है।
5. **मिव्ययता** – कम या आवश्यकतानुसार खर्च करने की प्रवृत्ति।
6. **द्रव्य** – मुद्रा की राशि।
7. **लोचता** – लचीला पन।
8. **कर प्रणाली** – विभिन्न प्रकार के करों को लगाने के लिए अपनायी जाने वाली तकनीकी।

9. **सेवा लागत** – उपलब्ध कराने वाली सेवा के कारण उठायी गयी लागत।
10. **कराघात** – कर को प्रारम्भिक रूप से वहन करने वाला।
11. **कर–आपतन** – कर का अन्तिम रूप से पड़ने वाला भार।

## 16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- आर0 ए0 मसग्रेव पब्लिक फिनान्स इन ए डेमोक्रेटिक सोसाइटी वाल्यूम
- आर0 ए0 मसग्रेव द थियरी ऑफ पब्लिक फिनान्स मैग्राहिल 1984
- जे0सी0 पन्त राजस्व ,लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन 1979
- अमरेश बागेची रीड़िग इन पब्लिक फिनान्स आक्सफोर्ड 1980
- ए0 प्रमचन्द गवर्नमेन्ट बजटिंग एण्ड एक्सपेन्डीचर कन्ट्रोल imf 1983
- एस0 के0 सिंह लोक वित्त साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा 2008
- H.Parnell, On Financial reform quoted by G Findaly shiras in the science of Public F inancle, p.31


## 16.8 सहायक पाठ्य सामग्री


- भाटिया एच0एल0 (2006) लोकवित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0लि जंगपुर नई दिल्ली
- जे0सी0 (2005) राजस्व लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता अनुपम प्जाजा संजय प्लेस आगरा


## 15.10 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

5. प्रो0 डाल्टन द्वारा राजस्व की दी गयी परिभाषा को संक्षेप में समझाइए।
6. किन्ही तीन बिन्दुओं के आधार पर राजस्व की प्रकृति और क्षेत्र को समझाइए।
7. सार्वजनिक वित्त और नीजि वित्त में अन्तर के किन्ही दो कारणों को लिखिए।
8. राजस्व के महत्व पर संक्षेप में विचार प्रकb कीजिए।

## 15.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1- अधिकतम सामाजिक कल्याण किस बिन्दु पर होता है?

# इकाई 17 बजट एवम् बजट निर्माण

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 बजट का अर्थ, परिभाषा एवम् विशेषताएँ
17.4 एक अच्छे बजट के गुण
17.5 बजट का आर्थिक महत्व
17.6 भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया
    17.6.1 बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा
    17.6.2 बजट का दस्तावेज
    17.6.3 बजट की स्वीकृति
    17.6.4 बजट का क्रियान्वयन
    17.6.4 वित्तीय कोषों का लेखांकन एवं लेखा परीक्षण
17.7 बजट – विधायी नियंत्रण का एक उपकरण
17.6 सारांश
17.7 शब्दावली
17.8 प्रश्नो के उत्तर

## 17.1 प्रस्तावना

आपने पूर्व की इकाई के अन्तर्गत सार्वजनिक आय व व्यय से सम्बन्धित अनेक पक्षों को भली–भांति समझ लिया होगा। प्रस्तुत इकाई लोक राजस्व एवं बजटिंग ब्लाक की बारहवीं इकाई है जो बजटिंग से सम्बन्धित हें प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप परम्परागत बजटिंग के साथ–साथ निष्पादन बजटिंग एवं शून्य आधार बजटिंग का भली–भांति अध्ययन कर सकेंगे। आप बजट की अवधारणाओं एवं परिभाषाओं से परिचित होने के साथ बजट की राजकोषीय नीति से सम्बद्धताओं का भी अध्ययन कर सकेंगे। परम्परागत बजटिंग के विभिन्न आयामों की विवेचना करने के बाद निष्पादन बजटिंग के विभिन्न पहलुओं तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। शून्य आधारित बजट की अवधारणा एवं मुख्य विशेषताओं से आपको परिचित कराया जा सकेगा। इसके साथ शून्य आधार बजट को अपनाने एवं क्रियान्वित करने में आने वाली कठिनाइयों से भी आप भली–भांति परिचित हो सकेंगे।

## 17.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कने के बाद आप अच्छी तरह से समझ सकेंगे कि –

(i) बजट का क्या आशय है तथा किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिए बजट की क्या सार्थकता पायी जाती है।

(ii) परम्परागत बजटिंग के विभिन्न आयामों को समझने के साथ इसके मूलभूत तत्वों को आप भली–भांति समझ सकेंगे।

(iii) अर्थव्यवस्थाओं के लिए अलग–अलग प्रकार के बजटिंग प्रणाली की क्या आवश्यकता है तथा भविष्य में उनकी क्या उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

(iv) अर्थव्यवस्थाओं में व्याप्त अनेक प्रकार की वित्तीय अनियमितताओं के चलते शून्य आधार बजटिंग क्यों महत्वपूर्ण है तथा इसके मार्ग में किस प्रकार की तथा क्यों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(v) एक बजटिंग प्रक्रिया किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए क्यों आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होती है।

## 17.3 बजट का अर्थ, परिभाषा एवम् विशेषताएँ

बजट से हमारा आशय सरकार या लोकसत्ताओं द्वारा वित्तीय संसाधनों को जुटाने एवं उनको व्यय करने सम्बन्धी कार्यक्रमों की रूपरेखा से लगाया जाता है। बजट एक सरकारी प्रपत्र होता है, जिसमें सार्वजनिक कार्यक्रमों को संचालित करने के लिये आवश्यक कार्यों की पूर्ति हेतु स्रोत एवं मात्रा के साथ सम्बन्धित मदों का पूर्ण विवरण दिया होता है। जिसका सम्बन्ध किसी एक निश्चित समयावधि से होता है। सामान्यतः यह समय अवधि एक वर्ष की होती है। इस प्रकार बजट सरकार के अर्थपूर्ण प्रशासन एवं कुशलता का प्रतीक माना गया है। बजट की मुख्य विशेषताओं एवं मुख्य आयामों से आप बजट के आशय को भली–भांति समझ सकेंगे।

कहा जाता है कि बजट शब्द की व्युत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द **''बॉगैट''** (Bougette) से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– **''चमड़े का एक छोटा थैला''**। जिसमें वितमंत्री अपने कागजात रखता है, परन्तु आजकल बजट का अर्थ केवल थैले या विवरण से नहीं बल्कि उस थैले में रखी वस्तुओं और विवरण की मुख्य मदों से लगाया जाता हैं। सामान्य रूप से

बजट एक अर्थव्यवस्था के कुशल एवं नियंत्रित संचालन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। जिसके अभाव में किसी भी अर्थव्यवस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करना असम्भव माना जाता है।

बजट सरकारी आय एवम् व्यय का एक वार्षिक विवरण–पत्र है। जिसमे पिछले व चालू वर्ष के वित्तीय लेखों के साथ–साथ अगले वर्ष के आय व व्यय के अनुमानों का वार्षिक वित्तीय विवरण–पत्र होता है। जोकि देश में सार्वजनिक कल्याण हेतु, नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफलता के लिए बहुत ही आवश्यक समझा जाता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई बजट की मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :–

**प्रो0 रैने स्टोरण** (Prof. Rene Stourn) के अनुसार, *''यह एक प्रपत्र जिसमें सार्वजनिक राजस्व और व्यय की प्रारम्भिक स्वीकृत योजना सम्मिलित होती है।''*

**फिण्डले शिराज** (Findlay Shirras) के अनुसार, *''बजट आय तथा व्यय का पुर्वानुमानित विवरण है। यह सरकार द्वारा अनुमानित व्यय को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। इसमें सामान्यतः दो अवधियाँ होती हैं – समाप्त होने वाली अवधि तथा आगामी अवधि। संक्षेप में बजट पिछले वर्ष के आय–व्यय के अनुमान के साथ–साथ आगामी वर्ष के आय–व्यय के पूर्वानुमान तथा उसके घाटें को पूरा करने और बचत को वितरित करने के लिए प्रस्ताव होते हैं।''*

**किंग** (king) के अनुसार, *''बजट एक प्रशुल्क योजना है, जिसके द्वारा व्यय को आय से सन्तुलित किया जाता है।''*

**प्रो0 बेस्टेबल** (Prof. Bastable) के अनुसार, *''बजट का अर्थ है एक दिये गये समय के लिये वित्तीय प्रबन्ध जिस के साथ विधान सभा में स्वीकृत के लिये पेश करने का सामान्य उलझाव जुड़ा हुआ है''*

**पी0एफ0 टेलर** (P.F. Taylor) के शब्दों में, *''बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है। यह आगामी आय के अनुमान तथा बजट के प्रस्तावित व्ययों के अनुमान साथ–साथ प्रदान करता है।''*

**डब्ल्यू0पी0 विलोबी** (W.P. Willoughby) के अनुसार, *''बजट एक साथ एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय प्रशासन की सभी विधियों को सम्बन्धित किया जाता है, उसकी तुलना की जाती है और उसमें समन्वय स्थापित किया जाता है।''*

अतः उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं की बजट एक ऐसा वित्तीय विवरण है, जो एक निश्चित समय से पूर्व बनाया जाता है, जिसमें किसी विशेष समयावधि के अंतर्गत निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अपनाई जाने वाली नीतियों का विवरण दिया जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हमें बजट की विभिन्न विशेषताओं का पता चलता है, जोकि इस प्रकार हैं–

- यह सम्बन्धित सार्वजनिक विभाग के लिये उस विभाग के प्राधिकारियों द्वारा तैयार किया जाता है, जिसमे प्रत्याशित आय और व्यय का विवरण होता है।
- बजट का आधार नकद राशि होती है।
- इसमें अनुमानित आय व व्यय के आँकड़े दिये होते है।
- इसे सार्वजनिक प्राधिकरण की स्वीकृति प्राप्त होती है।

- यह उन विधियों को निर्धारित करता है, जिसके आधार पर आय का संग्रहण और व्यय का प्रशासन क्रियान्वित होता है।
- यह एक निश्चित अवधि के लिए बनाया जाता है। सामान्यतः यह अवधि एक वर्ष की होती है।

## 17.4 एक अच्छे बजट के गुण

बजट के उद्देश्यों के अध्ययन उपरान्त्, आपको बजट के गुणों से अवगत करवाने के लिये, इस उपखण्ड़ में हम आपको यह बतायेगें कि वे कौन से गुण है, जो बजट को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। एक अच्छे बजट में निम्नलिखित गुण होने चाहिए–

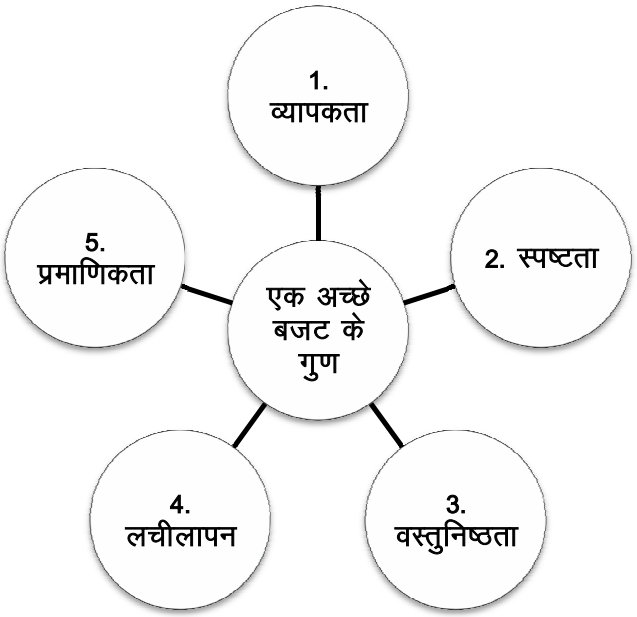


1. **व्यापकताः–** किसी भी बजट को अच्छा होने के लिए उसमें पर्याप्त व्यापकता होनी चाहिए। इस व्यापकता का उद्देश्य तभी परिपूर्ण होता है, जब बजट को दस्तावेजों के साथ–साथ विभिन्न विभागों के निष्पादन सम्बन्धित विवरण लगाए जाते हैं।
2. **स्पष्टताः–** बजट में स्पष्टता होनी चाहिए ताकि विधान मंडल के सदस्य व जनता उसे आसानी से समझ सके। बजट प्रस्तावों के साथ विभिन्न विभागों और मंत्रालयों के सम्बन्ध में प्राप्तियों व व्ययों के अनुमानों का विवरण प्रमुख शीषकों के अंतर्गत होना चाहिए।
3. **वस्तुनिष्ठताः–** सामान्यतः वित्तीय अनुमान पूर्ण रूप से सटीक नही होते है लेकिन वित्तीय अनुमानों को वास्तविकता से बहुत हटकर भी नही होना चाहिए। सार्वजनिक बजट वस्तुनिष्ठता होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उनको पिछले वर्ष के वास्तविक आकड़ों के निकट होना चाहिए।
4. **लचीलापनः–** एक अच्छे सार्वजनिक बजट में लचीलेपन का गुण निहित होता हैं। जिसमे प्राधिकारियो के विवेक के उपयोग की पूर्ण गुंजाइश होती हैं।

5. **प्रमाणिकताः–** सार्वजनिक बजट को प्रमाणिक अर्थात् विश्वसनीय होना चाहिए। जिसमे विधान सभा के सदस्यों व जनता की उम्मीदों के अनुसार राजकोषीय कार्यक्रमों को शामिल करना चाहिए।

## 17.5 बजट का आर्थिक महत्व

किसी भी देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक बजट की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बजट केवल अनुमानों का प्रस्ताव मात्र नहीं अपितु भूतकाल के अनुभव पर आधारित भविष्य की एक ऐसी व्यापक योजना है, जो सरकार की आर्थिक व सामाजिक विचारधारा को प्रकट करती है। इसीलिए बजट को आर्थिक नीति का साधन माना जाता है। निम्नलिखित तथ्यों के अध्ययन उपरांत् ही आपको यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार बजट आर्थिक नीति का साधन है।

1. **आर्थिक गतिविधियो को प्रोत्साहन** :–बजटीय प्राप्तियां और व्यय के माध्यम से औद्योगिक क्षेत्रों की गतिविधियो को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह कार्य औद्योगिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण उद्योगों को कर–मुक्त या कर में छूट द्वारा, कृषि सम्बन्धी कच्चा माल उपलब्ध करवा कर और आवश्यक सेवायें उपलब्ध करवा कर किया जाता है। इसके साथ–साथ बजट, कृषि एवं लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों के विकास को भी प्रभवित करती है।
2. **मानव पूँजी निर्माण** :– देश के आर्थिक विकास के लिए मानवीय पूँजी के निर्माण की आवश्यकता होती है। बजटीय व्यवस्थाएं देश में मानवीय पूँजी के स्तर को सुधारने में सहायक सिद्ध होती है।
3. **संसाधनों का उचित निर्धारण** :– साधनों का कुशलतम आवंटन के लिए सरकार को सार्वजनिक प्राधिकारियों द्वारा उत्पादन हेतु रियायतों के साथ–साथ वस्तुओं एवं सेवाओं को उपलब्ध करवानी होगी, जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं की सीमान्त लागत और मूल्य में समानता लाई जा सकती है।
4. **आय व रोजगार का सृजन** :– रोजगार सम्बन्धी कर में रियायतों के लिए बजटीय व्यवस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्रों में भी रोजगार के अवसरों को उत्पन्न किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में लधु स्तरीय उद्योगों में सुधार करके तथा पिछड़ें क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्योंगों की स्थापना आदि करके लक्ष्य प्राप्त किये जा सकतें हैं।
5. **बचत व निवेश** :– व्यक्तियों द्वारा काम करने की क्षमता व इच्छा और बचत व निवेश करने की शक्ति को विभिन्न मानवीय शक्ति– निर्माण उपायों और रोजगार के अवसर उत्पन्न करके बढ़ाया जा सकता है। यह बजटीय व्ययों द्वारा ही सम्भव हों सकता है।
6. **संतुलित विकास** :– देश का आर्थिक विकास, क्षेत्रीय असन्तुलनों से प्रभावित होता है। देश के इस भौगोलिक असन्तुलन को सरकार द्वारा सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना करके सुधारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कृषि एवं लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों के विकास को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।
7. **आधिक्य पूर्ण बजट तथा मुद्रा स्फीति से निवारण** :– मुद्रा स्फीति को कम करने के लिए बजट आधिक्य द्वारा जैसे कर व अन्य राजस्वों को बढ़ा कर और सार्वजनिक व्यय को कम करके अधिक क्रय–शक्ति को कम किया जा सकता है।
8. **निर्धनता से छुटकारा** :– बजटीय साधनों के व्यय का मुख्य लक्ष्य शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं आदि पर लोगों को निर्धनता से बचाने के लिए किया जाता है। भारतीय

शासन के अधीन अनेकों ऐसी बजटीय योजनाओं का संचालन किया जाता है, जिनका कार्य देश में रोजगार को सुनिश्चित करना, सामाजिक सुरक्षा, कच्चे माल की आपूर्ति आदि होता है।

9. **असमानता कम करना :–** बजट का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आय व धन की असमानता को कम करना है। बजटीय आय–व्यय कार्यक्रम शिक्षा सम्बन्धी सेवायें उपलब्ध करवाना, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि निवेश एवं आर्थिक सहायता आदि के द्वारा देष में व्याप्त निर्धनता और समृद्धि के बीच के अंतर को कम करने का कार्य करते है।
10. **राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े उपलब्ध करवाना :–** बजट के आधुनिक आर्थिक वर्गीकरण में सार्वजनिक व्यय को आर्थिक महत्व की श्रेणियों में श्रेणीबद्ध करके महत्वपूर्ण लेखा आकड़े प्रदर्शित करते है। इन आकड़ों से आर्थिक लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक ढ़ग से प्राप्त किया जा सकता है।
11. **सार्वजनिक कोष के अनुचित उपयोग पर रोक :–** बजट द्वारा कर एकत्रीकरण करने वालों और सार्वजनिक कोष के अनुचित उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। जो बजट काल के दौरान सार्वजनिक राजस्वों और व्ययों से सम्बन्धित है।

अतः यह स्पष्ट की एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में सार्वजनिक बजट का अभिन्न अंग है।

## 17.6 भारत में बजट निर्माण की प्रकिया

बजट निर्माण एक अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल आर्थिक प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न मन्त्रालयों, विभागों और कई प्रमुख संस्थाओं का योगदान रहता है। हमारे यहाँ वित्तीय वर्ष की अवधि जिसके लिए बजट बनाया जाता है, प्रत्येक वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की रहती है।

किसी देश में बजट बनाने से पूर्व निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके बाद बजट बनाने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए।

- संकट काल को छोड़कर सामान्य काल में बजट संतुलित होना चाहिए।
- बजट में सभी प्रकार की आयों को सम्मिलित करनी चाहिए। बजट का आधार नकद होना चाहिए।
- बजट के आय–व्यय अनुमान काल्पनिक न होकर वास्तविकता के आस–पास होना चाहिए।
- बजट में समाप्ति के नियम को आधार मानकर जिस वर्ष के लिए व्यय की राशि स्वीकृत होती है। उस राशि को उसी वर्ष व्यय किया जाना चाहिए। यही व्यवस्था उत्तम व्यवस्था है और भारत में इसी व्यवस्था को लागू किया गया है।

भारत में बजट की प्रक्रिया को पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है जोकि इस प्रकार है –

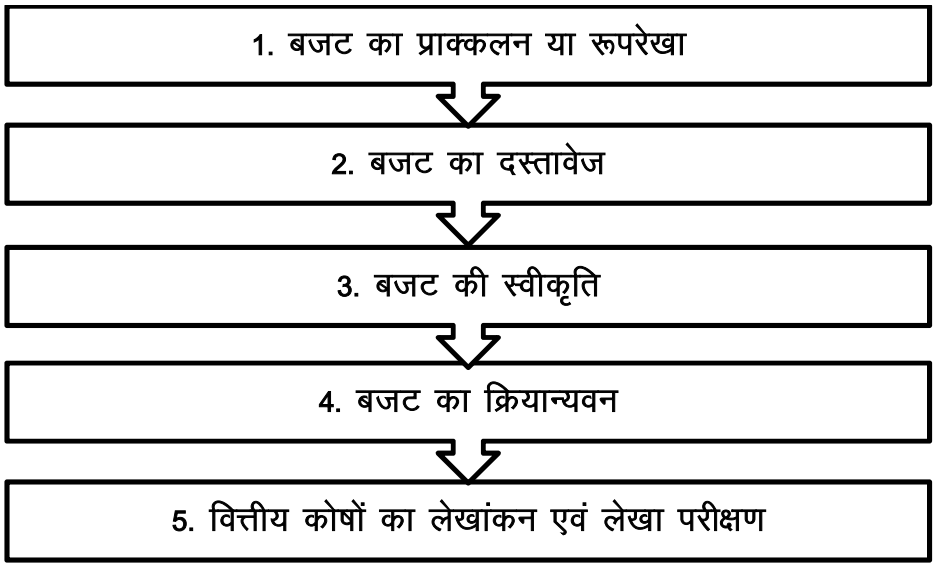


भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया के पाँचों चरणों के बारे में विस्तार से आप अब पढ़ेगें।

## 17.6.1 बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा

भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया का पहला चरण बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा है और बजट निर्माण की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम वित्त मन्त्रालय द्वारा प्रशासनिक मन्त्रालयों, योजना आयोग तथा नियंत्रक महालेखा परीक्षक के सहयोग से बजट की रूपरेखा तैयार की जाती है। इसमें प्रशासकीय मन्त्रालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों से प्राप्त विवरण के आधार पर वित्त मन्त्रालय को प्रशासकीय आवश्यकताओं की जानकारी प्रदान करते हैं। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के बारे में परामर्श देता है तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक 'बजट का प्राक्कलन' तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय को लेखा कौशल उपलब्ध कराता है। इस प्रकार पहले चरण में व्ययों के अनुमान तैयार किए जाते हैं जिसके लिए वित्त मन्त्रालय द्वारा जुलाई/अगस्त में विभिन्न मन्त्रालयों एवं विभागों को एक प्रारूप प्रेषित किया जाता है। इस प्रपत्र में विनियोग के शीर्षक तथा उपशीर्षक, गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय, वर्तमान वर्ष की स्वीकृत अनुमान, वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान, आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन के अतिरिक्त आय–व्यय में हुई कमी/बढ़ोत्तरी के मद होते हैं। इस प्रपत्र को भरकर विभिन्न विभाग अपने प्रशासकीय मन्त्रालय को भेजते हैं, जो उन्हे संशोधित करके नवम्बर के मध्य तक वित्त मन्त्रालय को प्रेषित करते हैं। इस प्रपत्र की एक प्रति सभी सम्बन्धित विभाग, महालेखा परीक्षक के पास भी विचारार्थ भेजते हैं जो अपनी टिप्पणी के साथ इसे वित्त मन्त्रालय तथा प्रशासकीय मन्त्रालय के पास भेजता है। प्रशासकीय मन्त्रालयों द्वारा बजट के अनुमानों का सूक्ष्म परीक्षण सरकारी नीतियों के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि वित्त मन्त्रालय द्वारा इसका परीक्षण मितव्ययिता के उद्देश्य से किया जाता है। व्यय के अनुमानों के परीक्षण के दौरान योजना आयोग से भी परामर्श लिया जाता है।

इस प्रकार व्ययों के अनुमान तैयार हो जाने के बाद वित्त मन्त्रालय द्वारा सरकारी आय अथवा राजस्व के अनुमान तैयार किये जाते हैं। इस हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा आयकर विभाग, सीमा शुल्क विभाग तथा केन्द्रीय उत्पादन कर विभाग से विगत वर्ष में संग्रह की

गई धनराशि के आँकड़ों के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सम्भावित आय का अनुमान लगाया जाता है जिसके आधार पर आगामी वर्ष में करों की दरों का पुनर्निधारण करने हेतु प्रस्ताव तैयार किया जाता है।

### 17.6.2 बजट का दस्तावेज

बजट का दस्तावेज तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा समस्त विभागों की माँगो को एकत्रित करके तथा वित्तीय नीति सम्बन्धी मामलों में सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद में निर्णय लेकर दो अलग–अलग भागों में आय और व्यय का विवरण तैयार किया जाता है, जो बजट दस्तावेज कहलाता है। वित्त मन्त्री द्वारा इस दस्तावेज को सामान्यतया फरवरी के अन्तिम कार्य दिवस में लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है और इसके बाद वित्त मन्त्री द्वारा बजट भाषण दिया जाता है जिसमें जनता, राजनेता, कर्मचारी तथा व्यापारी वर्ग आदि सभी लोग बड़ी उत्सुकता रखते हैं। भारत में संघीय शासन व्यवस्था होने के कारण राज्यों व केन्द्र के अलग–अलग बजट होते हैं। 1911 के बाद भारत में रेलवे बजट को अलग से प्रस्तुत किया जाने लगा है।

### 17.6.3 बजट की स्वीकृति

बजट निर्माण कार्य पूर्ण हो जाने के बाद, उसे राज्य सभा व लोकसभा के द्वारा पारित कराया जाता है। बजट पर संसद में चर्चा की जाती है। इस हेतु लोक सभा के कार्य संचालन नियम संख्या 207 (1) (2) में बजट प्रस्तुतीकरण के बाद की जाने वाली सामान्य चर्चा के दिशा–निर्देश उल्लिखित हैं। इसमें प्रावधान यह है कि संसद सम्पूर्ण बजट के बारे में विचार–विमर्श कर सकती है, लेकिन वाद–विवाद के मध्य न तो कोई प्रस्ताव पेश किया जा सकता है और न ही सदन में बजट पर मतदान कराया जा सकता है। लोक सभा में अलग–अलग मन्त्रालयों के लिए क्रमवार अनुदान माँगों को पेश किया जाता है। हमारा आम बजट 109 माँगों में विभाजित रहता है जिसमें 103 माँगे लोक व्यय से सम्बन्धित हैं तथा 6 माँगे सुरक्षा व्यय से सम्बन्धित होती हैं।

बजट जब तक स्वीकृत नहीं हो जाता है तब तक वह प्रभावी नहीं माना जाता है। लोकसभा द्वारा बजट का पारित होना अनिवार्य है। संसद के सामने वित्तमंत्री के द्वारा बजट का लेखा प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करते समय वह अपना बजट– भाषण भी देता है, जिसमें पूरे वर्ष की आर्थिक नीति की समीक्षा होती है। बजट– भाषण में नये करों व नये व्ययों का विवरण दिया जाता है और ऐसा करने का उद्धेश्य भी स्पष्ट किया जाता है। बजट घाटा अथवा बचत के भी हो सकते हैं। अतः वित्तमन्त्री को इस बात पर प्रकाश डालना होता है कि उसने ऐसा बजट क्यों बनाया ? इस प्रकार के बजट की क्या आवश्यकता पड़ गयी और इससे सामान्य जनता को क्या लाभ होने वाला है, आदि। इन सभी बातों को स्पष्टीकरण बजट– भाषण में दिया जाता है। वित्त– मन्त्री द्वारा सदन में जो भाषण सुनाया जाता है, उसकी छपी हुई एक–एक प्रति सदस्यों में वितरित की जाती है।

जब वित्त–मन्त्री अपना पूरा भाषण पढ़ देते हैं तब उस भाषण पर बहस के लिए अलग से दिन निश्चित कर दिया जाता है। बजट पर बहस का दिन निश्चित कर लेने के बाद फिर उस पर पक्ष–विपक्ष के सदस्यों के द्वारा सामान्य रूप से चर्चा की जाती है। कुछ मदें होती हैं जिन पर पक्ष अथवा विपक्ष के सदस्य समान रूप से उसकी आलोचना या उसका सराहना कर सकते हैं। बजट पर सामान्य बहस हो जाने के बाद विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने–अपने विभागों के लिए अनुदानों की माँग करते हैं और इन पर अलग–अगल बहसें होती हैं।

व्यय की कुछ मदें ऐसी होती है जिनके लिए संचित कोष से प्रत्यक्ष माँग की जाती है। इन मदों पर सदस्यों को मतदान करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु इन मदों पर चर्चा हो सकती है। इस चर्चा का लाभ यह होता है कि सरकार को यह पता लग जाता है कि बजट के प्रति सदस्यों की क्या धारणा है। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यों को सरकार के प्रत्येक खर्चे पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है।

अनुदान माँगों पर विचार होते समय विपक्षी सदस्यों को बजट की आलोचना का पूरा अवसर मिलता है और उनके द्वारा अनेक प्रकार की कटौतियों के प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। कटौती का उद्देश्य मितव्ययता होता है। इस स्थिति को वित्तमन्त्री के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वह यह बताता है कि अमुक–अमुक मद में अमुक–अमुक कारणों से कटौती नहीं हो सकती हैं, या हो भी सकती है। यदि वित्तमन्त्री के स्पष्टीकरण से सदस्य सन्तुष्ट न हों तो वे उस पर मतदान करा सकते हैं। यदि कटौती का प्रस्ताव पारित नहीं होता, तो इसका अभिप्राय सरकार के प्रति अविश्वास का मत हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में सरकार अपने पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं है। यदि कटौतियों के सम्बन्ध में वित्तमन्त्री का स्पष्टीकरण सदस्यों को सन्तुष्ट कर देता है तो वे कटौती का प्रस्ताव वापस ले लेते हैं और मतदान नहीं होता।

अनुदान माँगों पर विचार– विमर्श की अवधि 26 दिन की होती है। इसमें विनियोजन विधेयक पास करवाया जाता है, जिससे सरकार को सरकारी कोष से धन खर्च करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके बावजूद व्यय की प्रतिपूर्ति हेतु– वित्तीय साधनों की प्राप्ति कर प्रस्तावों द्वारा ही सम्भव होती है, जिसके लिए वित्त विधेयक को प्रस्तुत किया जाता है। वित्त विधेयक में करों की दरों में संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव होते हैं। विनियोजन विधेयक तथा वित्त विधेयक दोनों सदनों–लोक सभा एवं राज्य सभा के लिए प्रेषित किया जाता है जिसके बाद राष्ट्रपति के हस्ताक्षरोपरान्त ही विधेयक कानून बन जाता है। इसी तरह राज्यों का बजट विधान सभाओं तथा विधान परिषदों से पास कराया जाता है और जब माँगों पर वोंटिग समाप्त हो जाती है तब केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल की स्वीकृति ली जाती है। इन लोगों को यह भी अधिकार होता है कि जिन लोगों की मदों को विधानसभा ने स्वीकृत नहीं किया है उनके लिए भी स्वीकृति दे दें। यदि वे चाहें तो बजट को पुनः विचार के लिए विधानसभा को भेज सकते हैं तथा पुनः स्वीकृति ली जाती है।

### 17.6.4 बजट का क्रियान्यवन

सामान्यतया जब बजट की माँगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनिमय बिल रखा जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य पारित की गयी माँगों को कानूनी रूप प्रदान करना तथा संचित कोष में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। भारतवर्ष में करों से प्राप्त होने वाली आय को संचित कोष में जमा किया जाता है और बाद में इस राशि को धीरे–धीरे निकाला जाता है। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर संसद द्वारा पारित की गयी माँगों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वे माँगे स्थायी रूप ले लेती हैं। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर केन्द्रीय आय बोर्ड को आय एकत्र करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस बोर्ड में विभिन्न विभाग आय को प्राप्त करके कोषागार में जमा करा देते हैं और बाद में इस राशि का उपयोग होने लगता है।

बजट के पास हो जाने के बाद कार्यकारिणी सभा इस बात पर नजर रखती है कि बजट में व्यय के लिए जो राशि स्वीकृत की गयी है उस राशि को व्यय किया जा रहा है अथवा नहीं। इस लेखे की जाँच करने के लिए एक 'राजकीय हिसाब समिति' होती है जो इसकी जाँच करती है। बजट के पास हो जाने पर उसकी सूचना विभिन्न विभागों द्वारा

भेज दी जाती है। इसके बाद कोई भी अधिकारी स्वीकृत राशि को तब तक व्यय नहीं कर सकता है जब कि वह ऐसा करने के लिए अपने से उच्च अधिकारियों की स्वीकृति न ले लेता हो। इस तरह बजट के सही क्रियान्वयन हेतु यह ध्यान दिया जाता है कि बजट के क्रियान्वयन से सम्बन्धित सरकारी तन्त्र पूर्ण निष्ठा और कुशलता से कार्य करने के लिए प्रेरित हो।

बजट के कार्यान्वयन में सामान्यतया पाँच प्रक्रियाएं सम्मिलित रहती हैं, यथा –

- वित्तीय स्रोतों का एकत्रीकरण
- वित्तीय संसाधनों का संरक्षण,
- वित्तीय संसाधनों का वितरण,
- सरकारी आय–व्यय का लेखा,
- लेखांकन।

बजट के क्रियान्वयन में लेखांकन का विशेष महत्व होता है। इसी वजह से 'नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक' के अधीन लेखा एवं अंकेक्षण विभाग की अलग से स्थापना की गई है, जो सभी प्रकार के सरकारी लेन–देन के ब्यौरेवार वर्गीकरण तथा मासिक एवं वार्षिक संकलन आदि के लिए उत्तरदायी होता है। प्रत्येक राज्य में इसके अधीन एक महालेखाकार का कार्यालय स्थापित किया गया है।

वित्तीय कोषों का लेखांकन चार स्तरों पर सम्पादित होता है –

- प्रारम्भिक लेखों की पूर्ति उपकोषागार स्तर पर होती है। जहाँ सभी प्रकार का लेन–देन होता है।
- दूसरे चरण में शीर्षकों के अनुसार सभी प्रकार के लेन–देन का वर्गीकरण किया जाता है।
- तीसरे चरण में लेखाधिकारियों द्वारा लेखों का मासिक संकलन किया जाता है
- चौथे चरण में भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा वार्षिक संकलन किया जाता है।

## 17.6.5 वित्तीय कोषों का लेखांकन एवं लेखा परीक्षण

सामान्यतया सभी सरकारी विभागों द्वारा प्रतिमाह के हिसाब महालेखाकार के कार्यालय प्रेषित किए जाते हैं। यहाँ पर इन्हें आय–व्यय के लिए निर्धारित विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है और फिर इन लेखों का नियमित रूप से लेखाधिकारियों द्वारा अंकेक्षण किया जाता है। अंकेक्षण के बाद महालेखा परीक्षक द्वारा इन लेखों का वार्षिक संकलन मुख्य चार शीर्षकों यथा – (1) राजस्व खाता, (2) पूँजीगत खाता, (3) ऋण खाता तथा (4) दूरस्थ प्राप्तियों में किया जाता है, जो बजट–सत्र के समय संसद के समक्ष प्रस्तुए किए जाते हैं और इस प्रकार बजट का अन्तिम चरण पूर्ण होकर बजट सम्बन्धी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

## 17.7 बजट – विधायी नियंत्रण का एक उपकरण

प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में सरकारी वित्त पर विधायिका का नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। भारत में इस नियन्त्रण के विकास का एक रोचक इतिहास रहा है। यहाँ 1911 में केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया है। इसके

साथ ही जन लेखा समिति का गठन किया जाता है, जिनमें निर्वाचित एवं सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को लिया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद विधायिका द्वारा लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति तथा सार्वजनिक उपक्रमों और विभागीय समिति के माध्यम से सार्वजनिक वित्त पर नियन्त्रण रखती है, इसलिए वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से समितियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जिनके बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन हम अगले अध्याय में करेगें।

लोक प्रशासन में विधायी नियंत्रण का अर्थ प्रशासन के दिन–प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप करना नहीं बल्कि विधायी नियंत्रण उसी समय कार्य करता है, जब लोक प्रशासन द्वारा कोई निर्णय ले लिया गया हो या लिया जाने वाला हो। यह उस समय भी कार्य करता है जब प्रशासन द्वारा आवश्यक कदम उठाने में अनावश्यक देरी की जा रही होती है। इस विधायी नियंत्रण का शासन पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। जब प्रशासन द्वारा किसी कार्य के सम्पादन के लिये विधायी नियंत्रण स्थापित किया जाता है तब इसे सकारात्मक प्रभाव कहते है। और जब विधायी नियंत्रण के माध्यम से लिए गए निर्णय को ठीक करने का प्रयास किया जाता है तब इसे नकारात्मक प्रभाव कहते है। भारत में विधायी नियत्रंण हेतु विभिन्न माध्यमों का प्रयोग किया जाता है जैसे– कानून के माध्यम से, वाद–विवाद से, बजट पर विचार–विमर्श से, प्रश्नकाल से, काम रोको प्रस्ताव से, अविश्वास प्रस्ताव से, संसदीय समितियो या फिर लेखा परिक्षण के माध्यम से। अध्याय के इस खण्ड में हम केवल बजट द्वारा किये जाने वाले विधायी नियंत्रण पर प्रकाश डालेगें।

प्रशासनिक प्रणाली में, बजट के द्वारा ही विधान मण्डल का सार्वजनिक वित्त पर नियंत्रण होता है। बजट निर्माण व क्रियान्वयन का कार्य, कार्यपालिका को ही करना होता है। विधान मण्डल, सार्वजनिक वित्त पर नियंत्रण करके ही कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। यह नियंत्रण कार्य वर्षों से किया जा रहा है परन्तु आधुनिक काल में इसकी परिधि मे विस्तार हुआ है। पहले यह नियंत्रण कार्य राजस्व वृद्धि तक ही सीमित था, किन्तु अब इसमें व्यय कार्यों को भी सम्मिलित कर दिया गया हैं। जैसा कि आपको ज्ञात होगा की कार्यपालिका द्वारा तैयार किये गये बजट का कोई महत्व नही है जबतक की वह विधानमण्डल के द्वारा स्वीकृत नही होता है। बजट निर्माण प्रक्रिया के दौरान विधान मण्डल ही बजट पर चर्चा करके अनुदानों को स्वीकृति प्रदान करता है। इसके उपरांत् विधायी प्रक्रिया के अनुसार बजट के क्रियान्वयन पर अनुमान समिति, लोक लेखा समिति एवम् नियंत्रक और महालेखा परीक्षक निगरानी रखते है। इसके साथ–साथ यह भी सुनिश्चित करते है कि धन का व्यय सही ढ़ग से व सही मद पर किया गया है अथवा नहीं। संसदीय शासन प्रणाली में सार्वजनिक आय व व्यय की संवैधानिक विधायी कार्य का उत्तरदायित्व विधान मण्डल का होता है। इसी कारण से कार्यपालिका की जवाबदेहीं विधानमण्डल के प्रति सदैव बनी रहती है। बजट निर्माण प्रक्रिया के दौरान, कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए कुछ सिद्धांतो का पालन करना चाहिए, जिससे की विधायी नियंत्रण करना सम्भव हो सकेगा। जोकि इस प्रकार है–

- बजट सम्बन्धित सभी तथ्यों को जनता के समक्ष रखना चाहिए।
- बजट में स्पष्टता होनी चाहिए ताकि विधान मंडल के सदस्य व जनता उसे आसानी से समझ सके।
- बजट पर्याप्त व्यापकता लिए होना चाहिए। इस व्यापकता का उद्देश्य तभी परिपूर्ण होता है, जब बजट को दस्तावेजों के साथ–साथ विभिन्न विभागों के निष्पादन सम्बन्धित विवरण लगाए जाते हैं।

- सभी सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति के लिए प्राप्त सभी राजस्व को एक सामान्य कोष में जमा करना चाहिए।
- सामान्यतः वित्तीय अनुमान पूर्ण रूप से सटीक नही होते है लेकिन वित्तीय अनुमानों को वास्तविकता से बहुत हटकर भी नही होना चाहिए। सार्वजनिक बजट वस्तुनिष्ठता होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उनको पिछले वर्ष के वास्तविक आकड़ों के निकट होना चाहिए।
- सार्वजनिक बजट को प्रमाणिक अर्थात् विश्वसनीय होना चाहिए। जिसमे विधान सभा के सदस्यों व जनता की उम्मीदों के अनुसार राजकोषीय कार्यक्रमों को शामिल करना चाहिए।
- विनियोजन एक निश्चित अवधि के लिए होना चाहिए। यदि कोई विनियोजन या विनियोजित राशि, निर्धारित अवधि में उपयोग नहीं की जाती है तो उसे उसी अवधि में खत्म हो जाना चाहिए।

उपरोक्त सिद्धांतों के द्वारा बजट के माध्यम से विधायी नियंत्रण किया जा सकता है परन्तु इन सिद्धांतों को वास्तविक रूप देने में कार्यपालिका को कठिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करना पडता है।

## 17.8 सारांश

भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का प्रमुख उत्तरदायित्व वित्त मन्त्रालय का है। वित्त मन्त्रालय का प्रमुख वित्त मन्त्री होता है, जो राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। लोक वित्त का उचित वितरण एवं प्रयोग करना उसका प्रमुख कार्य है। 'बजट' का निर्माण एक दिन में न करके अपितु साल भर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में करता है। जिसके प्रमुख रूप में चार चरण है प्रथम वह बजट की तैयारी करता है, जिसके अर्न्तगत वह बजट अनुमान आगामी वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के 7 से 8 माह पूर्ण प्रारम्भ करता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण करने में विभिन्न प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक उसकी सहायता करते। द्वितीय चरण में बजट की संसदीय स्वीकृति प्राप्त की जाती है। जहाँ बजट प्रस्तुतीकरण से लेकर धन विधेयक की स्वीकृति लेखानुदान माँगों को पास करना, विनियोग विधेयक एवं वित्त विधेयक की स्वीकृति ली जाती है। तृतीय चरण में बजट का क्रियान्वयन है,जिसके अन्तर्गत वित्त के एकत्रीकरण, संरक्षण, वितरण लेखा एवं अंकेक्षण और प्रतिवेदन की प्रक्रिया समाहित है। बजट निर्माण प्रक्रिया का अन्तिम चरण उसका विधायी नियन्त्रण है जो संसदीय एवं विभागीय समितियों एवं नियत्रक–महालेखा परीक्षक के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं प्रशासनिक कार्यो को बिना वित्त के पूर्ण किया जाना सम्भव ही नहीं है। वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। बजट के निर्माण, क्रियान्वयन और उस पर नियन्त्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया के केन्द्र बिन्दु वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के द्वारा किये जाने वाले वे सभी कार्य आते है, जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन–देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण और इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है। इसीलिए कहा जाता है कि प्रशासनिक इंजन का

ईधन वित्त है। प्रशासन के प्रत्येक कार्य वित्त के अभाव में पूर्ण नही किया जा सकता जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है उसी प्रकार प्रशासन में वित्त उसकी नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योकि वित्त के अभाव में उनका कार्यान्वयन सम्भव नहीं है। इसी कारण वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।

## 17.9 शब्दावली

**पूँजी व्यय :–** यह अर्थव्यवस्था में भौतिक रूपी की परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिए किया लाने वाला व्यय है जैसे– भूमि, मशीन, भवन आदि।

**राजस्व व्यय :–** यह अर्थव्यवस्था में सरकारी विभागों में सामान्य कार्यों पर किया जाने वाला व्यय है जिसके द्वारा किसी भौतिक परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता है जैसे–वेतन, दैनिक खर्च आदि।

**पूँजी प्राप्तियां :–** ये सरकार द्वारा जनता से लिये गये ऋण जिन्हे बाजार ऋण कहते है। भारतीय रिजर्व बैंक या विदेशी संस्थानो से लिये गये ऋण आदि

**वित्त विधेयक :–** वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के करारोपण प्रस्तावो को प्रस्तुत किया जाता है। जिसका स्वीकृति संसद से आवश्यक होती है।

**धन विधेयक :–** संविधान के अनुच्छेद 110(1) में उल्लिखित किसी विषय से सम्बन्धित होता है। जो वित्त विधेयक तो होता है। इसका संबन्ध विशेषतया कराधान, ऋणादान अथवा व्यय से होता है। वित्त विधेयक की धन विधेयक के रूप में प्रमाणित लोक सभा अध्यक्ष द्वारा होती है।

## अभ्यास प्रश्न

**अ.** लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. बजट क्या है? इसके आर्थिक महत्व को बताइए।
2. वित्तीय वर्ष से क्या आशयहै?
3. वार्षिक वित्तीय विवरण से आपका क्या जानते है?
4. 'बजट की स्वीकृति' से आप क्या समझते है?
5. वित्त पर संसदीय नियत्रंण के औचित्य को लिखिए।
6. 'बजट के क्रियान्वयन' से आपका क्या तात्पर्य है?

**ब**. रिक्त स्थान भरिए

1. संविधान के अनुच्छेद.....के अनुसार भारत सरकार अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।
2. भारत में वित्तीय वर्ष.....से आरम्भ होकर.....मार्च तक रहता है।
3. लेखानुदान बजट सत्र के दौरान.....तक पारित कर दिया जाता है।

**अभ्यास प्रश्न**

**ब**.रिक्त स्थान भरिए– **1.** 112, **2.** 1 अप्रैल से, 31, **3.** 31 मार्च।

## 17.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- भाटिया, एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त,*** विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व,*** लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- सावले, द्वारका प्रसाद (2006), ***लोक प्रशासन,*** एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
- फड़िया, बी0 एल0 (2010), ***लोक प्रशासन,*** साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।

- अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) ***भारतीय प्रशासन***, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।


## 17.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री


- सावले, द्वारका प्रसाद (2006), ***लोक प्रशासन***, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
- फड़िया, बी0 एल0 (2010), ***लोक प्रशासन***, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।
- अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) ***भारतीय प्रशासन***, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।
- भाटिया, एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त,*** विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व,*** लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।


## 17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वर्तमान कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में वित्तीय प्रबन्ध क्यों महत्वपूर्ण हो गया है ?
2. भारत में बजट निर्माण प्रकिया को स्पष्ट कीजिए।
3. 'बजट क्रियान्वयन' प्रक्रिया को विस्तार से बताइए।

# इकाई–18 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् क्लासिकल सिद्धान्त

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ
18.3.1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ व परिभाषा
18.3.2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विषय–वस्तु
18.3.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ व हानियाँ
18.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार
18.5 प्रतिष्ठित सिद्धान्त
18.5.1 भूमिका
18.5.2 मान्यताएं
18.5.3 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त
18.5.4 रिकार्डो का तुलनात्मक सिद्धान्त
18.5.5 आलोचनाएं
18.6 सारांश
18.7 शब्दावली
18.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
18.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
18.10 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ
18.11 निबंधात्मक प्रश्न

## 18.1 प्रस्तावना (Introduction)

मुद्रा बैंकिग, लोक वित्त एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के खण्ड द्वः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से सम्बन्धित यह अठारहवीं इकाई है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की ही विशेष स्थिति है। समस्त आंतरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं का आधार वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय या क्रय–विक्रय है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सम्बन्ध राष्ट्रों के मध्य समस्त आर्थिक सौदों से है।

प्रस्तुत इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार, अर्थ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के बारे में विस्तार से बताया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित व्यापार सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 18.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्थ एवम् प्रकृति को समझ सकेंगे।
- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में अन्तर को जान सकेंगे।
- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।
- ✓ प्रतिष्ठित सिद्धान्त के लाभ और कमियों को समझ सकेंगे।

## 18.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ, परिभाषा, विषय–वस्तु और लाभ व दोष (Meaning, Definition, Subject-matter and Advantages and Disadvantages of International Trade)

**18.3.1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ व परिभाषाः–** व्यापार का अर्थ है वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय या क्रय–विक्रय। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, व्यापार का ही एक विशेष स्वरूप है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ है राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय या क्रय–विक्रय से है। स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ उस वाणिज्यिक नीति से है जो वस्तुओं तथा सेवाओं के घरेलु तथा विदेशी विनिमय के मध्य विभेद नहीं करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक ऐसी क्रियाविधि या तरीका है जोकि वस्तुओं, सेवाओं तथा संसाधनों के माध्यम से विभिन्न देशों को आपस में जोडता है। आर्थिक समृद्धि मुख्यता श्रम विभाजन और विशिष्टिकरण पर निर्भर करता है जबकि श्रम विभाजन और विशिष्टिकरण बाजार के आकार पर निर्भर करता है। बाजार का आकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक अर्थव्यवस्था के स्थान पर एक से अधिक अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन कीमत व रोजगार का स्तर तथा आर्थिक विकास को निर्धारित करने वाले घटकों को ध्यान में रखकर किया जाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र वह विज्ञान व कला है जिसमें राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों एवं उनसे उत्पन्न होने वाली आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त पूरे विश्व को एक समुदाय के रूप में देखता है जोकि देशों की सीमाओं में भले विभाजित हो परन्तु आय व रहन सहन के स्तर में वृद्धि के समान उद्देश्य से बन्धा है। यह विकास के अन्तर्मुखी रणनीति की अपेक्षा बहिर्मुखी रणनीति की वकालत करता है जोकि अपेक्षाकृत सरल और कम श्रम साध्य तरीका है। सर डेनिस

राबर्टसन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को किसी देश के आर्थिक समृद्धि और विकास का इंजन कहा है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों नें अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को इस प्रकार से परिभाषित किया है–

**प्रो. हैरोड** (Harrod) के अनुसार *''अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी आर्थिक लेन–देन से है जो देश की सीमा से बाहर किये जाते है।'*

**प्रो. एल्सवर्थ** (Ellsworth) के अनुसार *''जिस प्रकार अर्थशास्त्र की परिभाषा यह कहकर की जाती है कि अर्थशास्त्र वह है जो अर्थशास्त्री करतें है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भी विभिन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक सम्बन्धों से है।'*

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के बीच व्यापार से उत्पन्न होने वाले आर्थिक सम्बन्धों और उससे सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

## 18.4 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार (Basis of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के सामने एक मूलभूत प्रश्न यह रहा है कि दो या दो से अधिक देश आपस मे व्यापार क्यों करते हैं? कोई भी देश व्यापार तभी करेगा जब उसे व्यापार से लाभ होगा। तो अब प्रश्न यह उठता है कि व्यापार से लाभ क्यों होता है? इन्हीं प्रश्नों–उत्तरों में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का सार निहित है। प्रतिष्ठित अथशास्त्रीयों ने मात्र श्रम को ही उत्पादकता का साधन मानते हुए, विभिन्न देशों के बीच श्रम–उत्पादकता के अंतर को ही व्यापार कारण कहा है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार दो देशों के बीच लागतों या लागत दशाओं मे जितना अधिक अंतर होगा उतना ही व्यापार से लाभ होगा, यह लाभ व्यापार मे भाग लेने वाले एक या दोनों ही देशों को प्राप्त हो सकता है।

जिन कारणों से विभिन्न व्यक्ति आपस मे व्यापार करते हैं उन्ही कारणों से विभिन्न राष्ट्र भी एक दूसरे से व्यापार करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने उपभोग के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन नहीं कर सकता है और यहीं बात राष्ट्रों के संदर्भ में भी लागू होती है। प्रकृति ने पृथ्वी की सतह पर उत्पादन के संसाधनों का वितरण असमान ढंग से किया है। जलवायु दशाओं, खनिज संसाधनों, श्रम तथा पूंजी संसाधनों, प्राकृतिक संसाधन प्रचुरता, तकनीकी क्षमताओं, उद्यमशीलता तथा प्रबंधकीय क्षमताओं और उन सभी चीजों जो कि किसी देश की उत्पादन क्षमता को निर्धारित करती है, में विभिन्न राष्ट्रों की स्थिति भिन्न होती है। उत्पादन संभावनाओं मे यह अन्तर ऐसी स्थितियों को जन्म देता है जहाँ कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा कुछ वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन अधिक दक्षतापूर्वक कर सकते हैं और कोई भी देश सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन पूरी दक्षता पूर्वक अर्थात् न्यूनतम संभव उत्पादन लागत पर नहीं कर सकता है।

जिस प्रकार व्यक्तियों के बीच श्रम–विभाजन होता है उसी तरह विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण हो सकता है। एक राष्ट्र उस वस्तु या सेवा के उत्पादन में विशिष्टता हासिल करता है जिसमें कि वह अन्य देशों की अपेक्षा उत्पादन में श्रेष्ठ होता है विनिमय की प्रक्रिया में व्यक्ति या उपभोक्ता जिस प्रकार अपनी संतुष्टि या विनिमय से लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करता है उसी प्रकार अर्न्राष्ट्रीय व्यापार में एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से कम कीमत पर वस्तुओं तथा सेवाओं की खरीद करके लाभ प्राप्त करता है।

वस्तुतः वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय से प्राप्त होने वाला लाभ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है यदि कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा तो व्यापार नहीं होगा। और व्यापार

से लाभ का तात्कालिक कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में विद्यमान अंतर है जो कि पूर्ति तथा माँग की दशाओं में अन्तर के कारण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों में अन्तर, जो कि अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का आधार है, निम्नलिखित स्थितियों के कारण उत्पन्न हो सकता है

(क) यदि पूर्ति–दशाओं में अन्तर हो, या

(ख) यदि माँग–दशाओं में अन्तर हो या

(ग) यदि माँग और पूर्ति दोनों की दशाओं में अन्तर हों

स्पष्ट है कि यदि दो देशों में माँग तथा पूर्ति, दोनों दशाएँ एक समान है, तो उनमें कोई व्यापार सम्भव नहीं है, क्योंकि तब व्यापार से किसी भी देश को लाभ नहीं होगा।

पूर्ति दशाओं में अंतर बहुत सारे कारणों से पैदा हो सकते हैं, जैसे–आर्थिक संसाधनों की उपलब्धता, इन संसाधनों की दक्षता का स्तर, उत्पादन में प्रस्तुत तकनीकी का स्तर, श्रम की योग्यता, साधन गहनता इत्यादि। वास्तव में पूर्ति–पक्ष राष्ट्रों के बीच साधन–सम्पन्नता तथा उत्पादन–दक्षता में अंतर का बताता है, जो कि वस्तुओं तथा सेवाआं की उत्पादन लागतों और बिक्री कीमतों में व्यक्त होती है।

दो देशों के मध्य पूर्ति दशाएँ या उत्पादन लागत समान होने की स्थिति में भी, माँग दशाओं मे अंतर के कारण कीमतों में भिन्नता हो सकती है। माँग में अन्तर मुख्यतः आय के स्तरों तथा रुचि पर निर्भर करता है।

हम उपरोक्त तीनों स्थितियों को चित्र के माध्यम से दर्शा सकते हैं:

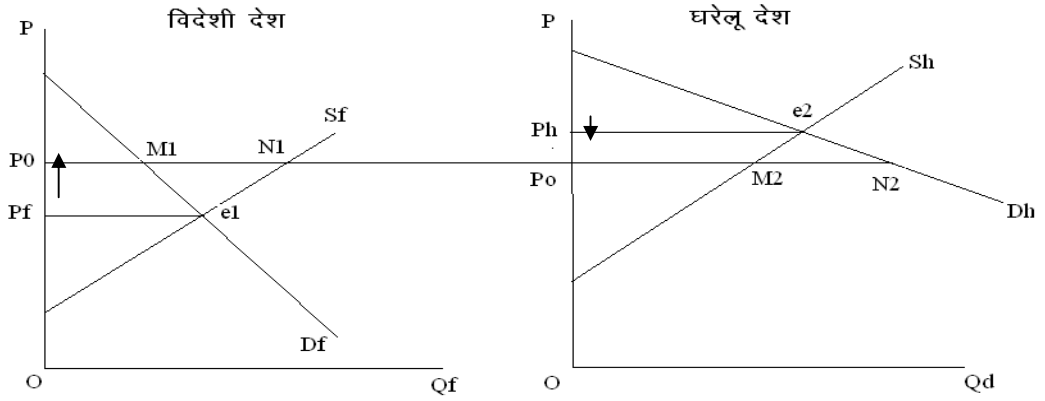


**चित्र–18.1 जब पूर्ति दशाएँ समान हों, तथा मांग दशाओं में अन्तर हो**

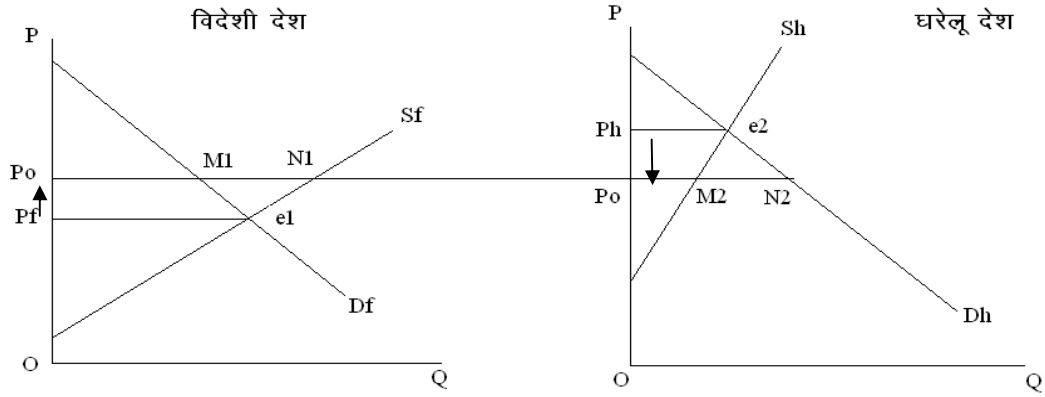


**चित्र–18.2 जब पूर्ति दशाएँ समान हों, तथा मांग–दशाओं में अन्तर हो**

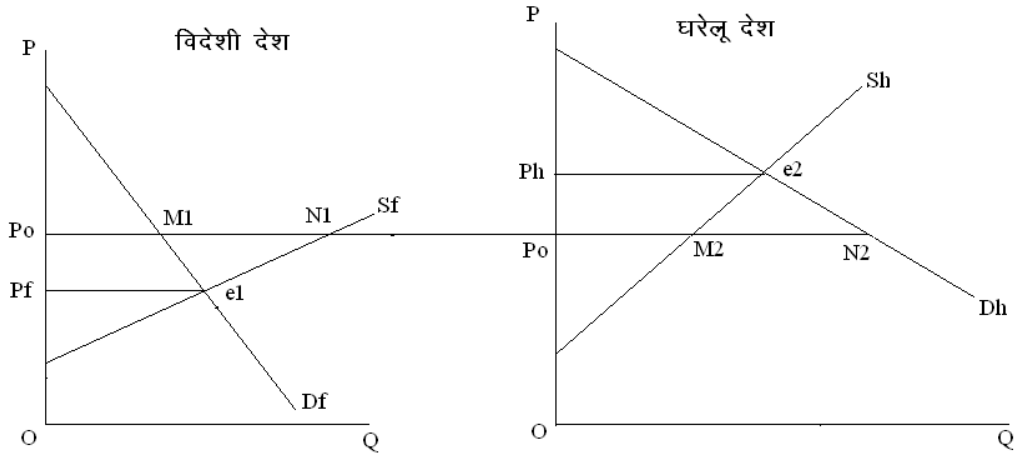


**चित्र–18.3 जब पूर्ति तथा मांग दशाएँ दोनों भिन्न हों।**

उपरोक्त तीनों चित्रों मे विदेशी तथा घरेलू देश की, एक दिए हुए वस्तु या उत्पाद के संदर्भ में, माँग तथा पूर्ति की विभिन्न दशाओं को दर्शाया गया है। X–अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा Y अक्ष पर कीमत प्रदर्शित की गयी है। Sf तथा Df क्रमशः विदेशी देश के पूर्ति तथा मांग वक्र को और Sh तथा Dh क्रमशः घरेलू देश के पूर्ति तथा माँग वक्र है। Pf तथा Ph क्रमशः विदेशी तथा घरेलू देश में व्यापार न होने की दशा में कीमतें हैं। P0 व्यापार शुरु के पश्चात् दोनों देशों की संतुलन कीमत को व्यक्त करता है।

उपरोक्त सभी चित्रों में, विदेशी देश में वस्तु की कीमत (Pf) घरेलू देश की कीमत (Ph) से कम है (Pf<Ph) यह अंतर निम्नलिखित कारणों से है –

(क) चित्र–18.1 में पूति–दशाएँ भिन्न है। विदेशी पूर्ति वक्र (Sf) घरेलू पूर्ति वक्र(Sh) की अपेक्षा अधिक लोचदार है।

(ख) चित्र–18.2 में मांग–दशाओं में भिन्नता है। घरेलू मांग वक्र (Dh) विदेशी मांग वक्र (Df) की अपेक्षा अधिक लोचदार है।

(ग) चित्र–18.3 में पूर्ति तथा मांग–दशाएँ दोनों भिन्न है।

चूंकि घरेलू देश में वस्तु की कीमत विदेशी देश की अपेक्षा अधिक है, इसलिए विदेशी देश से घरेलू देश को वस्तु का आयात होगा। इस प्रकार कीमत अंतर के कारण वस्तु का व्यापार होगा जिसमें विदेशी देश निर्यातक तथा घरेलू देश आयातक होगा। वस्तु का विदेशी देश से निर्यात तथा घरेलू देश से आयात तब तक जारी रहेगा जब तक कीमतों में अंतर पूरी तरह सामाप्त नहीं हो जाता है और घरेलू देश का आयात विदेशी देश के निर्यात की मात्रा के बराबर और स्थिर नहीं हो जाता। चित्र में संतुलन की स्थिति मे कीमत Po है जिस पर आयात और निर्यात की मात्राएँ स्थिर तथा एक दूसरे के बराबर है। Po कीमत पर, कीमत अंतर समाप्त हो जाने के बाद आगे व्यापार के लिए कोई प्रेरणा नहीं होगी।

चित्र–18.4 में, दोनों देशों में समान पूर्ति और मांग की स्थितियाँ दर्शायी गयी है। चूंकि कीमतों में कोई अंतर नहीं है (Ps=Ph) इसलिए व्यापार संभव नहीं है।

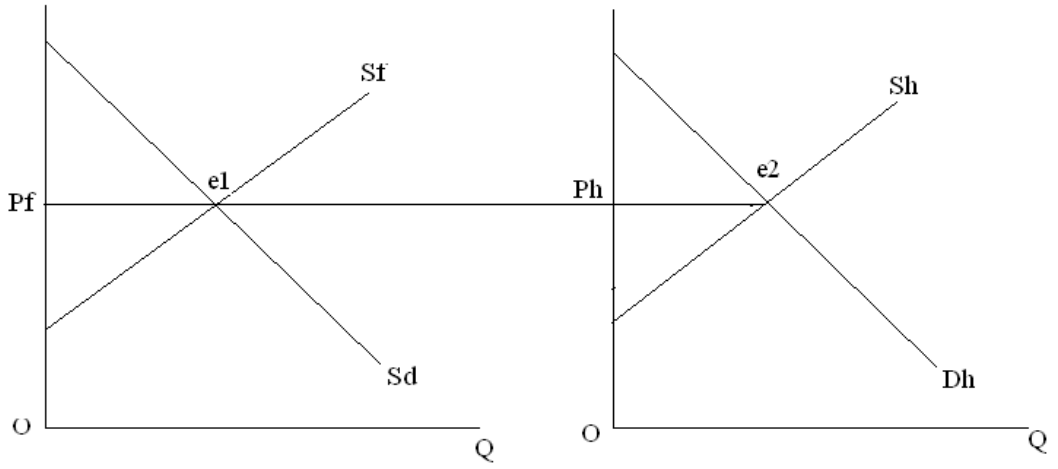


**चित्र–18.4 जब पूर्ति व मांग दशाएँ दोनों समान हैं।**

इस प्रकार जब कीमतों में अन्तर होगा तो व्यापार से दोनों देशों को लाभ होगा और उनके उपभोग तथा कल्याण के स्तर में वृद्धि होगी। दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विश्व के राष्ट्रों के समक्ष यह सम्भावनाएं खेल देता हैकि वे उन आर्थिक गतिविधियों में विशिष्ठिकरण प्राप्त करें जिसमें वे सर्वाधिक सम्पन्न व दक्ष है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह उप–विभाजन तथा विशिष्टीकरण, व्यापार में भाग लेने वाले सभी देशों को लाभ पहुँचाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तु कीमतों के साथ–साथ कीमतों में भी सामानीकरण लाता है।

## 18.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classical Theory of International Trade)

### 18.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त की भूमिकाः–

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत का मुलभूत प्रश्न यह है की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ क्यों होता है? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने श्रम को उत्पादन का एक मात्र साधन मानते हुए कहा की विभिन्न देशों के बीच श्रम उत्पादकता में अंतर के कारण ही व्यापार होता है।

प्रतिष्ठित सिद्धांत से पूर्व आधुनिक राष्ट्र राज्य के विकास के दौरान 17वीं तथा 18 वीं शताब्दी में वणिकवादी विचारधारा थी। वणिकवाद में कई आधुनिक तत्व थे; जैसे वणिकवादी अत्यधिक राष्ट्रवादी थे, उनके लिए अपने देश का कल्याण सर्वोपरि था, राष्ट्रीय उदेश्यों को प्राप्त करने के लिए वे आर्थिक गतिविधियों के नियमन और आयोजन के पक्ष में थे। वणिकवादीयों के लिए एक देश के समृद्ध होने का सबसे महत्वपुर्ण उपाय अधिक से अधिक बहुमूल्य धातुएं विशेष रूप से सोना अर्जित करना है। निर्यात से यदि देश में बहुमूल्य धातुएं या सोना आता है तो उसका वे समर्थन करते हैं परन्तु आयात से सोना देश के बाहर जायेगा। इसलिए वे विनियमित, नियन्त्रित तथा प्रतिबंधित व्यापर नीति के पक्ष में थे।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने दिखाया की किसी राष्ट्र के धन का सही मापन सोने से नहीं बल्कि उन वस्तुओं और सेवाओं से होता जो देश में उत्पादित होती है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "एन इन्क्वायरी इनटू नेचर एंड काजेज आफ वेल्थ आफ नेशंस" में उन्होंने वणिकवादी विचारधारा को गलत तथा अतार्किक बताया। उनके अनुसार यदि सरकार विदेशी व्यापार से वणिकवादी नियंत्रणों को हटा दे तो राष्ट्र के उत्पादन यानि धन में तेजी से वृद्धि होगी। स्मिथ वणिकवादीयों की इस धारणा का

भी खंडन करते हैं की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से एक देश को लाभ दुसरे की कीमत पर होगा। स्मिथ ने दिखाया की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के द्वारा व्यापार में लगे सभी देशों को लाभ होता है।

स्मिथ और रिकार्डो की विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति है; राष्ट्र तो मात्र उसके नागरिकों का योग है। इसलिए उनके लिए अर्थशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण विषय उपभोक्ता था. मनुष्य मेहनत और उत्पादन उपभोग के लिए करता ह। और कोई भी चीज जो उपभोग को बढ़ा दे या रिकार्डो के शब्दों में 'आनंदों के योग' को बढ़ा दे, उसका समर्थन किया जाना चाहिए। स्मिथ और रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मुख्यतः इसी बात की व्याख्या करता है की व्यापार से कैसे व्यापार में लगे देशों को लाभ होता है अर्थात देश के लोगों के उपभोग में वृद्धि होती ह।

एडम स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत के निर्माण की आधारशिला रखी। परन्तु डेविड रिकार्डो ने एडम स्मिथ के सिद्धांत को और स्पष्ट किया, इसका विस्तार किया तथा इसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत को रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक लागत सिद्धांत या तुलनात्मक लाभ सिद्धांत द्वारा जाना जाता है। बाद में जान स्टुअर्ट मिल ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत में मांग पक्ष को समिलित कर प्रतिपूरक मांग का सिद्धांत दिया।

## एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ सिद्धांत

एडम स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का निरपेक्ष लाभ सिद्धांत प्रस्तुत किया। एडम स्मिथ ने लागतों में निरपेक्ष अंतर के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धांत प्रस्तुत किया। यदि एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ तथा दुसरे वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष हानि हो तो फिर व्यापार होगा। प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन मे निरपेक्ष लागत लाभ होगा और उस वस्तु का आयात करेगा जिसके उत्पादन मे निरपेक्ष लागत हानि होगी। इस तरह स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बाज़ार की सीमा में विस्तार करके श्रम के अत्यधिक विशिष्टिकरण को संभव बनता है; फलस्वरूप श्रम के सीमापार क्षेत्रीय विभाजन से प्राप्त लाभों को बढाता है।

एडम स्मिथ के अनुसार अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार से बाजार का विस्ताार होता है जिससे श्रम विभाजन की संभावना बढ़ जाती है। अर्न्तराष्ट्रीय श्रम–विभाजन और उसके फलस्वरूप होने वाले विशिष्टीकरण के कारण उत्पादन और उपभोग में हुई वृद्धि का लाभ व्यापार में सम्मिलित सभी देशों को होता है। जिस प्रकार दर्जी अपने जूतों को स्वयं नहीं बनाता, बल्कि कपड़े के बदले मोची से उसे खरीदता है। इस प्रकार दर्जी और मोची दोनों का लाभ होता है। उसी प्रकार, स्मिथ के अनुसार, एक देश भी दूसरे देशों के साथ व्यापार करके लाभ प्राप्त कर सकता है।

स्मिथ के अनुसार दो देशों के बीच व्यापार तभी होता है जब लागतों में निरपेक्ष अंतर हो अर्थात् एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ तथा दूसरे देश को दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ हो। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश को उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण हासिल करना चाहिए और निर्यात करना चाहिए, जिसमें उसे निरपेक्ष लाभ हो तथा उस वस्तु का आयात करना चाहिए जिसमें उसे निरपेक्ष हानि है।

माना दो देश A और B हैं दो वस्तु X और Y का उत्पादन कर रहे हैं। दोनों देशों की लागत दशाओं को निम्नलिखित सारणी में दिखाया गया है।

**सारणी 18.1: दो देशों में दो वस्तुओं की लागतों की तुलना**

| | प्रति इकाई उत्पादन लागत (श्रम घण्टों में) | |
|---|---|---|
| | 1 इकाई वस्तु X की उत्पादन लागत | 1 इकाई वस्तु Y की उत्पादन लागत |
| देश–A | 100 | 200 |
| देश–B | 200 | 100 |

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि देश A में वस्तु X की उत्पादन लागत (100 श्रम घण्टे), देश B में X की लागत (200 श्रम घण्टे) की आधी है। इस प्रकार वस्तु Y की देश A में लागत देश B की अपेक्षा दुगुनी है। स्पष्ट है कि देश A, वस्तु X के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से अधिक दक्ष है जबकि देश B, वस्तु Y के उत्पादन में अधिक दक्ष है। यदि देश A सिर्फ X का तथा B सिर्फ Y का उत्पादन करें तो कुल उत्पादन बढ़ जायेगा।

विशिष्टीकरण के पश्चात् देश A कुल 300 श्रम घण्टे (100+200) से वस्तु X की 3 इकाई का उत्पादन करेगा, इसी प्रकार देश B, कुल 300 श्रम घण्टे (200+100) से 3 इकाई वस्तु Y का उत्पादन करेगा।

**सारणी 18.2: दो देशों में दो वस्तुओं की व्यापार के पूर्व तथा पश्चात् उत्पादन की तुलना**

| | वस्तु–X उत्पादन | | वस्तु–Y उत्पादन | | कुल उत्पादन | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | व्यापार के पूर्व | व्यापार के पश्चात् | व्यापार के पूर्व | व्यापार के पश्चात् | व्यापार के पूर्व | व्यापार के पश्चात् |
| देश–A | 1 | 3 | 1 | 0 | 2 | 3 |
| देश–B | 1 | 0 | 1 | 3 | 2 | 3 |
| कुल उत्पादन | 2 | 3 | 2 | 3 | 4 | 6 |

**सारणी 18.2** से स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण के पश्चात् उतने ही संसाधनों (श्रम घण्टों) से दोनों ही देशों में दोनों ही वस्तुओं का एक–एक इकाई अधिक उत्पादन होगा तथा कुल संयुक्त उत्पादन 4 से बढ़कर 6 हो जायगा।

व्यापार के फलस्परूप उत्पादन में हुई वृद्धि दोनों देशों के कल्याण या उपभोग में कितनी वृद्धि लाएगा यह अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार शर्त पर निर्भर करेगा। यदि अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार शर्त या कीमत अनुपात 1x=1y हो तो दोनों देशों को व्यापार से लाभ होगा। जैसा कि **सारणी 3.3** से स्पष्ट है–

**सारणी 18.3:** व्यापार के पश्चात् उपभोग(यदि अर्न्तराष्ट्रीय कीमत अनुपात 1x=1y हो)

| | **वस्तु–x** | **वस्तु–y** | **कुल** |
|---|---|---|---|
| **देश–A** | 2 | 1 | 3 |
| **देश–B** | 1 | 2 | 3 |

व्यापार से पूर्व दोनों देश वस्तु X और Y की एक–एक इकाई का उपभाग कर रहे थे, परन्तु अब देश A 1x के बदले 1y प्राप्त करेगा और बचे हुए 2y का उपभोग करेगा। इसी प्रकार देश B भी पहले की अपेक्षा एक इकाई अधिक वस्तु y का उपभोग करेगा। इस प्रकार व्यापार से दोनों ही देशों के जीवन के रहन–सहन के स्तर में सुधार आएगा।

एडम स्मिथ की अर्न्तराष्ट्रीय व्यापर से लाभ की व्याख्या अत्यंत सरल और स्पष्ट है। तथा स्वतंत्र व्यापार के पक्ष में बड़े ही दृढ़ता पूर्वक अपने तर्क को प्रस्तुत करती है।

हालांकि यह सिद्धान्त संकीर्ण है और थोड़ी जटिल स्थितियों मे व्यापार से होने वाले लाभों की व्याख्या करने में असमर्थ है।

## रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत

रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धांत कहा जाता है। रिकार्डो एक कदम और आगे बढकर यह दिखाते हैं की यदि एक देश को दुसरे देश की अपेक्षा किसी भी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ नहीं है तब भी व्यापार होगा और व्यापार में लगे सभी देशों को लाभ होगा। उनके अनुसार अन्य बातें सामान रहने पर एक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टिकरण प्राप्त करेगा और निर्यात करेगा जिसमें उसे अधिकतम तुलनात्मक लागत लाभ या न्यूनतम तुलनात्मक लागत हानि हो। इसी प्रकार देश उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसे तुलनात्मक लागत लाभ न्यूनतम या तुलनात्मक लागत हानि अधिकतम हो। इस प्रकार देश अपने उत्पादन और उपभोग को अधिकतम करने में समर्थ होगा।

रिकार्डो ने अपने सिद्धांत को एक उदाहरण द्वारा समझाया.माना दो देश इंग्लैंड और पुर्तगाल हैं जो दो वस्तुओं कपडे और शराब का उत्पादन करते हैं. सारणी 18.4 में दोनों देशों की लागत दशाओं को दर्शाया गया है।

**सारणी 18.4 इंग्लैंड और पुर्तगाल के लागत दशाओं की तुलना**

| देश | उत्पादन की लागत (श्रम घंटों में) | | घरेलु विनिमय अनुपात |
|---|---|---|---|
| | 1 इकाई शराब | 1 इकाई कपड़ा | |
| पुर्तगाल | 80 | 90 | 1 इकाई शराब 80/90 = 0.89 इकाई कपड़ा<br>या 1 इकाई कपड़ा =1.125 इकाई शराब |
| इंग्लैंड | 120 | 100 | 1 इकाई शराब = 120/100 = 1.2 इकाई कपड़ा<br>या 1 इकाई कपड़ा = .83 इकाई शराब |
| तुलनात्मक लागत अनुपात | 80 / 120 = 0. 67 | 90 / 100 = 0.90 | |

तुलनात्मक लागत लाभ जानने के लिए हम दोनों देशों में एक वस्तु की उत्पादन लागत की तुलना दूसरे वस्तु की उत्पादन लागत से करते हैं. रिकार्डो के उदहारण में

$$\frac{\text{पुर्तगाल में शराब की श्रम लागत}}{\text{इंग्लैंड में शराब की श्रम लागत}} < \frac{\text{पुर्तगाल में कपड़ा की श्रम लागत}}{\text{इंग्लैंड में कपड़ा की श्रम लागत}} < 1$$

अर्थात $80/120 < 90/100 < 1$

अर्थात $0.67 < 0.90 < 1$

पुर्तगाल में दोनों वस्तुओं की एक इकाई की उत्पादन लागत इंग्लैंड से कम है; पुर्तगाल दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त कर रहा है। परन्तु वह कपड़े की अपेक्षा शराब के उत्पादन में अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त कर रहा है। क्योकि एक इकाई शराब के उत्पादन में पुर्तगाल की श्रम लागत, इंग्लैंड में शराब की श्रम लागत का मात्र 67% है, जबकि कपड़े में यह 90% है.।

स्पष्ट है कि इंग्लैंड दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष हानि प्राप्त कर रहा है. परन्तु वह कपड़े की अपेक्षा शराब के उत्पादन में अधिक तुलनात्मक हानि प्राप्त कर रहा है. रिकार्डो के अनुसार चूँकि पुर्तगाल का तुलनात्मक लाभ शराब के उत्पादन में अधिक है और

इंग्लैंड की तुलनात्मक हानि कपड़े के उत्पादन में कम है इसलिए यदि पुर्तगाल शराब के उत्पादन में तथा इंग्लैंड कपड़े के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टिकरण करे तो व्यापार से दोनों देशों को लाभ होगा. अर्थात दक्षता को वहाँ विशिष्टिकरण करना चाहिए जहां वह अधिक हो और अदक्षता को वहाँ विशिष्टिकरण करना चाहिए जहां वह कम हो.

विशिष्टिकरण के पश्चात दोनों वस्तुओं, कपडे और शराब, का उत्पादन व्यापार शुरू होने से पहले के उत्पादन की अपेक्षा अधिक होगा। इसे आप निम्नलिखित ढंग से समझ सकते हैं

पुर्तगाल में कुल संसाधन = 170 श्रम घंटे

इंग्लैंड में कुल संसाधन = 220 श्रम घंटे

**सारणी 18.4:** व्यापार ना होने की स्थिति में उत्पादन और उपभोग

| **देश** | शराब | कपडा | कुल उत्पादन और उपभोग |
|---|---|---|---|
| पुर्तगाल | 1 | 1 | 2 |
| इंग्लैंड | 1 | 1 | 2 |
| विश्व | 2 | 2 | 4 |

व्यापार ना होने की स्थिति में दोनों देश एक– एक इकाई कपडे और शराब का उत्पादन तथा उपभोग करते हैं और कुल विश्व उत्पादन चार इकाई के बराबर है।

**सारणी 18.52:** व्यापार होने की स्थिति में उत्पादन और उपभोग

| **देश** | शराब | कपडा | कुल उत्पादन और उपभोग |
|---|---|---|---|
| पुर्तगाल | 2.125 | 0 | 2.125 |
| इंग्लैंड | 0 | 2.2 | 2.2 |
| विश्व | 2.125 | 2.2 | 4.325 |

व्यापार शुरू होने के पश्चात विशिष्टिकरण के कारण दोनों वस्तुओं, कपडे और शराब, का उत्पादन तथा उपभोग अधिक होगा। पुर्तगाल अब अपने कुल 170 श्रम घंटे संसाधन से 2.125 इकाई शराब का उत्पादन करेगा जबकि इंग्लैंड में कुल 220 श्रम घंटे से 2.2 इकाई कपडे का उत्पादन करेगा और कुल विश्व उत्पादन 4 इकाई से बढ़कर 4.325 इकाई हो जायगा।

परन्तु वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला उत्पादन लाभ यह सुनिश्चित नहीं करता की व्यापर से दोनों देशों के कल्याण या उपभोग में वृद्धि होगी। उत्पादन लाभ सकल राष्ट्रिय आय में लाभ या आय लाभ है. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप व्यपारत देशों के आर्थिक रहन सहन का स्तर कितना ऊपर उठा इसके निर्धारण में उपभोग लाभ महत्वपूर्ण है। प्रत्येक देश के उपभोग या कल्याण में कितनी वृद्धि होगी यह पूरी तरह से व्यापार शर्त पर निर्भर करेगा।

इंग्लैंड एक इकाई शराब के उत्पादन के लिए 120 श्रम घंटे तथा एक इकाई कपडे के उत्पादन के लिए 100 श्रम घंटे ले रहा है. स्पष्ट है कि इंग्लैंड में शराब की उत्पादन लागत कपडे की उत्पादन लागत से अधिक है–

1 इकाई शराब = 120 / 100 या 1.2 इकाई कपड़ा

1 इकाई कपड़ा = 0.83 इकाई शराब

पुर्तगाल एक इकाई शराब के उत्पादन के लिए 80 श्रम घंटे तथा एक इकाई कपडे के उत्पादन के लिए 90 श्रम घंटे ले रहा है.स्पष्ट है कि पुर्तगाल में कपडे की उत्पादन लागत शराब की उत्पादन लागत से अधिक है– 1 इकाई शराब = 80/90 या 0.89 इकाई कपड़ा।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात या व्यापार शर्त हो रू

1 इकाई कपडा = 1 इकाई शराब;

अर्थात पुर्तगाल शराब के 1 इकाई निर्यात से 1 इकाई कपडा प्राप्त करेगा, जबकि घरेलु स्तर पर सिर्फ 0.89 इकाई कपडा मिलता था क्योंकि पुर्तगाल का घरेलु विनिमय अनुपात हैरू 1 इकाई शराब = 0.89 इकाई कपड़ा. तो पुर्तगाल को व्यापार से लाभ होगारू ( 1 दृ 0.89 = ) 0.11 इकाई कपडा.

शराब के पदों में देखें तो पुर्तगाल घरेलु स्तर पर 1 इकाई कपडा के लिए 1.125 इकाई शराब देता है (क्योंकि पुर्तगाल का घरेलु विनिमय अनुपात हैरू 1इकाई कपड़ा=1.125 इकाई शराब) जबकि व्यापर के पश्चात सिर्फ 1 इकाई शराब के निर्यात से 1 इकाई कपडा प्राप्त करेगा अर्थात पुर्तगाल को व्यापार से लाभ होगा (1.125 : 1=) 0.125 इकाई शराब.

इसी प्रकार इंग्लैंड को व्यापार से लाभ होगा (1.20 – 1 =) 0.20 इकाई कपड़ा या (1 – 0.83 =) 0.17 इकाई शराब; क्योंकि इंग्लैंड का घरेलु विनिमय अनुपात हैरू 1 इकाई शराब = 1.20 इकाई कपड़ा या 1इकाई कपड़ा = 0.83 इकाई शराब. अर्थात इंग्लैंड घरेलु स्तर पर 1 इकाई शराब के लिए 1.20 इकाई कपडा देता है या 1 इकाई कपडा से सिर्फ 0.83 इकाई शराब ही मिलती है।

यदि व्यापार पुर्तगाल की घरेलु विनिमय अनुपात पर होता है तो इसे व्यापार से कोई लाभ नहीं होगा, व्यापार का समस्त लाभ इंग्लैंड को होगा। इसके विपरीत यदि व्यापार इंग्लैंड की घरेलु विनिमय अनुपात पर होता है व्यापार का समस्त लाभ पुर्तगाल ले जायेगा। वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात या व्यापार शर्त दो देशों के इन्हीं घरेलु विनिमय अनुपातों के बीच कंही निर्धारित होगी। यदि व्यापार शर्त दो देशों के घरेलु विनिमय अनुपातों के बिलकुल बीच में स्थित है तों दोनों ही देशों को व्यापार से बराबर बराबर लाभ होगा।

## 18.6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत की मान्यताएं

चूंकि वास्तविक जगत में चीजें काफी जटिल हैं और तेजी से बदलती रहती हैं इसलिए प्रत्येक आर्थिक सिद्धांत कुछ निश्चित मान्यताओं पर आधारित होते हैं जो की वास्तविकता के ही सरलीकृत रूप होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धांत निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

1. केवल दो देश हैं जो दो समरूप वस्तुओं का व्यापार करते हैं।
2. श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है अर्थात् यह सिद्धांत 'मूल्य के श्रम सिद्धांत' पर आधारित है । सभी श्रम–इकाईयाँ समरूप हैं।
3. उत्पादन में पैमाने के स्थिर प्रतिफल की स्थिति है।
4. परिवहन लागतें शून्य है।
5. उत्पादन के साधन देश के भीतर पूर्णरूप से गतिशील तथा देशों के मध्य पूर्णरूप से अगतिशील हैं।
6. दोनों देशों में पूर्ण रोजगार है तथा पूर्ण–प्रतियोगिता की स्थिति पायी जाती है।
7. अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अर्थात् दो देशों में स्वतंत्र व्यापार हो रहा है।

8. दोनों देशों के मध्य वस्तु–विनिमय प्रणाली के आधार पर व्यापार होता है अर्थात् मुद्रा के अस्तित्व की उपेक्षा की गयी है।
9. उपभोक्ता की रुचि, उत्पादन फलन, उत्पादन के साधनों की मात्रा आदि को स्थिर मान लिया गया है।

## 18.7 अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत की कमियाँ

अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धांत बड़े ही तार्किक और सुन्दर ढंग से व्यापार से होने वाले लाभों की व्याख्या करता है। तुलनात्मक लागतों में विद्यमान अन्तर के कारण अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार सभी व्यापाररत देशों के लिए लाभदायक होगा। प्रतिष्ठित अथशास्त्री बड़े ही स्पष्ट ढ़ंग से इस बात को कहते हैं कि विभिन्न देशों के उत्पादन फलन अलग–अलग होते हैं, इसी कारण तुलनात्मक लागतों में अन्तर होता है।

प्रथम विश्वयुद्ध तक यह सिद्धांत अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का एक लोकप्रिय सिद्धांत बना रहा। संसाधनों के अनुकूलतम प्रयोग को सुनिश्चित करने और इस प्रकार कुल उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि करने की दृष्टि से इस सिद्धांत की खूबियाँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। परन्तु यह सिद्धांत जिन मान्यताओं पर आधारित हैं वे व्यवहारिक रूप से अवास्तविक हैं। इसलिए इस सिद्धांत का विश्लेषणात्मक ढांचा काफी कमजोर रहा है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ओहलिन, ग्राहम आदि ने इस सिद्धांत की कमियो को महत्वपूर्ण रूप से रंखांकित किया है। सिद्धांत की महत्वपूर्ण आलोचनाएँ निम्नलिखित है–

1. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह बताने में असफल रहे कि विभिन्न देशो के उत्पादन फलन भिन्न–भिन्न क्यों होते हैं।
2. यह सिद्धांत 'मूल्य के श्रम सिद्धांत' पर आधारित है जो कि अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित हैं किसी वस्तु की उत्पादन लागत उसके उत्पादन में लगे सिर्फ श्रम की मात्रा के बराबर नहीं होती है बल्कि उसमें सभी संसाधन लागतें सम्मिलित होती हैं। विभिन्न श्रम–इकाईयाँ भी समरूप नहीं होती हैं। श्रम अनेक वर्गों में विभक्त होता है जैसे, कुशल श्रम, अकुशल श्रम, अर्द्धकुशल श्रम इत्यादि और ये विभिन्न वर्गों के श्रम आपस में प्रतियोगी नहीं होते हैं।

   श्रम की अर्न्तक्षेत्रीय पूर्ण गतिशीलता और श्रम–बाजार की पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता भी अवास्तविक है इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने श्रम के मूल्य सिद्धांत को रद्द कर दिया है।

   प्रतिष्ठित सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि उनका विश्वास मुख्यतः कल्याणकारी अर्थशास्त्री में था। इसलिए अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ की माप के लिए उन्होंने श्रम लागत का प्रयोग 'वास्तविक लागत' के रूप में किया है। 'वास्तविक लागत' की धारणा का प्रयोग सामान्यतः उत्पादन के दौरान श्रम की अनुपयोगिता या कष्टानुभूति के रूप में किया गया है। परन्तु अनुपयोगिता एक आत्मनिष्ठ प्रत्यय है जो कि देश, काल और व्यक्ति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

   सिद्धांत इस मान्यता पर भी आधारित है कि सभी वस्तुओं के उत्पादन में श्रम समान अनुपात में प्रयुक्त होता है। यह मूलतः एक स्थैतिक विश्लेषण है इसलिए अवास्तविक है।

   परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अन्य लागत की परिभाषाओं को लेकर भी स्मिथ तथा रिकार्डो के निष्कर्षों को सिद्ध किया है। प्रो0 जगदीश भगवती के अनुसार रिकार्डो का सिद्धांत एक कल्याणकारी मॉडल के रूप में देखा जाना चाहिए,

जिसका उद्देश्य स्वतंत्र व्यापार का समर्थन था। यह सिद्धांत व्यापार के विभिन्न तथ्यों की व्याख्या के लिए निर्मित धनात्मक (positive) मॉडल नहीं है।

3. प्रतिष्ठित सिद्धांत उत्पादन में पैमाने के स्थिर प्रतिफल की मान्यता मान लेता है और इस आधार पर सभी व्यापाररत देशों में पूर्ण विशिष्टीकरण की बात करता है।

   वास्तविक जगत में न तो उत्पादन में स्थिर लागत की स्थिति और न ही किसी देश में पूर्ण विशिष्टीकरण की स्थिति पायी जाती है। अनेक देश अनेक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और लागत दशाएँ उत्पादन में बढते हुए प्रतिफल से घटते हुए प्रतिफल के बीच परिवर्तित होती रहती है।

   परंतु बाद में नव–प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्य लागत दशाओं में भी व्यापार–सिद्धांत का विस्तार किया और प्रतिष्ठित सिद्धांत के निष्कर्षों को सिद्ध करने की कोशिश की।

4. प्रतिष्ठित सिद्धांत में परिवहन लागतों की भी उपेक्षा की गयी है जबकि इन लागतों की अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार की मात्रा और दिशा दोनों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उच्च परिवहन लागतें तुलनात्मक लाभों और व्यापार से लाभों को समाप्त कर सकती हैं।

   यह आलोचना सिद्धांत को गम्भीर चुनौती पेश नहीं करती क्योंकि परिवहन लागतों व अन्य सम्बन्धित लागतों को जोड़कर कुल लागत के पदों में तुलनात्मक लाभों को पुनः परिभाषित करना सम्भव है।

5. सिद्धांत में उपभोक्ताओं की रुचियो, उत्पादन–फलन, उत्पादन साधनों की मात्रा आदि को स्थिर मान लिया गया है परन्तु व्यवहार में ये स्थिर नहीं है।

6. यह सिद्धांत सिर्फ कुछ संकीर्ण प्रश्नों के उत्तर देने तक ही सीमित हैं, जैसे– किसी दिये हुए समय मे किन वस्तुओं का व्यापार किया जाएगा और व्यापार से क्या लाभ होगा? यह इस बात को नहीं बताता कि समय के साथ व्यापार की मात्रा, संरचना तथा लाभ में किस प्रकार परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, यह सिद्धांत इस बात की व्याख्या नहीं करता कि समय के साथ तुलनात्मक लाभ की संरचना में कैसे परिवर्तन होगा।

7. रिकार्डो का सिद्धांत एकपक्षीय है क्योंकि यह अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के केवल पूर्ति पक्ष पर विचार करता है और मांग पक्ष को पूरी तरह से उपेक्षित कर देता है। तुलनात्मक लागत में भिन्नता के लिए मांग की दशाओं की उपेक्षा की गयी है।

   वास्तव में प्रतिष्ठित सिद्धांत अल्पकालीन नहीं बल्कि दीर्घकालीन समस्या पर विचार करता है इसलिए इसलिए लागतों में अंतर के लिए सिर्फ पूर्ति दशाओं को ही प्रभावशाली मानता है। हालांकि बाद में जे0एस0 मिल ने प्रतिष्ठित सिद्धांत की इस कमी को दूर करते हुए मांग पक्ष को भी सम्मिलित किया।

8. बर्टिल ओहलिन इस सिद्धांत को बेढंगा और अवास्तविक कहते हैं, क्योंकि यह विभिन्न देशों के मध्य सीधे सीधे पूर्ण लागत की भिन्नता पर विचार नहीं करता है। यह सिर्फ श्रम लागतों पर विचार करता है और अन्य लागतों की अवहेलना करता है। ओहलिन इस सिद्धांत को खतरनाक मानते हैं क्योकि यह केवल दो देशों तथा दो वस्तुओं वाली परिस्थितियों का विश्लेषण करता है और इससे प्राप्त निष्कर्षों को अनेक देशों और वस्तुओं वाली परिस्थितियों पर लागू करने का प्रयास करता है।

   ओहलिन के अनुसार संसाधन न सिर्फ अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर बल्कि देश के भीतर भी विभिन्न क्षेत्रों के बीच अगतिशील होते हैं। इसलिए तुलनात्मक लाभ का

सिद्धांत न सिर्फ अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर बल्कि सभी प्रकार के व्यापार में लागू होता है। इसलिए ओहलिन मूल्य के सामान्य सिद्धांत पर आधारित अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के नये सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं।

9. इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए मिर्डल कहते हैं कि यह अर्न्तराष्ट्रीय असमानताओं और विकास तथा अल्पविकास की समस्याओं की उपेक्षा करता है।
10. फ्रैंक ग्राहम ने यह दिखाया कि इस सिद्धांत की मान्यताओं के आधार पर भी पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव नहीं होगा। अपूर्ण या आंशिक विशिष्टीकरण निम्नलिखित स्थितियों में होगा–
    - यदि दो व्यापार कर रहे देशों में उत्पादन की दृष्टि से एक बहुत छोटा तथा दूसरा बहुत बड़ा हो।
    - यदि दोनों देशों के व्यापार में सम्मिलित वस्तुओं का मूल्य तुलनीय हो। जब एक वस्तु उच्च मूल्य वाली वस्तु हो तथा दूसरी वस्तु निम्न मूल्य वाली हो।

      प्रथम स्थिति में छोटा देश पूर्व विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेगा परन्तु बड़ा देश पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं कर सकेगा। यदि बड़ा देश पूर्ण विशिष्टीकरण करता है तो छोटे देश में उसकी खपत सम्भव नहीं है। दूसरी ओर छोटा देश पूर्ण विशिष्टीकरण के पश्चात् भी बड़े देश की मांग को संतुष्ट नहीं कर सकता है।

      द्वितीय स्थिति में, उच्च मूल्य की वस्तु उत्पादित करने वाला देश पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करने में समर्थ होगा जबकि निम्न मूल्य वाली वस्तु का उत्पादन करने वाला देश ऐसा नहीं कर सकेगा क्योंकि कम मूल्य वाली वस्तु के सम्पूर्ण निर्यात का मूल्य, उस देश की उच्च मूल्य की वस्तु की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकता।

      इस प्रकार, जब तक व्यापार में सम्मिलित देश समान आर्थिक आकार के न हों या व्यापारिक वस्तुएँ लगभग समान उपभोग मूल्य की न हों उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव नहीं है।
11. इस सिद्धांत की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि यह सिर्फ 2 वस्तुओं और 2 देशों को लेकर विश्लेषण करता है। परन्तु दो से अधिक देशों तथा वस्तुओं के संदर्भ में भी इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया जा सकता है।
12. सिद्धांत की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है स्वतंत्र व्यापार की मान्यता पर आधारित है। यह मान्यता सिद्धांत को अवास्तविक बना सकती है परन्तु यह किसी भी तरह इसे अवैध नहीं बनाती। गैर स्वतंत्र व्यापार स्थिति में भी व्यापार–संतुलन को दिखाया जा सकता है।

**मूल्यांकन**

तुलनात्मक लाभ सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना कि इसकी मान्यताएँ वास्तविक जगत से मेल नहीं खाती हैं, बहुत उचित नहीं है। इनमें से अधिकांश मान्यताएँ सैद्धान्तिक सरलता के लिए ली गयी है।

एक तो विश्व की वास्तविकताएँ काफी जटिल हैं और दूसरे ये समय के साथ बदलती रहती है। सिद्धांत के पक्ष में यह बात उल्लेखनीय है कि आर्थिक सिद्धांत आदर्शों को वास्तविकता की ओर ले जाने की अपेक्षा वास्तविकता को आर्दशात्मक बनाने का प्रयास करते हैं। वास्तव में, सिद्धांत यह बताता है कि आर्थिक नीति के उद्देश्य आदर्श स्थितियों को उत्पन्न करना और उन्हें वास्तविकता में परिवर्तित करना होना चाहिए और उन आदर्शों को पूरा करने के बाद सिद्धांत यह कहता है कि अर्न्तराष्ट्रीय श्रम विभाजन के लिए हमें

तुलनात्मक लाभ सिद्धांत का अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि आगे विश्व में संसाधनों का अत्यधिक अनुकूलतम आवंटन सुनिश्चित होगा तथा पूरे विश्व के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इस आधार पर तुलनात्मक लाभ सिद्धांत आर्दशात्मक सिद्धांत हो जाता है, यह वर्णनात्मक की अपेक्षा निर्देशात्मक हो जाता है। यह सामान्य धनात्मक अर्थशास्त्र की अपेक्षा आर्दशात्मक कल्याण अर्थशास्त्र की विषय–वस्तु बन जाता है।

स्मिथ व रिकार्डो यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि राष्ट्रों के हित एक दूसरे से टकराएँ यह जरूरी नहीं है। वे विश्व के राष्ट्रों के बीच एक अर्न्तराष्ट्रीय दृष्टि उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं, यह दिखाकर कि कुछ व्यापार; व्यापार न होने से बेहतर है। राष्ट्रों के बीच व्यापार को प्रतिबंधित करने की अपेक्षा इसे प्रोतसाहित करना विश्व के उत्पादन में वृद्धि लायेगा तथा सार्वभौमिक कल्याण को अधिकतम करेगा। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का यही संदेश था और अब भी है। सिद्धांत व्यापार के पक्ष में रहा है और स्वतंत्र व्यापार का समर्थन करता है। अपनी सभी सीमाओं के बावजूद यह सिद्धांत समय की कसौटी पर खरा उतरा है। यद्यपि इसमें काफी सुधार किये गए हैं,पर इसका मूल ढांचा वैसा ही है। सिद्धांत उल्लेखनीय रूप से अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सफल रहा है।

## 18.8 सारांश

एडम स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत के निर्माण की आधारशिला रखी। परन्तु डेविड रिकार्डो ने एडम स्मिथ के सिद्धांत को और स्पष्ट किया, इसका विस्तार किया तथा इसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत को रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक लागत सिद्धांत या तुलनात्मक लाभ सिद्धांत द्वारा जाना जाता है। बाद में जान स्टुअर्ट मिल ने तुलनात्मक लागत सिद्धांत में मांग पक्ष को समिलित कर प्रतिपूरक मांग का सिद्धांत दिया। एडम स्मिथ ने लागतों में निरपेक्ष अंतर के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धांत प्रस्तुत किया। यदि एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ तथा दुसरे वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष हानि हो तो फिर व्यापार होगा। प्रत्येक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन मे निरपेक्ष लागत लाभ होगा और उस वस्तु का आयात करेगा जिसके उत्पादन मे निरपेक्ष लागत हानि होगी। रिकार्डो यह दिखाते हैं की यदि एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा किसी भी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ नहीं है तब भी व्यापार होगा। उनके अनुसार एक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टिकरण प्राप्त करेगा और निर्यात करेगा जिसमें उसे अधिकतम तुलनात्मक लागत लाभ या न्यूनतम तुलनात्मक लागत हानि हो। इसी प्रकार देश उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसे तुलनात्मक लागत लाभ न्यूनतम या तुलनात्मक लागत हानि अधिकतम हो। जे0एस0 मिल ने तुलनात्मक सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसमें संशोधन किया और अपने प्रतिपूरक माँग सिद्धांत में यह बताया कि वास्तविक व्यापार–शर्त का निर्धारण कैसे और कहाँ होता है। मार्शल तथा एजबर्थ ने प्रस्ताव वक्रों के माध्यम से मिल के सिद्धांत को आगे बढ़ाया।

## 18.9 शब्दावली

### मूल्य का श्रम सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य–निर्धारण उस वस्तु में निहित श्रम की मात्रा के द्वारा होता है। यह सिद्धांत रिकार्डो द्वारा दिया गया निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(1) श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है।

(2) सभी श्रम समरूप इकाईयाँ हैं।

(3) देश के भीतर श्रम पूर्णतया गतिशील हैं।

(4) श्रम बाजार में पूर्ण–प्रतियोगिता है।

श्रम के अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर अगतिशील होने के कारण यह सिद्धांत घरेलू व्यापार के संदर्भ में तो लागू होता है पर अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में विघटित हो जाता है।

लागतों का निरपेक्ष अन्तर

कुछ देश कुछ विशेष प्राकृतिक सुविधाओं के अधिक मात्र में उपलब्ध होने के कारण कुछ वस्तुओं का उत्पादन अन्य देशों की अपेक्षा कम लागत पर कर सकते हैं। लागत के इस अंतर को निरपेक्ष अंतर कहते हैं। माना दो देश X तथा Y हों, जो दो वस्तुओं का A तथा B उत्पादन करते हों, यदि देश X में A की श्रम लागत Xaa तथा B की श्रम लागत Xb तथा देश Y में क्रमशः Ya तथा Yb हो तों लागत के निरपेक्ष अंतर निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है–

$$\frac{\text{Xa}}{\text{Xb}} < 1 > \frac{Ya}{Yb}$$

अर्थात् देश X को A वस्तु के उत्पादन में तथा देश Y को B के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। एक देश की एक वस्तु के उत्पादन में लागत कम है तथा दूसरे देश की दूसरे वस्तु के उत्पादन में लागत कम है,अर्थात् एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ तथा दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष हानि हो।

**लागतों में तुलनात्मक अन्तर**

यदि एक देश की उत्पादन लागत दोनों ही वस्तु के संदर्भ में दूसरे देश से कम हो तो, उसे दोनों ही वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लागत लाभ प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में यह देखना होगा कि वह देश किस वस्तु के उत्पादन में अधिक दक्ष है अर्थात् उसकी तुलनात्मक लागत कम है तथा दूसरे देश की किस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक हानि कम है।

उपरोक्त उदाहरण से लागत के सापेक्ष अंतर को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है

$$\frac{\text{Xa}}{\text{Xb}} < \frac{Ya}{Yb} < 1$$

अर्थात् देश X को दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में देश Y की अपेक्षा निरपेक्ष लाभ है परन्तु वस्तु A के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ वस्तु B की अपेक्षा अधिक है।

**प्रतिपूरक मांग**

प्रतिपूरक मांग का अर्थ है दो व्यापाररत देशों की अपने उत्पाद के पदों में एक–दूसरे के उत्पाद के लिए मांग की सापेक्षिक शक्ति तथा लोच। अर्थात् विदेशी वस्तुओं के लिए घरेलू मांग की तीव्रता और घरेलू वस्तु के लिए विदेशी मांग की तीव्रता।

**प्रस्ताव वक्र**

प्रस्ताव वक्र एक ओर किसी देश द्वारा वस्तु–विशेष की एक निश्चित मात्रा के बदले दूसरी वस्तु की एक निश्चित मात्रा देने की इच्छा को व्यक्त करता है और दूसरी ओर यह विभिन्न संभव व्यापार शर्तों या विनियम अनुपातों पर एक देश के उत्पाद के लिए मांग की इच्छा को व्यक्त करता है।

## 18.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

**अभ्यास प्रश्न–1**

**लघु उत्तरीय प्रश्नः**

2. एडम स्मिथ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत में योगदान पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिये।
3. निरपेक्ष लाभ सिद्धांत की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

**अति–लघु उत्तरीय प्रश्नः**

1. एडम स्मिथ की पुस्तक का नाम बताईये।
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धांत किस अर्थशास्त्री ने दिया?

**सत्य व असत्य :**

1. स्मिथ और रिकार्डो की विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति हैं।
2. स्मिथ के अनुसार दो देशों के बीच व्यापार तभी होता है जब लागतों में निरपेक्ष अंतर नही है।
3. प्रतिष्ठित सिद्धांत से पूर्व आधुनिक राष्ट्र राज्य के विकास के दौरान 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में वणिकवादी विचारधारा थी।
4. लागतों में समान अंतर होने पर भी व्यापार होगा।
5. वणिकवादी विनियमित, नियन्त्रित तथा प्रतिबंधित व्यापर नीति के पक्ष में नहीं थे।

**अभ्यास प्रश्न–1**

**अति–लघु उत्तरीय प्रश्नः**

1. एन इन्क्वायरी इनटू नेचर एंड काजेज आफ वेल्थ आफ नेशंस
2. डेविड रिकार्डो

**सत्य व असत्य :**

1. **सत्य**
2. **असत्य**
3. **सत्य**
4. **असत्य**
5. **असत्य**

## 18.11 संदर्भ ग्रंथ सूची


1. HH. G. Mannur, *International Economics* ,Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001
2. Bo Sodersten, International Economics ,Macmillan, 1999
3. Paul Krugman and Maurice Obstfeld: *International Economics: Theory and Policy, Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.*
4. Charles P Kindleberger, International Economics, Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968
5. Dominik Salvatore, International Economics, John Willy & Sons, Inc., 2008
6. D. M. Mithani, International Economics, Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006
7. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007
8. एम०एल०झिंगन, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010
9. ज्ञानेंद्र सिंह कुशवाहा, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979


## 18.12 उपयोगी / सहायक ग्रंथ

1. HH. G. Mannur, *International Economics* ,Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001
2. Bo Sodersten, International Economics ,Macmillan, 1999
3. Paul Krugman and Maurice Obstfeld: *International Economics: Theory and Policy, Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.*
4. Charles P Kindleberger, International Economics, Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968
5. Dominik Salvatore, International Economics, John Willy & Sons, Inc., 2008
6. D. M. Mithani, International Economics, Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006
7. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007
8. एम०एल०झिंगन, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010
9. ज्ञानेंद्र सिंह कुशवाहा, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979

## 18.13 निबंधात्मक प्रश्न

**1-** प्रतिष्ठित अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

**2-** रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धांत का विस्तृत विवेचन करते हुए इसकी कमियों का वर्णन कीजिए।

**3-** तुलनात्मक लागत व्यापार सिद्धांत की मान्यताएँ अवास्तविक है, इसलिए यह सिद्धांत अवैध है। विवेचना कीजिए।

# इकाई–19 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त
19.3.1 भूमिका
19.3.2 मान्यताएं
19.3.3 साधन सम्पन्नता
19.3.4 साधन सम्पन्नता के कीमत मापदण्ड के आधार पर सिद्धान्त की व्याख्या
19.3.5 साधन सम्पन्नता के भौतिक मापदण्ड के आधार पर सिद्धान्त की व्याख्या
19.3.5.1 जब उत्पादन तथा उपभोग का झुकाव भिन्न दिशाओं में हो।
19.3.5.2 जब उत्पादन तथा उपभोग का झुकाव एक दिशाओं में हो।
19.3.6 निष्कर्ष
19.4 प्रतिष्ठित सिद्धान्त से तुलना
19.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की कमियां
19.6 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय
19.6.1 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय की आलोचना
19.7 सारांश
19.8 शब्दावली
19.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
19.11 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ
19.12 निबंधात्मक प्रश्न

## 19.1 प्रस्तावना (Introduction)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के खंड एक "प्रस्तावना एवं सिद्धांत" से सम्बंधित यह पांचवीं इकाई है। इससे पहले की इकाईयों के अध्ययन के पश्चात् आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धांत, प्रतिपूरक मांग के सिद्धांत तथा अवसर लगत सिद्धांत के बारे में बता सकते हैं कि रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त के अनुसार व्यापार का मुख्य कारण श्रम उत्पादकता में अन्तर है, परन्तु श्रम की उत्पादकता में अन्तर क्यों है इसकी कोई व्याख्या प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री नहीं प्रस्तुत करते हैं। ओहलिन, रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अधूरा बताते हुए उसकी आलोचना करते हैं और तुलनात्मक लागतों में अन्तर के कारणों की व्याख्या करते हैं।

हेक्सर ओहलिन के आधुनिक व्यापार सिद्धान्त में व्यापार के कारणों की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। व्यापार का कारण है– विभिन्न देशों के पास भिन्न–भिन्न साधन उपलब्धता। विभिन्न देशों में साधन उपलब्धताओं में भिन्नता के कारण ही वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता पायी जाती है। जिससे देशों के बीच व्यापार सम्भव होता है।

प्रस्तुत इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हेक्सर ओह्लिन द्वारा दिये गये आधुनिक सिद्धांत के बारे में विस्तार से बताया गया है. इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक व्यापार सिद्धांत के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 19.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धांत के मुलभूत स्थापनाओं को समझ सकेंगे।
- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धांत तथा प्रतिष्ठित सिद्धांत में अंतरों को जान सकेंगे।
- ✓ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धांत की आनुभविक अध्ययनों के आधार पर परख कर सकेंगे।
- ✓ साधन कीमत समानीकरण प्रमेय को समझ सकेंगे।

## 19.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धांत

### 19.3.1 भूमिका

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार जो मूल्य सिद्धान्त घरेलू बाजार में लागू होता है वह अंतरराष्ट्रीय व्यापार में लागू नहीं होगा क्योंकि अंतरराष्ट्रीय तथा अंतरक्षेत्रीय व्यापार में अंतर है। परन्तु बर्टिल ओहलिन के अनुसार मूल्य का सामान्य साम्य विश्लेषण जो कि अतंरक्षेत्रीय व्यापार की व्याख्या के लिए उपयुक्त है, वही बिना किसी विशेष परिवर्तन के अंतरराष्ट्रीय व्यापार के लिए भी उपयुक्त है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार अंतरक्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशेष स्थिति है।

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसकी समग्र मांग और समग्र पूर्ति की समानता के द्वारा निर्धारित होता है और संतुलन बिन्दु पर वस्तु की कीमत औसत उत्पादन लागत के बराबर होती है। उत्पादन की लागत उत्पादन मे लगे साधनों

की कीमतें हैं जो कि वास्तव में संसाधनों की आय है जिससे आगे वस्तु की मांग उत्पन्न होती है। इस प्रकार वस्तुओं की कीमत, साधनों की कीमत, वस्तुओं की मांग और साधनों की मांग और पूर्ति में पारस्परिक अंर्तसंबंध और निर्भरता होती है।

वास्तव में, मार्शल के मूल्य के सामान्य साम्य विश्लेशण मे समय आयाम (time dimensions) तो है परन्तु स्थान आयाम (Space dimensioins) नहीं है। यह एक एकांकी बाजार सिद्धान्त है जो कि एक क्षेत्र या देश में प्रयुक्त होता है। ओहलिन का विचार है कि मूल्य के सामान्य सिद्धान्त में स्थान तत्व (Space element) को सम्मिलित करके इसका बहु–बाजार सिद्धान्त दिया जा सकता है, और इसका प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों या देशों के मध्य व्यापार में मूल्य निर्धारण के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार हेक्सर–ओहलिन का विद्धान्त अंतरराष्ट्रीय व्यापार का सामान्य संतुलन सिद्धान्त है।

सर्वप्रथम एली हेक्सर ने यह बताया कि जब दो देशों के मध्य व्यापार होता है तो मूल्य के पारस्परिक निर्भरता का सिद्धान्त क्रियाशील होता है। इसी आधार पर ओहलिन ने अंतरराष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की।

ओहलिन, रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अधूरा बताते हुए उसकी आलोचना करते हैं और तुलनात्मक लागतों में अन्तर के कारणों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त की रिक्तता की पूर्ति करता है।

ओहलिन के अनुसार विभिन्न देशों में, विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में पायी जाने वाली भिन्नता के कारण ही अंतरराष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता मुख्यतः उत्पादन साधनों की पूर्ति या उपलब्धता में भिन्नता के कारण होती है।

रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त के अनुसार व्यापार का मुख्य कारण श्रम उत्पादकता में अन्तर है, परन्तु श्रम की उत्पादकता में अन्तर क्यों है इसकी कोई व्याख्या प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री नहीं प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक व्यापार सिद्धान्त में व्यापार के कारणों की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। हेक्सर ओहलिन के आधुनिक व्यापार सिद्धान्त के अनुसार व्यापार का कारण है– विभिन्न देशों के पास भिन्न–भिन्न साधन उपलब्धता। विभिन्न देशों में साधन उपलब्धताओं में भिन्नता के कारण ही वस्तुओं की सापोक्षिक कीमतों में भिन्नता पायी जाती है जिससे देशों के बीच व्यापार सम्भव होता है।

सर्वप्रथम एली हेक्शर ने 1919 में यह विचार प्रस्तुत किया कि विभिन्न देशों में साधन सम्पन्नताओं में अन्तर के कारण अंतरराष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है। बर्टिन ओहलिन ने हेक्सर के इसी विचार के आधार पर अंतरराष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ओहलिन ने अपनी पुस्तक Inter-regional and International Trade (1933) में प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना की ओर अंतरराष्ट्रीय व्यापार का सामान्य संतुलन सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

हेक्सर ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार एक देश को उस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होगा और उसका निर्यात करेगा जो कि उस साधन का अधिक गहनता से प्रयोग करता है जो कि उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। दूसरे शब्दों में, कुछ देशों के पास पूँजी अधिक है और कुछ देशों के पास श्रम। सिद्धान्त के अनुसार जो देश पूँजी

सम्पन्न है वह पूँजी –प्रधान वस्तु तथा जो देश श्रम सम्पन्न है वह श्रम–प्रधान वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा।

सिद्धान्त की व्याख्या से पहले हम इसकी मान्यताओं का अध्ययन करेंगे, जिन पर यह सिद्धान्त आधारित है।

### 19.3.2. मान्यताएं

1. मात्र दो उत्पादन के साधन हैं श्रम और पूँजी।
2. दो देश हैं जो कि साधन सम्पन्नता में भिन्न है। एक देश पूँजी सम्पन्न है और श्रम दुर्लभ तथा दूसरा देश श्रम सम्पन्न और पूँजी दूर्लभ है।
3. मात्र दो वस्तुएँ है। दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रम और पूँजी दोनों संसाधन लगे हैं।
4. सभी उत्पादन–फलन प्रथम कोटि के समरूप हैं।
5. उत्पादन फलन इस प्रकार के हैं कि दो वस्तुओं की कारक गहनता भिन्न है परन्तु दो देशों में प्रत्येक वस्तु की कारक गहनता समान है।
6. दो वस्तुओं के उत्पादन फलन भिन्न है परन्तु दोनों देशों में एक ही वस्तु का उत्पादन–फलन समान है। अर्थात् वस्तुएँ दोनों ही देशों में एक ही तकनीकी से उत्पादित होती है।
7. परिवहन लागत, प्रशुल्क एवं अन्य प्रतिरोध नहीं है।
8. वस्तु तथा साधन बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

इन मान्यताओं के आधार पर हेक्सर–ओहलिन प्रमेय कहती है कि पूँजी आधिक्य देश, पूँजी गहन वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा और निर्यात करेगा तथा श्रम–प्रधान देश, श्रम–गहन वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा।

### 19.3.3. साधन–सम्पन्नता

हेक्सर–ओहलिन मॉडल में साधन–सम्पन्नता या प्रचुरता की धारणा को दो अर्थों में लिया गया है–

1. साधन–सम्पन्नता को साधन कीमतों के रूप में परिभाषित किया गया है। मूल्य मापदण्ड के अनुसार एक देश जिसमें पूँजी सापेक्षिक रूप से सस्ती और श्रम सापेक्षिक रूप से मंहगी है उसे पूँजी–प्रचुर देश कहा जाएगा भले ही इस देश में पूँजी और श्रम की उपलब्ध भौतिक मात्रा दूसरे देश के मुकाबले कितनी भी हो।

   यदि दो देश I और II हैं तो देश A पूँजी–प्रचुर देश होगा

   यदि $\left(\frac{Pk1}{Pl1}\right) < \left(\frac{Pk2}{Pl2}\right)$

   जहाँ $Pk_1$ – देश I में पूँजी की कीमत
   $Pl_1$ – देश I में श्रम की कीमत
   $Pk_2$ – देश II में पूँजी की कीमत
   $Pl_2$ – देश II में श्रम की कीमत

यह मापदण्ड दो देशों में उत्पादन के संसाधनों की माँग तथा पूर्ति दोनों दशाओं पर विचार करता है। ओहलिन सापेक्षिक संसाधन सम्पन्नता के लिए कीमत मापदण्ड का प्रयोग करते हैं परन्तु उनके अनुसार दो देशों में साधन कीमतों में अन्तर साधनों की आपूर्ति में

भिन्नता के कारण होती है। दूसरे शब्दों में ओहलिन का विश्वास है कि किसी देश में साधनों की सापेक्षिक कीमत निर्धारण में पूर्ति पक्ष की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती है।

2. साधन–सम्पन्नता को भौतिक पदों में भी परिभाषित किया जा सकता है। इस मापदण्ड के आधार पर एक देश सापेक्षिक रूप से पूँजी–प्रचुर देश होगा यदि दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ पूँजी का अनुपात श्रम से अधिक है। इसी प्रकार एक देश श्रम–प्रचुर होगा यदि दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ श्रम–पूँजी अनुपात अधिक है। देश I पूँजी–प्रचुर और देश II श्रम–प्रचुर होगा यदि

$$\left(\frac{\mathbf{K}K1}{L1}\right) > \left(\frac{K2}{L2}\right)$$

जहाँ $K_1$– देश I में पूँजी की कुल मात्रा
$K_2$– देश II में में पूँजी की कुल मात्रा
$L_1$– देश I में श्रम की कुल मात्रा
$L_2$– देश II में श्रम की कुल मात्रा

यह विशुद्ध पूर्ति पक्ष दृष्टिकोण है जो कि माँग दशाओं की पूरी तरह से उपेक्षा करता है।

साधन सम्पन्नता के दो वैकल्पिक मापदण्ड समान नहीं है। हेक्सर–ओहलिन का सिद्धान्त या प्रमेय कीमत–मापदण्ड का प्रयोग करने पर सिद्ध किया जा सकता है पर भौतिक मापदण्ड के साथ यह सिद्ध हो पाए, यह आवश्यक नहीं है। ओहलिन कीमत–मापदण्ड के आधार पर ही साधन–सम्पन्नता को परिभाशित करते हैं। उनके अनुसार यदि एक देश में पूँजी सापेक्षतया पूँजी सस्ती है तो वहाँ पूँजी की पूर्ति अवश्य ही अधिक होगी और यदि श्रम सापेक्षिक सस्ता है तो उस देश में श्रम की प्रचुरता होनी चाहिए।

### 19.3.4. साधन सम्पन्नता के कीमत मापदण्ड के आधार पर सिद्धांत की व्याख्या

हेक्सर–ओहलिन प्रमेय; कि एक देश यदि पूँजी–प्रधान है तो पूँजी प्रधान वस्तु का उत्पादन और निर्यात करेगा तथा दूसरा देश जहाँ श्रम की प्रचुरता है वह श्रम–प्रधान वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा इसका परीक्षण हम चित्र की सहायता से साधन–सम्पन्नता को कीमत–मापदण्ड के आधार परिभाषित करके करेंगे।

माना दो देश I और II हैं जो कि दो साधनों श्रम (L) और पूँजी (K) के प्रयोग से दो वस्तुएँ X और Y का उत्पादन करते हैं।

चित्र मे $P_0P_0$ देश I में साधन कीमत अनुपात तथा $P_1P_1$ देश II में साधन कीमत अनुपात को दर्शाता है। $P_0P_0$ तथा $P_1P_1$ की सापोक्षिक ढाल यह बताती है कि देश I में पूँजी सस्ती तथा श्रम मँहगा है और देश II में श्रम सस्ता और पूँजी मँहगी है। क्योंकि देश I में पूँजी प्रचुर तथा देश II श्रम–प्रचुर देश है।

वस्तु X का समोत्पाद वक्र xx तथा वस्तु Y का yy है जो कि क्रमशः वस्तु x तथा y की एक इकाई उत्पादन मात्रा को व्यक्त करते हैं। दोनों ही देशों में वस्तु x पूँजी–प्रधान तथा वस्तु y श्रम प्रधान है।

चित्र में समोत्पाद वक्र xx तथा yy एक दूसरे को केवल एक ही बार बिन्दु M पर काटते हैं। इससे यह प्रदर्शित होता है कि साधन गहनता की प्रतिलोमता नहीं है। अर्थात् एक वस्तु दोनों ही देशों में श्रम–प्रधान (वस्तु y) तथा दूसरी वस्तु दोनों ही देशों में पूँजी–प्रधान (वस्तु x) है। जैसी कि हेक्सर–ओहलिन की मान्यता है कि दो देशों में प्रत्येक वस्तु का उत्पादन फलन एक ही है।

चित्र की सहायता से अब आप इस बात को समझ सकते हैं कि कैसे पूँजी प्रधान देश पूँजी–गहन वस्तु तथा श्रम–प्रधान देश श्रम–गहन वस्तु का निर्यात करेगा।

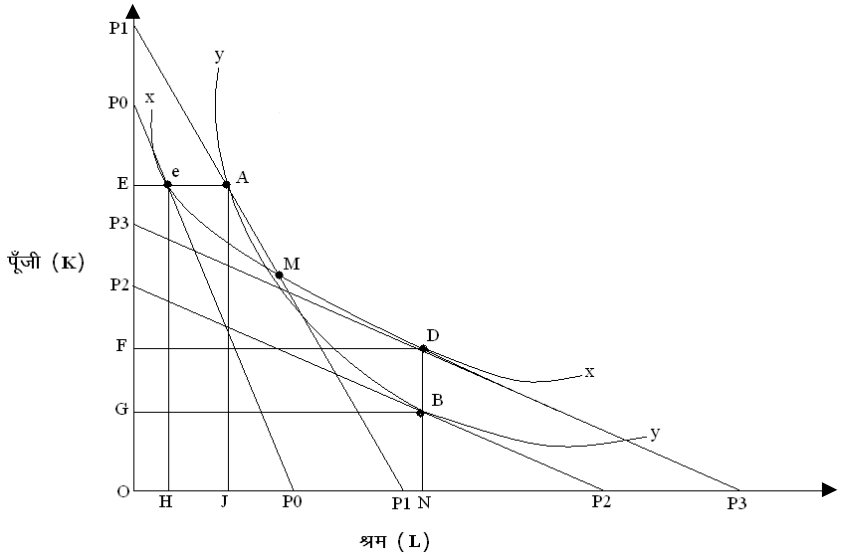


**चित्र 19.1** कीमत–मापदण्ड के आधार पर साधन–सम्पन्नता

पूँजी–प्रचुर देश I में साधन कीमत अनुपात रेखा $P_0P_0$ तथा $P_1P_1$ है, जो एक दूसरे समानान्तर है। श्रम–प्रचुर देश II में साधन कीमत अनुपात को सामानान्तर रेखाएँ $P_2P_2$ तथा $P_3P_3$ द्वारा दिखाया गया है। $P_0P_0$ या $P_1P_1$ के ढाल से स्पश्ट है कि देश I में पूँजी सस्ती है। इसी प्रकार $P_2P_2$ या $P_3P_3$ के ढाल से स्पष्ट है कि देश II में श्रम सस्ता है।

देश I एक इकाई वस्तु–X का उत्पादन CH मात्रा में पूँजी तथा CE मात्रा में श्रम के संयोग से करता है, क्योंकि C बिन्दु पर x वस्तु का समोत्पाद वक्र, समलागत रेखा $P_0P_0$ को स्पर्श करता है। इसी प्रकार देश I में एक इकाई y वस्तु की लागत AJ मात्रा पूँजी तथा AE मात्रा श्रम का संयोग है।

स्पष्ट है कि देश में I में एक इकाई वस्तु y के उत्पादन के लिए लगी पूँजी की मात्रा (AJ) वस्तु–x के उत्पादन में लगी पूँजी की मात्रा (CH) के बराबर है, परन्तु श्रम की मात्रा (AE), वस्तु x के उत्पादन में लगी श्रम की मात्रा (CA) से अधिक (AE=CE+CA) है।

आप इसे निम्न प्रकार से समझ सकते हैं–

देश I में, वस्तु–x की उत्पादन लागत = CH पूँजी + CE श्रम

वस्तु y की उत्पादन लागत

= AJ पूँजी + AE श्रम

= CH पूँजी + AE श्रम (क्योंकि चित्र में CH=AJ)

= CH पूँजी + (CE+CA) श्रम ( क्योंकि AE=CE+CA)

= (CH पूँजी + CE श्रम) + CA श्रम

= वस्तु–x की उत्पादन लागत + CA श्रम

(क्योंकि वस्तु–x की उत्पादन लागत=eH पूँजी+ eE श्रम) इसका अर्थ यह हुआ कि देश I में वस्तु–x,y की अपेक्षा सस्ती है। इसलिए पूँजी–प्रचुर देश I पूँजी–गहन वस्तु–x के उत्पादन में विशिष्टीकरण तथा निर्यात करेगा।

देश II एक इकाई वस्तु y का उत्पादन BN मात्रा में पूँजी तथा BG मात्रा में श्रम के संयोग से करता है। परन्तु वस्तु–x की उत्पादन लागत DN मात्रा में पूँजी तथा DF मात्रा मे। श्रम है। स्पष्ट है कि वस्तु–x की उत्पादन लागत में श्रम की मात्रा वस्तु–y के बराबर (DF=BG) परन्तु पूँजी की मात्रा (DN) वस्तु–y के उत्पादन में लगी मात्रा (BN) से अधिक है (DN=BN+BD)।

समीकरण के रूप में, आप इसे निम्न प्रकार से समझ सकते हैं–

देश II में, वस्तु–y की उत्पादन लागत = BG श्रम + BN पूँजी

वस्तु–x की उत्पादन लागत = DF श्रम + (BN+BD) पूँजी

(क्योंकि DF=BG तथा DN=BN+BD)

= (BG श्रम + BN पूँजी) + BD पूँजी

= वस्तु–y की उत्पादन लागत + BD पूँजी

स्पश्ट है कि देश II में वस्तु–y, वस्तु–x की अपेक्षा सस्ती है। इसलिए श्रम–प्रचुर देश II, श्रम गहन वस्तु–y के उत्पादन में विशिष्टीकरण तथा निर्यात करेगा।

इस प्रकार साधन–सम्पन्नता को साधन कीमतों के रूप में परिभाषित करने पर हेक्सर–ओहलिन प्रमेय को सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रमेय का उल्टा भी उतना ही सही है अर्थात् यदि एक देश पूँजी प्रधान वस्तु का निर्यात करता है तो पूँजी उस देश में सापेक्षतया सस्ता उत्पादन का साधन है।

परन्तु साधन कीमतों के आधार प्रमेय को स्थापित करने में माँग दशाओं या साधन उपलब्धता को ध्यान में नहीं रखा गया है। वास्तव में साधन कीमतें साधन की माँग तथा पूर्ति की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल है और साधन की माँग उत्पादन की तकनीक के साथ–साथ वस्तुओं की माँग पर निर्भर करती है। स्पष्ट है कि सिर्फ साधन–सम्पन्नता के आधार पर साधन–कीमतों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

### 19.3.5. साधन सम्पन्नता के भौतिक मापदण्ड के आधार पर सिद्धांत की व्याख्या

जैसा कि आप ऊपर देख चुके हैं कि यदि दो देश I तथा II हैं, देश I पूँजी–प्रचुर तथा देश II श्रम–प्रचुर देश होगा, यदि

$$\frac{K1}{L1} > \frac{K2}{L2}$$

जहाँ $K_1$ तथा $K_2$ क्रमशः देश I तथा II में पूँजी की कुल मात्रा और $L_1$ तथा $L_2$ श्रम की मात्रा है।

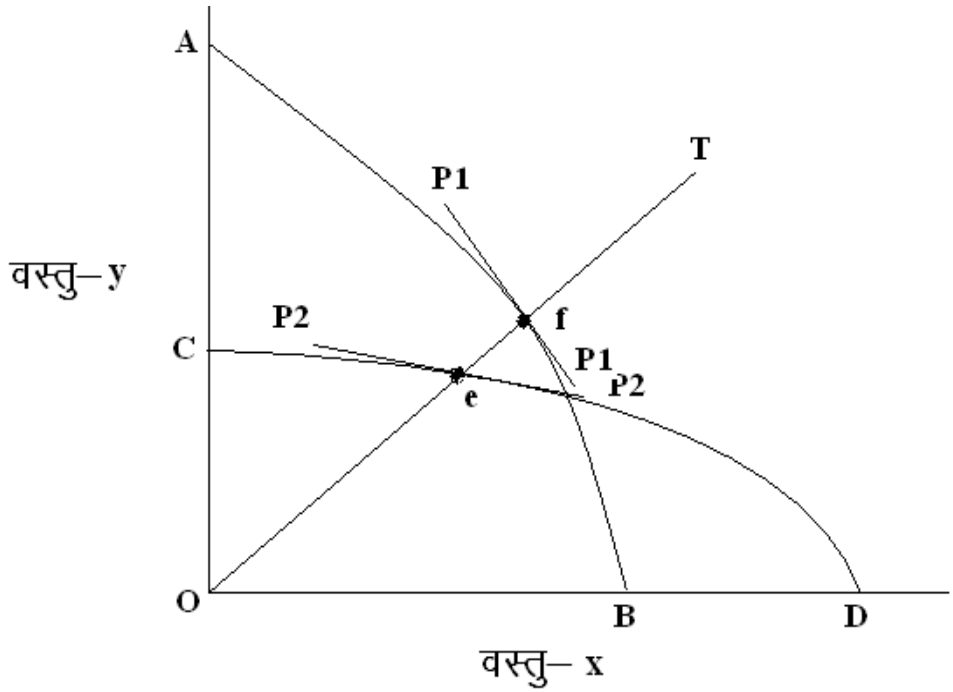


**चित्र 19.2** भौतिक मापदण्ड के आधार पर साधन–सम्पन्नता

इस आधार पर अब हम यह दिखाएगें कि देश I जो कि भौतिक मापदण्ड के आधार पर पूँजी–सम्पन्न देश हैं, पूँजी– प्रधान वस्तु के उत्पादन की ओर झुकाव होगा तथा श्रम–सम्पन्न देश II का झुकाव श्रम–प्रधान वस्तु की ओर होगा। इसे चित्र में दिखाया गया है।

चित्र 19.2 में तुलनात्मक रूप से वस्तु y पूँजी–प्रधान तथा वस्तु–x श्रम प्रधान वस्तु है। देश I का उत्पादन सम्भावना वक्र AB तथा देश II का CD है। मान लीजिए कि यदि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का उत्पादन समान अनुपात में, मूल बिन्दु से खींची गयी रेखा OT पर होता है, तो देश I अपने उत्पादन सम्भावना वक्र AB के बिन्दु f पर देश II, अपने उत्पादन सम्भावना वक्र eD के बिन्दु e पर उत्पादन करेगा। देश I के उत्पादन सम्भावना वक्र AB की बिन्दु f पर ढाल, देश II के वक्र eD के बिन्दु e की ढाल से अधिक तिरछी है। इसी प्रकार देश I की वस्तु कीमत रेखा $P_1P_1$, देश II की कीमत रेखा $P_2P_2$ से अधिक तिरछी है। इन सबका अर्थ यह है कि देश I में देश II की अपेक्षा वस्तु y सस्ती है तथा देश II से देश I की अपेक्षा वस्तु x सस्ती है यदि दोनों देश क्रमशः बिन्दु f तथा e पर उत्पादन कर रहे होते हैं।

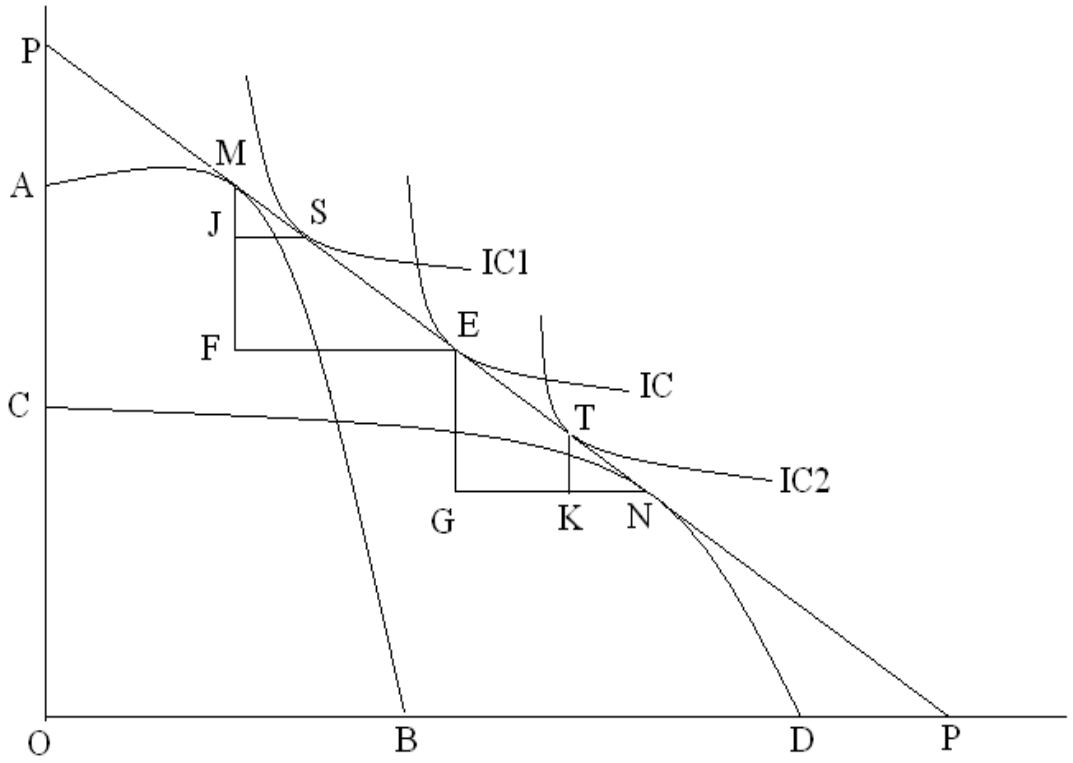


चित्र 5.3

अतः देश I में वस्तु y के उत्पादन के विस्तार की अवसर लागत, देश II की अपेक्षा कम है तथा देश II में वस्तु X के उत्पादन में विस्तार की अवसर लागत देश I की अपेक्षा कम है। इस प्रकार यह स्पश्ट है कि देश I, जो कि पूँजी–सम्पन्न देश है पूँजी–प्रधान वस्तु y तथा देश II जो कि श्रम–प्रचुर देश है, श्रम–प्रधान वस्तु x का उत्पादन बढ़ाने को उत्सुक होगा।

परन्तु इसके आधार पर हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि देश I, वस्तु y, का तथा देश II, वस्तु x का निर्यात करेगा। कौन सा देश किस वस्तु का निर्यात करेगा यह माँग कारकों पर निर्भर करेगा। भौतिक मापदण्ड के आधार पर हेक्सर–ओहलिन सिद्धान्त उसी स्थिति में सत्य हो सकता है जबकि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए उपभोक्ताओं की रुचियाँ उपभोग अधिमान समान हो और आयात माँग की लोच इकाई के बराबर हो।

### 19.3.5.1 जब उत्पादन तथा उपभोग का झुकाव भिन्न दिशाओं में हो

चित्र 19.3 में देश I तथा II का उत्पादन संभवना वक्र चित्र 19.2 की तरह ही है। चित्र में दोनों में माँग की दशाओं को भी दिखाया गया है। दोनों देशों के बीच व्यापार शुरु होने के पश्चात्, देश I, वस्तु y के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है और उसका उत्पादन बिन्दु M पर विवर्तित हो जाता है। जबकि देश II वस्तु x के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है और अब N बिन्दु पर उत्पादन करता है। बिन्दु M तथा N उत्पादन के अनुकूलतम बिन्दु है क्योंकि अंतरराष्ट्रीय व्यापार–शर्त रेखा, M तथा N को स्पर्श करती है जो व्यापार के पश्चात् दोनों देशों की सापेक्षिक साधन कीमत रेखा भी है। इस प्रकार

पूँजी–प्रचुर देश I, पूँजी–प्रधान वस्तु y का तथा श्रम–प्रचुर देश II, श्रम–प्रधान वस्तु x के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है।

यदि दोनों देशों में माँग की दशाएँ ऐसी हों, जिसे कि चित्र में IC वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है, तो दोनों देश बिन्दु E पर उपभोग करते हैं। इस स्थिति में देश I, FM मात्रा वस्तु y का निर्यात तथा FE मात्रा में वस्तु x का आयात करेगा जबकि देश II वस्तु x की GM मात्रा निर्यात तथा वस्तु y की GE मात्रा का आयात करेगा। अतः पूँजी प्रधान देश I, पूँजी प्रधान वस्तु y का निर्यात तथा श्रम–प्रधान वस्तु x का आयात करेगा। इसी प्रकार श्रम–प्रधान देश II, श्रम–प्रधान वस्तु x का निर्यात तथा पूँजी–प्रधान वस्तु y का आयात कर रहा है। ऐसी स्थिति में हेक्सर–ओहलिन प्रमेय स्थापित होती है, और पूरी तरह वैध है।

वास्तव में, हेक्सर–ओहलिन प्रमेय की वैधता के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग बिन्दु, जैसे चित्र 19.3 में बिन्दु E, दोनों देशों के उत्पादन बिन्दुओं के बीच में कहीं हो अर्थात् बिन्दु M के दाहिनी ओर तथा बिन्दु N के बायीं ओर स्थित है।

दोनों देशों में उपभोक्ताओं की रुचियाँ समान होने पर चित्र 19.3 में दोनों देशों के लिए एक ही अधिमान वक्र IC है। परन्तु यदि दोनों देशो में उपभोक्ताओं की रुचियाँ भिन्न हों तो भी हेक्सर–ओहलिन प्रमेय मान्य होगा यदि उपभोग बिन्दु M और N के बीच स्थित है। चित्र में, उपभोक्ताओं की रुचियाँ दोनों देशों में भिन्न होने पर देश I का समुदाय अधिमान वक्र $IC_1$ तथा देश II का $IC_2$ है। इस स्थिति में, देश उत्पादन M तथा उपभोग S पर और देश II उत्पादन N तथा उपभोग T बिन्दु पर कर रहा है। देश I, JM मात्रा में वस्तु y का निर्यात तथा JS मात्रा में वस्तु x का आयात कर रहा है जबकि देश II KN मात्रा में वस्तु x का निर्यात तथा KT मात्रा में वस्तु y का आयात कर रहा है। और इस प्रकार हेक्सर–ओहलिन प्रमेय मान्य है।

यदि माँग दशाएँ ऐसी है कि देश I का समुदाय अधिमान वक्र बिन्दु S तथा देश II का बिन्दु N पर स्पर्श करें तो दोनों देश उसी बिन्दु पर उपभोग करेंगे जहाँ उत्पादन कर रहे हों। ऐसी स्थिति में दोनों देशों में व्यापार नहीं होगा। इस स्थिति में भी हेक्सर–ओहलिन सिद्धान्त मान्य होगा, परन्तु सिर्फ उत्पादन में विशिष्टीकरण के सम्बन्ध में माँग की दशाएँ व्यापार की दिशा में परिवर्तन ला सकती है।

### 19.3.5.2 जब उत्पादन तथा उपभोग का झुकाव एक ही दिशा में हो

जब दोनों देशों में उत्पादन तथा उपभोग का झुकाव एक ही दिशा में हो तो ऐसी स्थिति को चित्र 19.4 में दिखाया गया है। चित्र 19.4 में देशा I का समुदाय अधिमान वक्र $IC_1$ है और देश II का $IC_2$, जोकि यह दर्शाता है कि देश I में माँग का झुकाव पूँजी–प्रधान वस्तु की ओर तथा देश II माँग का झुकाव श्रम–प्रधान वस्तु की ओर है। फलस्वरूप, देश I, उत्पादन M बिन्दु पर करता है और पूँजी–प्रधान वस्तु y के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। दी हुई माँग दशाओं के अंतर्गत देश I, बिन्दु E पर उपभोग करेगा, अर्थात् वह GM मात्रा में वस्तु x का निर्यात करेगा तथा GE मात्रा में वस्तु y का आयात करेगा। इसी प्रकार देश II, वस्तु x के उत्पादन में विश्शिटीकरण प्राप्त करेगा और बिन्दु N पर उत्पादन करेगा। परन्तु दी हुई माँग दशाओं के अंर्तत उपभोग बिन्दु F पर करेगा। इस प्रकार देश II, NH मात्रा में वस्तु y का निर्यात तथा HF मात्रा में वस्तु x का आयात करेगा।

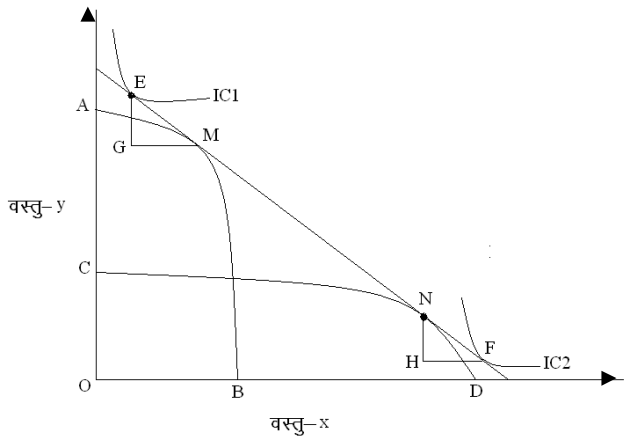


चित्र– 19.4

स्पष्ट है कि माँग की प्रतिलोमता की स्थिति में पूँजी–प्रचुर देश I, श्रम–प्रधान वस्तु x का निर्यात तथा पूँजी प्रधान वस्तु y का आयात करेगा, जबकि श्रम–प्रचुर देश II, पूँजी प्रधान वस्तु y का निर्यात तथा श्रम–प्रधान वस्तु x का आयात करेगा। इस प्रकार पूर्ति या लागत दशाओं के आधार पर जो व्यापार की दिशा होनी चाहिए, उसे माँग की दशाएँ उलट देती है, और इस स्थिति में हेक्सर–ओहलिन प्रमेय असत्य हो जाती है।

### 19.3.6. निष्कर्षः

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि हेक्सर–ओहलिन सिद्धान्त में साधन–सम्पन्नता की दोनों व्यवस्थाएँ समान नहीं हैं। केवल साधन कीमतों के मापदण्ड के आधारपर साधन सम्पन्न्ता को परिभाषित करने पर ही यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है। भौतिक मापदण्ड के रूप में साधन सम्पन्नता को परिभाषित करने पर यह सिद्धान्त केवल तभी वैध होगा जब माँग की प्रतिलोमता की स्थिति न हो।

## 19.4 प्रतिष्ठित सिद्धान्त से तुलना

यह सिद्धान्त काफी व्यापाक और तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करता है।

उपरोक्त विवेचना से आप समझ गए होंगे की हेक्सर ओहलिन द्वारा दिया गया, व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त से काफी भिन्न है। साथ ही आधुनिक सिद्धान्त को निम्नलिखित आधार पर प्रतिष्ठित सिद्धान्त से बेहतर कहा जा सकता है–

1. प्रतिष्ठित सिद्धान्त की तरह ओहलिन अंतरराष्ट्रीय व्यापार का एक अलग सिद्धान्त नहीं देते हैं, बल्कि मार्शल द्वारा दिए मूल्य के सामान्य सिद्धान्त में स्थान तत्व को सम्मिलित करके उसे अंतरराष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में विस्तार देते हैं। वे अंतरराष्ट्रीय व्यापार को अंतरक्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशेष स्थिति मानते हैं।
2. आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के सामान्य संतुलन पर आधारित है, जबकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित हो, जो कि अवास्तविक है।
3. रिकार्डो के सिद्धान्त में मात्र एक साधन श्रम है, जबकि ओहलिन श्रम और पूँजी दो साधन को लेकर अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि दो से अधिक साधन होंगे तो साधन गहनता की संकल्पना को परिभाषित करना मुश्किल हो जाएगा।

4. आधुनिक सिद्धान्त साधनों की पूर्ति में अन्तर के आधार पर अंतरराष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे को निर्धारित करता है। साथ ही यह साधनों की सापेक्षिक कीमतों पर आधारित होने के कारण आधिक वास्तविक है। जबकि रिकार्डो साधनों की पूर्ति पर ध्यान नहीं देते हैं और सिर्फ वस्तुओं की सापोक्ष कीमतों पर ही विचार करते हैं।

   ओहलिन श्रम और पूँजी की सापेक्ष उत्पादकता के अंतरों को व्यापार का आधार मानते हैं। जबकि रिकार्डो सिर्फ श्रम की उत्पादकता के आधार पर ही सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं।

5. रिकार्डो दो देशों में श्रम की गुणवत्ता में भिन्नता के आधार पर उत्पादन फलन में अंतर की व्याख्या करते हैं, जो कि व्यापार का आधार है। जबकि ओहलिन देशों की बीच साधन–सम्पन्नता में भिन्नता के कारण कीमतों में अन्तर की व्याख्या करते हैं।

   इस प्रकार प्रतिष्ठित सिद्धान्त उत्पादन फलनों में अन्तर के आधार पर तुलनात्मक लाभ की व्याख्या करते हैं, इसके विपरीत आधुनिक सिद्धान्त दोनों देशों में एक वस्तु का एक उत्पादन–फलन मानता है और तुलनात्मक लाभ का आधार देशों के बीच साधन अनुपातों में भिन्नता को मानता है।

6. रिकार्डो तुलनात्मक लागत अंतरों का आधार क्या है, यह स्पष्ट नहीं करते हैं। ओहलिन के अनुसार संसाधनों की भौतिक मात्रा में अंतर के कारण देशों के बीच अन्तरराश्ट्रीय व्यापार का उदय होता है न कि विभिन्न क्षेत्रों में साधनों की गुणवत्ता में अंतर के कारण। ओहलिन ने स्पष्ट किया कि विभिन्न क्षेत्रों/देशों में साधन–अनुपातों में अन्तर के कारण ही तुलनात्मक लागतों में अन्तर होता है।
7. प्रतिष्ठत सिद्धान्त विदेशी व्यापार के कल्याणात्मक या मूल्यात्मक पक्ष को स्थापित करता है। इसके अनुसार व्यापार में सम्मिलित सभी देशों को व्यापार से लाभ होगा। परन्तु ठीक यही बात आधुनिक सिद्धान्त के संदर्भ में नहीं कही जा सकती है।

आधुनिक सिद्धान्त व्यापार से होने वाले लाभ पर ध्यान नहीं देता है बल्कि वह व्यापार की संरचना और साधन–कीमतों की स्थिति पर ही ध्यान देता है और इस आधार पर सिर्फ व्यापार के संतुलन की व्याख्या करता है, जो कि धनात्मक अर्थशास्त्र का हिस्सा बन जाता है न कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र का। इस प्रकार, आधुनिक सिद्धान्त व्यापार के आधार पर केन्द्रित है, जबकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त अंतरराष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को दिखाने का प्रयास करता है। वस्तुतः आधुनिक सिद्धान्त, प्रतिश्ठत सिद्धान्त से बेहतर ढंग से अंतरराष्ट्रीय व्यापार के कारणों की व्याख्या करता है और यह उसमें एक बेहतर सुधार करता है।

## 19.5 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धांत की कमियाँ

आधुनिक व्यापार सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की गयी है–

1- आधुनिक व्यापार सिद्धान्त की मान्यताएँ अवास्तविक तथा अति सरलीकृत हैं। यह सिद्धान्त केवल दो देश, दो वस्तुओं तथा दो साधनों को लेकर ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार पूर्ण–प्रतियोगिता, पूर्ण–रोजगार, समान–उत्पादन–फलन, शून्य परिवहन लागत जैसी मान्यताएँ भी अवास्तविक हैं।

   परन्तु बाद में ओहलिन ने अनेक, प्रदेशों, अनेक वस्तुओं तथा अनेक साधनों के संदर्भ अपने सिद्धान्त को विस्तारित किया। इसी प्रकार ओहलिन के अनुसार अन्य मान्यताओं में ढील देने पर भी उनका सिद्धान्त उसी प्रकार मान्य है।

**2-** इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार का कारण दो देशों या क्षेत्रों के बीच साधन सम्पन्नता में भिन्नता है। परन्तु व्यवहार में विश्व व्यापार का एक बड़ा भाग ऐसे देशो के बीच होता है जिनकी साधन–सम्पन्नता लगभग एक जैसी है।

वस्तुतः तुलनात्मक लागत मे भिन्नता के कारण की व्यापार होता है। ओहलिन का सिद्धान्त अंतरराष्ट्रीय व्यापार में लागत को प्रभावित करने वाले घटको जैसे, परिवहन लागतों, पैमाने की बचतें, आन्तरिक व वाह्य बचतें आदि की उपेक्षा करता है, और इस प्रकार यह सामान्य साम्य की प्रणाली को विकसित करने में असमर्थ है।

प्रो0 हैबरलर का कहना है कि यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त वास्तविकता के अधिक निकट है परन्तु यह पूर्ण सामान्य संतुलन प्रणाली को विकसित करने में असफल है। मोटे तौर पर यह एक आंशिक संतुलन विश्लेशण ही है।

**3-** हेक्सर–ओहलिन सिद्धान्त की वैधता के लिए यह आवश्यक है कि दो देशों में एक वस्तु के उत्पादन–फलन समान हो एवं कारक–गहनता की प्रतिलोमता हो। अर्थात् दो वस्तुओं के समोत्पाद वक्र एक–दूसरे को केवल एक ही बार काटे।

कारण–गहनता की प्रतिलोमता की स्थिति में, अर्थात् जब दो समोत्पाद वक्र एक दूसरे को एक से अधिक बार काटेंगे, हेक्सर–ओहलिन सिद्धान्त अवैध हो जाता है।

मिन्हास तथा अन्य लोगों ने 19 देशों के 24 उद्योगों के आँकड़ों के आधार पर यह पाया कि 5 मामलों में साधन प्रतिलोमता की स्थिति है। हालांकि लियोन्टीफ तथा मोरोनी मिन्हास के निश्कर्शों की आलोचना करते हैं।

परन्तु यह स्पष्ट है कि साधन–प्रतिलोमता की स्थिति में हेक्सर–ओहलिन मॉडल, अंतरराष्ट्रीय व्यापार की संरचना तथा दिशा के निर्धारण में महत्वहीन हो जाता है।

**4-** ओहलिन के अनुसार दो देशों के बीच साधनों की कीमतों में सापेक्षिक अंतर का कारण साधनों की उपलब्धता में सापेक्षिक अन्तर है। अर्थात् साधनों के मूल्य निर्धारण में माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु यदि माँग की दशाएँ पूर्ति की अपेक्षा साधनों के कीमत निर्धारण में अधिक महत्वपूर्ण हो जाएँ तो सम्भव है कि पूँजी–प्रधान देश श्रम–प्रधान वस्तु का निर्यात करने लगे, जो कि ओहलिन की परिकल्पना के विपरीत है।

लियोन्टीफ ने अपने आनुभविक जाँच में यह पाया कि अमेरिका एक पूँजी प्रधान देश होते हुए भी, श्रम–प्रधान वस्तु का निर्यात तथा पूँजी गहन वस्तु का आयात करता है। इसी को 'लियोन्टीफ विरोधाभास' कहते हैं।

**5-** यदि उपभोक्ताओं के अधिमान और वस्तुओं की माँग पर भी विचार किया जाए तो वस्तु कीमत अनुपात लागत अनुपात से भिन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में ओहलिन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है।

दो देशों में समान साधन अनुपात होते हुए भी उपभोक्ता के अधिमान, रुचि या आय–वितरण में अन्तर के कारण अंतरराष्ट्रीय व्यापार हो सकता है।

इस प्रकार दो देशों में साधन तथा वस्तु बाजारों में माँग दशाओं में सापेक्षिक भिन्नता भी अंतरराष्ट्रीय व्यापार का आधार हो सकती है।

दो A देश और B हैं, जो कि x और y का उत्पादन करते हैं। दोनों ही देशों का उत्पादन संभावना वक्र AB है। व्यापार से पूर्व देश A का उत्पादन तथा

उपभोग का साम्य बिन्दु e पर तथा देश B का f पर है। स्पश्ट है कि देश A में वस्तु y के लिए तथा देश B में वस्तु x के लिए उपभोक्ताओं की रुचि अत्यन्त तीव्र है।

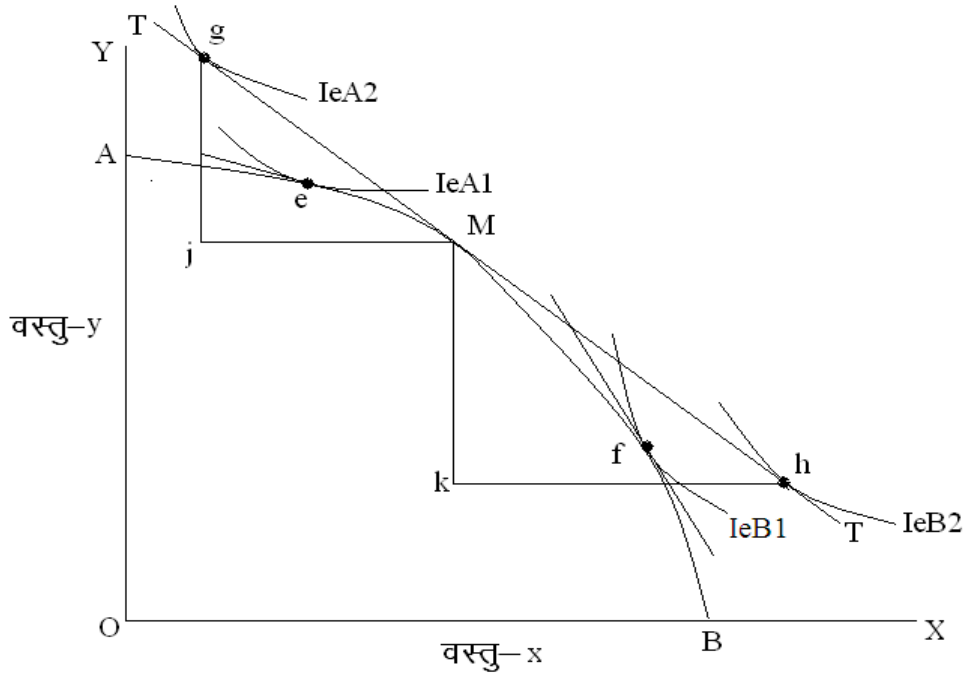


चित्र– 19.5

व्यापार शुरू होने के पश्चात् अंतरराष्ट्रीय व्यापार शर्त रेखा TT के अनुसार दोनों देश व्यापार करते हैं। दोनों देशों का उत्पादन का संतुलन बिन्दु M पर होगा। देश A, वस्तु x तथा देश B वस्तु y के उत्पादन में विशिष्टीकरण का प्रयास करता है। परन्तु व्यापार के पश्चात् दोनों देश अपने उत्पादन संभावना वक्र के बाहर बिन्दु पर उपभोग कर रहे हैं। देश A, बिन्दु g पर तथा देश B का संतुलन बिन्दु h पर होगा। स्पष्ट है कि साधन समानुपात भिन्न होने पर भी व्यापार हो सकता है।

6- साधनों में गुणात्मक भिन्नता, भिन्न उत्पादन तकनीक, उपभोक्ताओं की माँग में भिन्नता आदि कारणों से भी दो देशों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता हो सकती है। ओहलिन भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके अनुसार साधनों की उपलब्धता में अन्तर व्यापार के आधार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है।

**7-** विजनहोल्ड्स का कहना है कि वस्तुओं की कीमतें उनकी उत्पादन लागतों से निर्धारित नहीं होती है बल्कि उसकी उपभोक्ताओं के लिए उसकी उपयोगिता से। कच्चे माल और श्रम की कीमतें अंततः वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर करती हैं।

**8-** आधुनिक सिद्धान्त भी स्थैतिक है क्योंकि यह उत्पादन के साधनों की मात्रा, उपभोक्ताओं की आय तथा पसन्दगी, उत्पादन फलन इत्यादि दिया हुआ मान लेता है।

## 19.6 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय

एली हेक्सर के अनुसार स्वतंत्र व्यापार से साधन कीमतों में पूर्ण समानता हो जाती है। दूसरी तरफ ओहलिन का कहना था कि व्यवहार में साधन–कीमतों में पूर्ण समानता सम्भव नहीं है। स्वतंत्र व्यापार से सिर्फ साधन–कीमत समानीकरण की प्रवृति आती है और सिर्फ आंशिक साधन कीमत समानीकरण ही सम्भव है। स्टॉलपर तथा सैम्युल्सन और ऊजावा ने भी बाद में अपने मॉडलों में आंशिक समानीकरण का ही समर्थन किया। सैम्युल्सन ने बाद में और लर्नर ने पूर्ण साधन–कीमत समानीकरण के मॉडल दिए।

आप 2×2×5 मॉडल (अर्थात 2 देश, 2 वस्तुएँ और 2 साधन) के द्वारा देखेंगे कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार के फलस्परूप किस प्रकार साधन–कीमतों में समानीकरण होता है।

साधन कीमत समानीकरण के अनुसार अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधनों की अंतरराष्ट्रीय गतिशीलता का प्रतिस्थापन है। दो देशों की बीच वस्तुओं का स्वतंत्र व्यापार तुलनात्मक लागतों की भिन्नता को समाप्त कर देता है और साधनो के सापेक्षिक मूल्यों में समानता स्थापित हो जाती है।

देश A एक श्रम–प्रचुर देश है और पूँजी–दुर्लभ। इसलिए श्रम सस्ता तथा पूँजी मंहगी है। अतः पूँजी–श्रम अनुपात (K/L) सापेक्षतया कम है। इसी प्रकार देश B में श्रम दुर्लभ और मंहगा तथा पूँजी प्रचुर और सस्ती है तथा पूँजी–श्रम अनुपात (K/L) सापेक्षतया अधिक है। यह स्थिति व्यापार से पहले की है। व्यापार के पश्चात देश A में पूँजी–श्रम अनुपात बढ़ेगा और देश B में कम होगा, जब तक कि K/L अनुपात दो देशों में बराबर नहीं हो जाता। वास्तव में व्यापार शुरु होने के पश्चात देश A श्रम–प्रधान वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा और उसका निर्यात करेगा। जिससे श्रम सापेक्षितया दुर्लभ होता जाएगा और उसकी कीमत बढ़ेगी। जबकि दुर्लभ साधन पूँजी सापेक्षिक रूप से प्रचुर हो जाएगी और इसकी कीमत गिरेगी। इसी प्रकार देश B में व्यापार के बाद पूँजी–प्रधान वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण से पूँजी की कीमत बढ़ेगी तथा दुर्लभ साधन श्रम सापेक्षतया प्रचुर हो जाएगा और उसकी कीमत घटेगी तथा इस प्रकार K/L घटेगा।

इस प्रकार व्यापार के परिणामस्वरूप बिना उत्पादन के संसाधनों की गति के दो देशों के बीच साधन कीमतें (K/L अनुपात) समान हो जाती है।

साधन–कीमत समानीकरण की प्रक्रिया को एडवर्थ–बाडले बाक्स–चित्र की सहायता से आप समझ सकते हैं।

दो देश A और B में वस्तु x तथा y का उत्पादन होता है। चित्र 19.6 में x और y का मूल बिन्दु क्रमशः 0 तथा $0^1$ दिखाया गया है। पूँजी को उर्ध्व अक्ष तथा श्रम को क्षेतिज अक्ष पर लिया गया है। दोनों ही देशों में सदैव ही वस्तु x श्रम–गहन तथा वस्तु y पूँजी–गहन है। देश A श्रम–प्रचुर तथा देश B पूँजी–प्रचुर देश है।

चित्र 19.6 में बाक्स $OA0^1B$ देश A के साधन पूर्ति को देर्शाता है। संविदा वक्र $Oe0^1$ है जो कि यह बताता है कि वस्तु x श्रम–गहन तथा वस्तु y पूँजी गहन है।

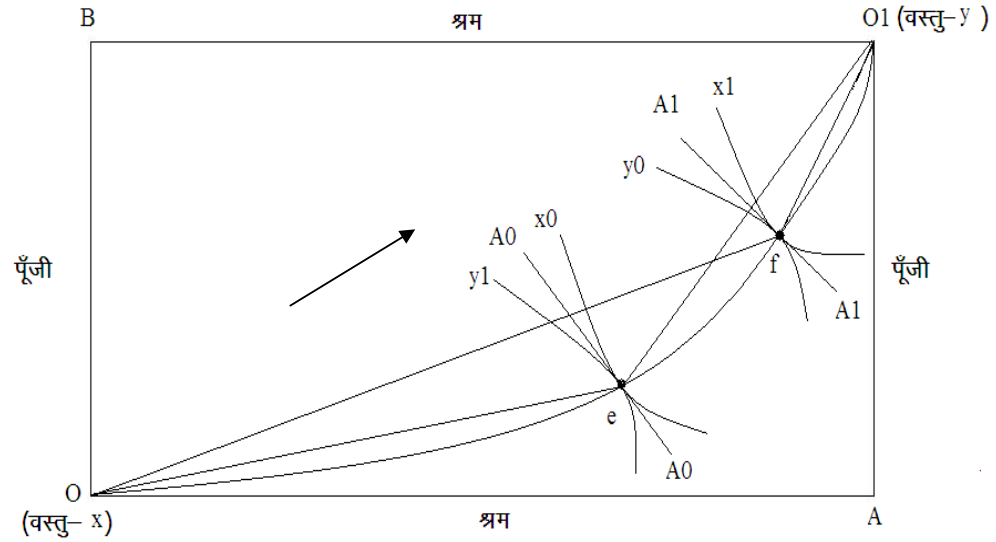


चित्र– 19.6

समोत्पाद वक्र $X_0,X_1$ वस्तु x के लिए तथा $Y_0,Y_1$ वस्तु y के लिए है।

व्यापार से पहले देश A, बिन्दु e पर उत्पादन करता है। जहाँ कि वस्तु x का समोत्पाद वक्र $X_0$, वस्तु y के समोत्पाद वक्र $Y_0$ को स्पर्श करता है। साधन कीमत रेखा $P_0P_0$ भी बिन्दु e पर दोनों वस्तुओं के समोत्पाद वक्रों को स्पर्श कर रही है। बिन्दु e पर वस्तु x में पूँजी–उत्पाद अनुपात $(K_x/L_x)$ वस्तु y के पूँजी–उत्पाद अनुपात $(K_y/L_y)$ से कम है। जो कि यह स्पष्ट करता है कि वस्तु y पूँजी–गहन तथा वस्तु x श्रम–गहन है।

ज्यामितीय रूप में–

वस्तु x पूँजी श्रम अनुपात– $\frac{Kx}{Lx} = \angle eoA$ तथा $\frac{Ky}{Ly} = \angle eo'B$

चित्र में, $\angle eo^1B > \angle eoA$

अर्थात $\frac{Ky}{Ly} > \frac{Kx}{Lx}$

अर्थात् वस्तु y पूँजी प्रधान तथा x श्रम–प्रधान है। व्यापार शुरु होने के पश्चात देश A वस्तु x के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा और वह उत्पादन संसाधनों को वस्तु y से वस्तु x उद्योग में लगाएगा। परिणाम स्वरूप संविदा वक्र पर उसका उत्पादन का संतुलन e से बिन्दु f पर चला जाएगा। देश A द्वारा व्यापार के पश्चात वस्तु x का उत्पादन बढ़ाने पर बिन्दु f पर इसके उत्पादन पूँजी–श्रम अनुपात में वृद्धि हो गयी जबकि वस्तु y का उत्पादन घटाने से उसके उत्पादन पूँजी–श्रम अनुपात $(\frac{Ky}{Ly})$ में भी वृद्धि हो गयी।

बिन्दु f पर, $\angle FoA > \angle eoA$ तथा

$\angle fo^1B > \angle eo^1B$

स्पष्ट है कि व्यापार के पश्चात, श्रम–प्रचुर देश A में दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात में वृद्धि हो गयी। यह साधन कीमत रेखा के ढाल में परिवर्तन से भी स्पष्ट है। व्यापार के पश्चात की साधन कीमत रेखा $P_1P_1$, व्यापार–पूर्व की कीमत रेखा $P_0P_0$ से अधिक तिरछी है।

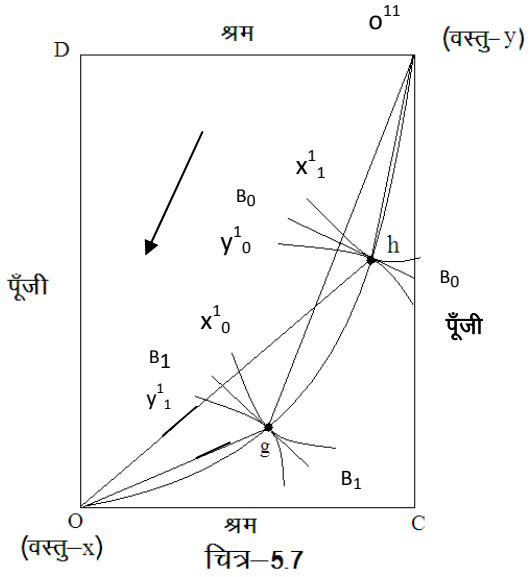


चित्र–5.7

चित्र 19.7 में, $OCO^1D$ के बाक्स, देश B, जो कि पूँजी–प्रचुर देश है, के कुल संसाधन आपूर्ति को बताता है। संविदा वक्र $O^1hO$ से स्पष्टत है कि वस्तु y, पूँजी गहन तथा वस्तु x, श्रम गहन है। व्यापार से पहले देश B बिन्दु h पर उत्पादन करता है, जहाँ दोनों वस्तुओं के समोत्पादन वक्र $x_o$ तथा $y_0$ साधन कीमत रेखा $P_0P_0$, पर, बिन्दु h पर स्पर्श करते हैं। बिन्दु h पर, $\frac{Kx}{Lx}$ ( X के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात)= $\angle$hoe तथा $\frac{Kx}{Lx}$ = $\angle ho^1D$

$\angle$ $ho^{11}D > \angle hoe$

अर्थात् वस्तु y पूँजी–प्रधान तथा वस्तु x श्रम प्रधान है। व्यापार शुरु होने के पश्चात देश B, वस्तु y के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करने के लिए उसका उत्पादन बढ़कर और नया उत्पादन का संतुलन j बिन्दु पर होगा। फलस्वरूप देश B में वस्तु x तथा y दोनों में पूँजी–श्रम अनुपात में कमी आ जाती है।

बिन्दु j पर, $\frac{Kx}{Lx} = \angle joc$ तथा $\frac{Ky}{Ly} = \angle jo^{11}D$

चित्र में स्पष्ट है कि $\angle joc < \angle hoe$ तथा

$\angle jo^{11}D < \angle ho^{11}D$

स्पष्ट है कि व्यापार के पश्चात्, पूँजी–प्रचुर देश B में दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात में कमी हो गयी। यह साधन की सापेक्षिक कीमत अनुपात रेखा के

ढाल में परिवर्तन से भी स्पष्टत है। व्यापार के पश्चात $P_1P_1$, $P_0P_0$ से अधिक सपाट हो जाती है।

अब आप दोनों देशों के बाक्स चित्र को संयुक्त रूप से एक साथ दिखाकर साधन–कीमत समानीकरण को दिखा सकते हैं।

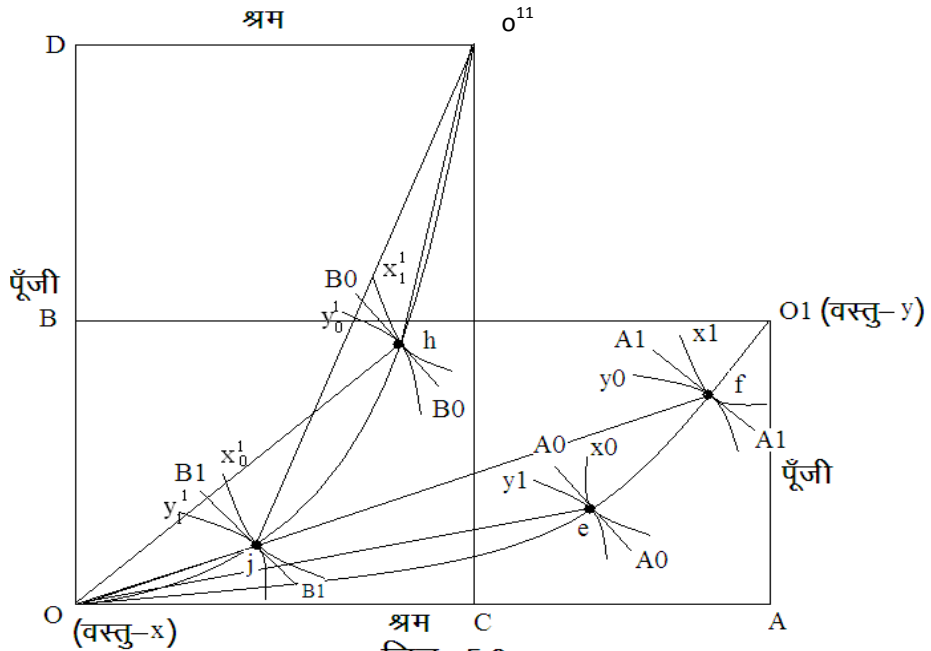


चित्र–5.8

चित्र 19.8 में दोनों देशों के बाक्स चित्रों को एक साथ दिखाया गया है। वस्तु x के लिए दोनों देशों का मूल बिन्दु o है। जबकि वस्तु y के लिए देश A का मूल बिन्दु $o^1$ o तथा देश B मूल बिन्दु $o^{11}$ oहै। देश A में वस्तु x तथा y के समोत्पाद वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं से प्राप्त संविदा वक्र $oeo^1$ है जबकि देश B का संविदा वक्र $ojo^{11}$ है। दोनों देशों के संविदा वक्र इस प्रकार से है कि दोनों ही देशों में सभी साधन–कीमत अनुपातों पर वस्तु x श्रम–गहन तथा वस्तु y पूँजी–गहन है क्योंकि दोनों वस्तुओं के उत्पादन फलन दोनों देशों में समान हैं, भले ही साधनों की कीमतों में भिन्नता हो।

व्यापार से पूर्व देश A, बिन्दु e तथा देश B, बिन्दु j पर उत्पादन कर रहा है। दोनों देशों में साधन कीमत अनुपात भिन्न है देश A में $A_oA_o$ तथा देश B में $B_oB_o$

व्यापार से पूर्व साधन कीमत अनुपात को व्यक्त कर रही है।

व्यापार शुरू होने के बाद दोनों देशों में उत्पादन का संतुलन परिवर्तित हो जाता है और साधन कीमत अनुपात भी परिवर्तित हो जाता है। देश A में उत्पादन का संतुलन बिंदु E से बिंदु F पर तथा देश B में h से j पर चला जायेगा। साधन कीमत रेखा देश A में $A_1A_1$ तथा देश B में $B_1B_1$ हो जाती है। साधन–कीमत रेखा $A_1A_1$ तथा देश $B_1B_1$ में समानान्तर है। अर्थात् दोनों का ढाल बराबर है जो यह प्रदर्शित करता है कि व्यापार के पश्चात्, व्यापार के कारण दोनों देंशों में साधनों की कीमतें समान हो जाएगी। चित्र में व्यापार के

पश्चात् देश A में वस्तु x के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात $(\frac{Kx}{Lx})_A = \angle fOA$ तथा देश में पूँजी–श्रम अनुपात $(\frac{Ky}{Ly})_B = \angle joA$

चूँकि $\angle fOA = \angle joA$

अतः वस्तु y में भी, दोनों देशों में, व्यापार के पश्चात् साधन–कीमत अनुपात समान हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि देशों के बीच संसाधनों की आवाजाही न होने पर भी अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधन–कीमतों में समानीकरण ले आता है और इस अर्थ में वस्तु और सेवाओं में अंतरराष्ट्रीय व्यापार श्रम और पूँजी की अंतरराष्ट्रीय गतिशीलता का स्थानापन्न है।

### 19.6.1 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय की आलोचना

साधन–कीमत समानकरण प्रमेय के अनुसार–व्यापार के पश्चात् दोनों देशों में वस्तु के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात समान होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वास्तविक जगत में भी व्यवहार में साधन कीमत समानीकरण सम्भव है। यह प्रमेय वास्तव में जिन मान्यताओं पर आधारित है वे अवास्तविक है और ऐसे अनेक बिन्दु हैं जो कि साधन–कीमत समानीकरण में अवरोध पैदा करते हैं–

1. व्यापार में सम्मिलित सभी देशों में उत्पादन फलन समरूप न होने की स्थिति में यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। वास्तव में वस्तुओं के उत्पादन के लिए भौतिक जलवायु और सामाजिक तथा बौद्धिक वातावरण अलग–अलग देशों में उत्पादन फलन समरूप नहीं हो सकते।
2. यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता तथा उत्पादन में पैमाने के समान प्रतिफल की मान्यता पर आधारित है परन्तु वास्तविक विश्व में अपूर्ण तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता की स्थिति पायी जाती है तथा साथ ही बहुत सारी वस्तुओं के उत्पादन में बढ़ते हुए प्रतिफल नियम भी लागू होता है।
3. यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि पूरी तरह से स्वतंत्र व्यापार हो रहा है साथ ही व्यापार से परिवहन लागतें भी शून्य है। परन्तु वास्तविक जगत में अनेक प्रकार के प्रशुल्क तथा गैर–प्रशुल्क बाधाएँ व्यापार में आती ही हैं और फिर परिवहन लागत शून्य नहीं हो सकती । व्यापार प्रतिबन्धों और परिवहन लागतों की उपस्थिति में साधन कीमत समानीकरण सम्भव नही होगा। इसी कारण ओहलिन पूर्ण साधन कीमत समानीकरण की सम्भावना से इन्कार करते हैं। साधन कीमतों में पूर्ण समानता तथी सम्भव है जब उत्पादन के साधन स्वयं पूर्ण रूप से गतिशील हों।
4. इस सिद्धान्त क लिए यह भी आवश्यक है कि दोनों देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करें। यदि एक देश एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तो यह सिद्धान्त असफल हो जाता है।
5. साधन कीमतों में समानता के लिए यह जरूरी है कि साधनों की संख्या वस्तु की संख्या से अधिक नहीं होनी चाहिए। अनेक वस्तुओं, देशों तथा साधनों की स्थिति में साधन कीमतों की समानता संभव नहीं है।
6. यह सिद्धान्त संसाधनों की मात्रा को प्रत्येक देश में स्थिर मान लेता है जो कि अवास्तविक है।

7. साधन–प्रतिलोमता की स्थिति में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है क्योंकि इस स्थिति में पूँजी सम्पन्न देश पूँजी प्रधान तकनीकी का प्रयोग करके पूँजी गहन वस्तु का उत्पादन व निर्यात करेगा किन्तु श्रम प्रधान देश श्रम प्रधान तकनीकी से उसी वस्तु का उत्पादन करता है।
8. यह एक स्थैतिक सिद्धान्त है। यह एक दिए हुए समय में एक दी हुई संतुलन की स्थिति की कुछ विशेषताओं का केवल अध्ययन करता है। दी हुई तकनीक पर संसाधनों इत्यादि के दिए होने पर व्यापार का प्रभाव क्या होगा, परन्तु वास्तविक जगत में चीजें तेजी से बदलती रहती हैं। ऐसे में वस्तुओं और सेवाओं में व्यापार के जरिए साधन कीमत में पूर्ण समानता संभव नहीं है।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद इतना अवश्य कहा जा सकता है कि देशों की बीच संसाधनों की अगतिशीलता हो तो, वस्तुओं व सेवाओं का अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधन कीमत समानीकरण के सबसे बेहतर स्थितियाँ पैदा करता है। निःसंदेह व्यापार के अभाव में साधन मूल्यों की भिन्नता और अधिक हो सकती है।

## 19.7 सारांश

हेक्सर ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार पूँजी आधिक्य देश, पूँजी गहन वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा और निर्यात करेगा तथा श्रम–प्रधान देश, श्रम–गहन वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा। हेक्सर–ओहलिन मॉडल में साधन–सम्पन्नता या प्रचुरता की धारणा को दो अर्थों में लिया गया है– साधन कीमतों के रूप में तथा भौतिक पदों में । मूल्य मापदण्ड के अनुसार एक देश जिसमें पूँजी सापेक्षिक रूप से सस्ती और श्रम सापेक्षिक रूप से मंहगी है उसे पूँजी–प्रचुर देश कहा जाएगा भले ही इस देश में पूँजी और श्रम की उपलब्ध भौतिक मात्रा दूसरे देश के मुकाबले कितनी भी हो। भौतिक मापदण्ड के आधार पर एक देश सापेक्षिक रूप से पूँजी–प्रचुर देश होगा यदि दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ पूँजी का अनुपात श्रम से अधिक है।

हेक्सर–ओहलिन का सिद्धान्त या प्रमेय कीमत–मापदण्ड का प्रयोग करने पर सिद्ध किया जा सकता है पर भौतिक मापदण्ड के साथ यह सिद्ध हो पाए, यह आवश्यक नहीं है। ओहलिन कीमत–मापदण्ड के आधार पर ही साधन–सम्पन्नता को परिभाशित करते हैं। उनके अनुसार यदि एक देश में पूँजी सापेक्षतया पूँजी सस्ती है तो वहाँ पूँजी की पूर्ति अवश्य ही अधिक होगी और यदि श्रम सापेक्षिक सस्ता है तो उस देश में श्रम की प्रचुरता होनी चाहिए। भौतिक मापदण्ड के रूप में साधन सम्पन्नता को परिभाशित करने पर यह सिद्धान्त केवल तभी वैध होगा जब माँग की प्रतिलोमता की स्थिति न हो – जबकि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए उपभोक्ताओं की रुचियाँ उपभोग अधिमान समान हो और आयात माँग की लोच इकाई के बराबर हो।

साधन कीमत समानीकरण प्रमेय के अनुसार अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधनों की अंतरराष्ट्रीय गतिशीलता का प्रतिस्थापन है। दो देशों की बीच वस्तुओं का स्वतंत्र व्यापार तुलनात्मक लागतों की भिन्नता को समाप्त कर देता है और साधनो के सापेक्षिक मूल्यों में समानता स्थापित हो जाती है। देशों के बीच संसाधनों की आवाजाही न होने पर भी अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधन–कीमतों में समानीकरण ले आता है और इस अर्थ में वस्तु और सेवाओं में अंतरराष्ट्रीय व्यापार श्रम और पूँजी की अंतरराष्ट्रीय गतिशीलता का स्थानापन्न

है। साधन–कीमत समानकरण प्रमेय के अनुसार–व्यापार के पश्चात् दोनों देशों में वस्तु के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात समान होगा।

## 19.8 शब्दावली

**मूल्य के सामान्य साम्य सिद्धान्त–** के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसकी समग्र माँग तथा समपूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।

**कारक गहनता–** उत्पादन में प्रयुक्त साधनों का अनुपात। यदि दो साधन श्रम और पूँजी है तो श्रम और पूँजी का अनुपात कारक महनता को व्यक्त करता है।

**कारक गहनता की प्रतिलोमता–** उस स्थिति में पायी जाती है जब एक समोत्पाद वक्र दूसरे समोत्पाद वक्र पर स्थित हो या उसे एक अधिक बिन्दुओं पर काटे। इस तरह पहले को एक साधन गहनता प्रतिलोमता तथा दूसरे को बहुसाधन गहनता प्रतिलोमता कहते हैं।

**संविदा वक्र–** किसी देश के दो वस्तुओं के समोत्पाद वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को मिलाने पर प्राप्त रेखा। संविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर पूँजी और श्रम की सीमांत उत्पादकता का अनुपात समान हेाता है इसलिए इसे उत्पादन के कुशलता बिन्दुओं का बिन्दूपथ कहते हैं।

**लियोन्टीफ का विरोधाभास–**लियोन्टीफ ने संयुक्त राज्य अमेरिका, जो कि पूँजी प्रधान है, के आयातों–निर्यातों का अध्ययन किया। लियोन्टीफ के अनुसार अमेरिका पूँजी प्रधान देश होते हुए भी श्रम प्रधान वस्तु का निर्यात तथा पूँजी प्रधान वस्तु का आयात करते हैं। चूँकि लियान्टीफ के निश्कर्श हेक्सर–ओहलिन के निश्कर्शों के विपरीत थे, इसलिए इसे 'लियोन्टीफ विरोधाभास' कहा गया।

**साधन कीमत समानीकरण–** दो देशों की बीच वस्तुओं का स्वतंत्र व्यापार तुलनात्मक लागतों की भिन्नता को समाप्त कर देता है और साधनो के सापेक्षिक मूल्यों में समानता स्थापित हो जाती है।

## 19.9 अभ्यास प्रश्न व उनके उत्तर

### अभ्यास प्रश्न–1

### लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की मान्यताएँ बताइए।
2. विदेशी व्यापार के सामान्य संतुलन दृष्टिकोण पर टिप्पणी लिखिए।
3. साधन–गहनता की प्रतिलोमता क्या है?
4. साधन–प्रचुरता का क्या अर्थ है? समझाइए।
5. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।
6. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की प्रतिष्ठित सिद्धान्त से तुलना कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. सामान्य संतुलन दृष्टिकोण को अर्न्तराश्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त में लागू करने के लिए ओह्लिन इसमें किस तत्व को जोड़ते हैं?
   i- समय ii- बाज़ार iii. स्थान iv- कीमत
2. ओह्लिन के अनुसार तुलनात्मक लागत अंतर का कारण है

i- श्रम लागत अंतर ii- विभिन्न देशों में संसाधन उपलब्धता में अंतर

iii- विनिमय दरों में अंतर iv. उपरोक्त में से कोई नहीं

3. ओहिलन के अनुसार प्रत्येक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा
   i- जिसके उत्पादन में उस देश में उपलब्ध प्रचुर संसाधनों का प्रयोग होता हो
   ii- जिसके उत्पादन में उस देश में उपलब्ध सस्ते संसाधनों का प्रयोग होता हो
   iii. उपरोक्त दोनों
   iv- उपरोक्त में से कोई नहीं

**सत्य व असत्य :**

1. आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के सामान्य संतुलन पर आधारित है, जबकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है।
2. वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता मुख्यतः उत्पादन साधनों की पूर्ति या उपलब्धता में भिन्नता के कारण नहीं होती है।
3. हेक्सर ओहलिन सिद्धान्त के अनुसार जो देश पूँजी सम्पन्न है वह पूँजी –प्रधान वस्तु तथा जो देश श्रम सम्पन्न है वह श्रम–प्रधान वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करेगा।
4. कीमत मापदण्ड दो देशों में उत्पादन के संसाधनों की माँग तथा पूर्ति दोनों दशाओं पर विचार नहीं करता है।
5. हेक्सर–ओहलिन का सिद्धान्त या प्रमेय भौतिक मापदण्ड का प्रयोग करने पर सिद्ध किया जा सकता है पर कीमत–मापदण्ड के साथ यह सिद्ध हो पाए, यह आवश्यक नहीं है।
6. भौतिक मापदण्ड के रूप में साधन सम्पन्नता को परिभाशित करने पर यह सिद्धान्त केवल तभी वैध होगा जब माँग की प्रतिलोमता की स्थिति हो।
7. आधुनिक सिद्धान्त व्यापार से होने वाले लाभ पर ध्यान नहीं देता है बल्कि वह व्यापार की संरचना और साधन–कीमतों की स्थिति पर ही ध्यान देता है।
8. दो देशों में समान साधन अनुपात होते हुए भी उपभोक्ता के अधिमान, रुचि या आय–वितरण में अन्तर के कारण अंतरराष्ट्रीय व्यापार हो सकता है।

## अभ्यास प्रश्न–3

## बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. किसके के अनुसार व्यवहार में साधन–कीमतों में पूर्ण समानता सम्भव नहीं है
   i. एली हेक्सर
   ii. ओहलिन
   iii. सैम्युल्सन
   iv. लर्नर
2. साधन कीमत समानीकरण प्रमेय के अनुसार
   i. अंतरराष्ट्रीय व्यापार साधनों की अंतरराष्ट्रीय गतिशीलता का प्रतिस्थापन है।
   ii. स्वतंत्र व्यापार तुलनात्मक लागतों की भिन्नता को समाप्त कर देता है और साधनो के सापेक्षिक मूल्यों में समानता स्थापित हो जाती है।

iii. व्यापार के पश्चात् दोनों देशों में वस्तु के उत्पादन में पूँजी–श्रम अनुपात समान होगा।
iv. उपरोक्त सभी

**अभ्यास प्रश्न–1**

**बहुविकल्पीय प्रश्नः**

1. iii
2. ii
3. iii

**सत्य व असत्य :**

1. सत्य
2. सत्य
3. असत्य
4. असत्य
5. असत्य
6. असत्य
7. सत्य
8. सत्य

**अभ्यास प्रश्न–3**

**बहुविकल्पीय प्रश्नः**

i. ii
ii. iv

## 19.10 संदर्भ ग्रंथ सूची


1. HH. G. Mannur, *International Economics* ,Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001
2. Bo Sodersten, International Economics ,Macmillan, 1999
3. Paul Krugman and Maurice Obstfeld: *International Economics: Theory and Policy, Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.*
4. Charles P Kindleberger, International Economics, Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968
5. Dominik Salvatore, International Economics, John Willy & Sons, Inc., 2008
6. D. M. Mithani, International Economics, Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006
7. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007
8. एम०एल०झिंगन, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010
9. ज्ञानेंद्र सिंह कुशवाहा, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979

## 19.11 उपयोगी / सहायक ग्रंथ


1. HH. G. Mannur, *International Economics* ,Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001
2. Bo Sodersten, International Economics ,Macmillan, 1999
3. Paul Krugman and Maurice Obstfeld: *International Economics: Theory and Policy, Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.*
4. Charles P Kindleberger, International Economics, Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968
5. Dominik Salvatore, International Economics, John Willy & Sons, Inc., 2008
6. D. M. Mithani, International Economics, Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006
7. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007
8. एम०एल०झिंगन, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010
9. ज्ञानेंद्र सिंह कुशवाहा, अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1979


## 19.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. हेक्सर–ओहलिन के अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. साधन–कीमत सामनीकरण प्रमेय की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. चित्र की सहायता से आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
4. प्रतिष्ठित व्यापार सिद्धान्त तथा आधुनिक व्यापार सिद्धान्त की तुलना कीजिए तथा बताइए कि किस प्रकार से आधुनिक सिद्धान्त, प्रतिष्ठित सिद्धान्त से श्रेष्ठ है?

# इकाई–20 व्यापार की शर्तें और मुक्त व्यापार, संरक्षण एवं भुगतान संतुलन

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 व्यापार की शर्तें
20.3.1 व्यापार की शर्तें का अभिप्राय
20.3.2 व्यापार की शर्तें के तरीके
20.4 मुक्त व्यापार का अर्थ
20.4.1 मुक्त व्यापार के पक्ष मे तर्क
20.4.2 मुक्त व्यापार के विपक्ष मे तर्कँ
20.5 संरक्षण
20.5.1 प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण
20.5.2 अप्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण
20.6 भुगतान संतुलन
20.6.1 भुगतान संतुलन की परिभाषा
20.6.2 भुगतान संतुलन के घटक
20.7 सारांश
20.8 शब्दावली
20.9 अभ्यास हेतु प्रश्न
20.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
20.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
20.12 निबन्धात्मक प्रश्न

## 20.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में व्यापार की शर्त का अर्थ, इसके विभिन्न प्रकार, और इसको निर्धारित करने वाले तत्वों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इसके अलावा विकसित और विकासशील देशों के बीच व्यापार के कारण पैदा हुई विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है।

## 20.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- ✓ व्यापार की शर्त के अर्थ को समझ सकेंग।
- ✓ व्यापार की शर्त के विभिन्न प्रकार से परिचित होंगे।
- ✓ मुक्त व्यापार का अर्थ समझ पाएंगे।
- ✓ मुक्त व्यापार के पक्ष में तर्क से अवगत होंगे
- ✓ मुक्त व्यापार से उत्पन्न चुनौतिओं से अवगत होंगे।
- ✓ संरक्षण का अर्थ जान पाएंगे।
- ✓ संरक्षण से लाभ व इससे उत्पन्न चुनौतिओं से अवगत होंगे।
- ✓ संरक्षण के विभिन्न विधिओं से अवगत होंगे।
- ✓ भुगतान संतुलन के अर्थ एवं प्रकृति को समझ सकेंगे।
- ✓ भुगतान संतुलन तथा व्यापर संतुलन में अंतर समझ सकेंगे।
- ✓ चालू खाता तथ पूंजी खाता में अंतर जान पाएंगे.

## 20.3 व्यापार की शर्त

### 20.3.1 व्यापार की शर्त का अर्थ

साधारण शब्दों में जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का विनिमय दूसरे देश की वस्तुओं से होता है, उसे व्यापार की शर्त कहा जाता है। इस प्रकार किसी देश के निर्यात और आयात के बीच का विनिमय अनुपात ही व्यापार की शर्त है। किन्तु आगे जब हम व्यापार की शर्त के विभिन्न प्रकार का अध्ययन करेंगे तब हमें पता चलेगा कि व्यापार की शर्त का मतलब इससे कहीं अधिक व्यापक है। इसको निर्धारित करने में न सिर्फ विनिमय होने वाले वस्तुओं की भौतिक मात्रा का महत्व है बल्कि उनके मूल्यों का भी उतना ही अधिक महत्व है। साथ ही विनिमय होनेवाले वस्तुओं के उत्पादन में लगे साधनों व उनके पारिश्रमिक की दर का भी महत्व है।

### 20.3.1 व्यापार की शर्त के प्रकार

व्यापार की शर्त को निर्धारित करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने कई सूत्र दिए हैं। इन्हें तीन श्रेणीओं में रखा गया है.

1. वस्तु–विनिमय अनुपात से सम्बंधित व्यापार की शर्त
2. संसाधनों के हस्तांतरण से सम्बंधित व्यापार की शर्त
3. उपयोगिता से सम्बंधित व्यापार की शर्त

1. वस्तु–विनिमय अनुपात से सम्बंधित व्यापार की शर्तेंरू इनकी तीन श्रेणियाँ हैं –1) सकल वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त, 2.) शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त तथा 3.) आय व्यापार की शर्त. इनमें प्रथम दो अर्थात् सकल वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त तथा शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त का सूत्र डब्लु०एफ० टौसिग (W.F.

Taussig) ने दिया है, जबकि अंतिम अर्थात् आय व्यापार की शर्त का सूत्र डी०एस० डौरेंस (D.S. Dorrance) ने दिया है.

$$G = \frac{M_q}{X_q} \times 100$$

a) सकल वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त (Gross Barter Terms of Trade):– इसके अनुसार व्यापार की शर्त, आयात की भौतिक मात्रा सूचकांक तथा निर्यात की भौतिक मात्रा सूचकांक का अनुपात है। इसके अनुसार हमें इस बात का पता चलता है की देश की वस्तु के निर्यात की भौतिक मात्र और आयात की भौतिक मात्रा के बीच विनिमय का अनुपात क्या है। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$G = \frac{M_q}{X_q} \times 100$$

यहाँ G सकल वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त है, Mq आयात की भौतिक मात्रा का सूचकांक तथा Xq निर्यात की भौतिक मात्रा का सूचकांक है। मात्रा सूचकांक की गणना किसी आधार वर्ष को मानकर किया जाता है।

b) शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त(Net Barter Terms of Trade): – इसके अनुसार व्यापार की शर्त, निर्यात मूल्य सूचकांक तथा आयात मूल्य सूचकांक का अनुपात है। इसके अनुसार देश से निर्यात की जाने वाली वस्तु के सापेक्षिक मूल्य का पता चलता है। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$N = \frac{X_p}{M_p} \times 100$$

यहाँ N शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त है, Xp निर्यात मूल्य सूचकांक तथा Mp आयात मूल्य सूचकांक है। यहाँ भी मूल्य सूचकांक की गणना किसी आधार वर्ष को मानकर किया जाता है। व्यापार की शर्त निकालने के लिए प्रायः इसी सूत्र का प्रयोग किया जाता है।

c) आय व्यापार की शर्त (Income Terms of Trade) – आय व्यापार की शर्त शुद्ध व्यापार की शर्त का संशोधित रूप है. इससे किसी देश की आयात क्षमता (capacity to import) का पता चलता है. इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$I = \frac{\text{निर्यात आय सूचकांक}}{\text{आयात मूल्य सूचकांक}}$$

यहाँ I आय व्यापार की शर्त है.

$$I = \frac{X_p \times X_q}{M_p}$$

$$\text{अर्थात्} \quad I = N \times X_q$$

यानि, आय व्यापार की शर्त ज्ञात करने के लिए शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त को निर्यात मूल्य सूचकांक से गुणा किया जाता है।

1. **संसाधनों के हस्तांतरण से सम्बंधित व्यापार की शर्तें–** इनका प्रतिपादन जैकब वाइनर (Jacob Viner) ने किया है. ये दो प्रकार की हैं – A) एक घटकीय व्यापार की शर्त (Single Factoral Terms of Trade), तथा B) द्वि घटकीय व्यापार की शर्त (Double Factoral Terms of Trade)। यहाँ शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त को साधनों की उत्पादकता में हुए परिवर्तन के साथ समायोजित करने का प्रयास किया गया है।

   a) एक घटकीय व्यापार की शर्त (Single Factoral Terms of Trade)– इसे प्राप्त करने के लिए शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त को निर्यात–वस्तु के उत्पादकता में हुए परिवर्तन के साथ समायोजित किया जाता है। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$S = \frac{X_p \times X_z}{M_p}$$

   यहाँ S एक–घटकीय व्यापार की शर्त है और X – निर्यात उत्पादकता सूचकांक है। शेष संकेत पूर्व–उद्धरित हैं।

   b) द्वि–घटकीय व्यापार की शर्त (Double Factoral Terms of Trade)– इसे ज्ञात करने के लिए शुद्ध वस्तु–विनिमय व्यापार की शर्त को निर्यात–वस्तु तथा आयात–वस्तु के उत्पादकता में हुए परिवर्तनों के साथ समायोजित किया जाता है। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$D = \frac{X_p \times X_z}{M_p \times M_z}$$

   यहाँ D द्वि–घटकीय व्यापार की शर्त है और Mz आयात–वस्तु उत्पादकता सूचकांक है। शेष संकेत पूर्व–उद्धरित हैं।
   इन दोनों सूत्रों की सबसे बड़ी कमी यह है कि आयात–वस्तु अथवा निर्यात–वस्तु की उत्पादकता में परिवर्तन की गणना करना बहुत मुश्किल है जिसके कारण इनका प्रयोग बहुत कम होता है।

   उपयोगिता से सम्बंधित व्यापार की शर्तरू ये दो प्रकार की हैं – A) वास्तविक लागत व्यापार की शर्त (Real Cost Terms of Trade), तथा B) उपयोगिता व्यापार की शर्त (Utility Terms of Trade)।

A) **वास्तविक लागत व्यापार की शर्त** (Real Cost Terms of Trade)– यह एक–घटकीय व्यापार की शर्त की कमी दूर करने का प्रयास करता है और निर्यात उत्पाद की वास्तविक लागत के आधार पर व्यापार की शर्त का निर्धारण करता है। निर्यात उत्पाद को उत्पादित करने में प्रति इकाई संसाधन की उपयोगिता में ह्रास को वास्तविक लागत कहते हैं (The amount of utility lost or sacrificed per unit of resources employed in producing exports is the "real cost" of producing export)। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$R = \frac{X_p \times X_z}{M_p \times X_r}$$

$$\text{अथवा, } R = N \times \frac{X_z}{X_r}$$

यहाँ, R वास्तविक लागत व्यापार की शर्त और Xr निर्यात उत्पाद को उत्पादित करने का वास्तविक लागत सूचकांक है। शेष संकेत पूर्व–उद्धरित हैं। लेकिन इस व्यापार की शर्त की यह कमी है कि वास्तविक लागत का आकलन बहुत मुश्किल है क्योंकि निर्यात वस्तु में लगे संसाधनों की उपयोगिता में ह्रास का आकलन भला कैसे हो सकता है।

B) **उपयोगिता व्यापार की शर्त** (Utility Terms of Trade)– इस अवधारणा को डी०एच० रॉबर्टसन (D.H. Robertson) ने वास्तविक व्यापार की शर्त (True Terms of Trade) कहा। इसका सूत्र इस प्रकार है–

$$U = N \times \frac{X_z}{X_r} \times \frac{1}{U_m}$$

यहाँ, U उपयोगिता व्यापार की शर्त तथा Um वह सूचकांक है जो आयात वस्तु के कारण घरेलु वस्तु के उपभोग के त्याग की वांछनीयता को दर्शाता है। शेष संकेत पूर्व–उद्धरित हैं। किन्तु यह सूत्र भी अत्यंत जटिल होने के कारण अपनी प्रासंगिकता नहीं रख पाता।

## 20.4 मुक्त व्यापार का अर्थ

मुक्त व्यापार वह नीति है जिसके अंतर्गत अर्तार्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण स्वतंत्रता होती है। ऐसी स्थिति में दो देशों के बीच वस्तुओं के आयात–निर्यात में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। मुक्त व्यापार के महत्व को रेखांकित करने का श्रेय एडम स्मिथ को जाता है। उनके पहले सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में जो विचारधारा प्रचलित थी उसे आर्थिक विचारों के इतिहास में वणिकवाद के नाम से जाना जाता है। वणिकवाद वहुत ही संकीर्ण विचारधारा थी। वणिकवाद के अनुसार निर्यात से देश की सम्पदा में वृद्धि होती है, जबकि आयात से देश की सम्पदा में कमी आती है। एडम स्मिथ ने इस मान्यता का खंडन किया और बताया की व्यापार से सभी देशों को लाभ होता है इसलिए उन्होंने मुक्त व्यापार की वकालत की। उनके अनुसार *"मुक्त व्यापार की धारणा का उपयोग व्यापारिक नीति की उस प्रणाली को बंद करने के लिए किया जाता है जिसमें देश तथा विदेशी वस्तुओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर अनावश्यक कर लगाये जाते हैं और न ही स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।"* इस प्रकार, मुक्त व्यापार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आतंरिक व्यापार में कोई अंतर नहीं करता। जिस प्रकार आतंरिक व्यापार में स्वतंत्रता होने पर कोई भी व्यक्ति सबसे कम मूल्य वाले बाज़ार में वस्तु खरीद सकता है अथवा उत्पादक अपनी वस्तु को उस बाज़ार में बेंच सकता है जहाँ उसे सबसे ज्यादा मूल्य प्राप्त हो सके। ठीक उसी प्रकार मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई भी देश सबसे कम मूल्य पर वस्तु खरीद सकता है और साथ ही सबसे अधिक मूल्य देने वाले देश में अपनी वस्तु बेंच सकता है।

### 20.4.1 मुक्त व्यापार के पक्ष में तर्क

एडम स्मिथ के आगमन के साथ ही मुक्त व्यापार के पक्ष में हवा चल गई। उन्होंने इसके लाभ के बारे में इतना ठोस तर्क रखा कि सभी प्रतिष्ठित व नव–प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इसके पक्ष में बोलने लगे। एक जुमला चल पड़ा "some trade is better than no trade and free trade is better than protected or restricted trade." यानि कुछ व्यापार शून्य व्यापार से बेहतर है, जबकि मुक्त व्यापार प्रतिबंधित या संरक्षित व्यापार से बेहतर है।

मुक्त व्यापार के पक्ष में प्रायः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं–

i. **उत्पादन के साधनों का समुचित प्रयोग**– मुक्त व्यापार के अंतर्गत प्रत्येक देश केवल उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसमें उसे लागत सम्बन्धी लाभ प्राप्त हो। यह लाभ चाहे वह निरपेक्ष हो या तुलनात्मक, उत्पादन के साधनों के समुचित तथा कुशलतम प्रयोग को सुनिश्चित करेगा।

ii. **तकनीकी विकास को प्रोत्साहन**– मुक्त व्यापार में देशों के बीच पारस्परिक प्रतियोगिता रहती है. इस प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक उत्पादक भरसक कोशिश करता है कि उसके उत्पाद की लागत कम हो जिससे कि वह कम मूल्य पर अपने उत्पाद को बेंच सके। इसके लिए उत्पादक तकनीकी अनुसंधान व विकास को प्रोत्साहन देता है।

iii. **सामाजिक उत्पादन का अधिकतमीकरण**– मुक्त व्यापार श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण को बढ़ाता है जिसके कारण कुल उत्पादन में वृद्धि होती है और साथ ही वस्तु का उत्पादन लागत भी गिरता है। यानि समाज को पहले से कम मूल्य पर और साथ ही अधिक वस्तुओं का उपभोग करने का मौका मिलता है। वस्तुओं का मूल्य उनके सीमान्त लागत के बराबर हो जाता है। यह स्थिति अनुकूलतम उत्पादन की स्थिति को प्रदर्शित करता है। प्रत्येक देश की आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति होती है और यह मुक्त व्यापार में प्राप्त किया जा सकता है।

iv. **आयातित वस्तुओं के मूल्यों में कमी**– मुक्त व्यापार सस्ते आयातित वस्तुओं की उपलब्धता को सुनिश्चित करता है। उपभोक्ताओं को ऐसे देश की वस्तु का उपभोग करने का अवसर प्राप्त होता है जहाँ वह कम–से कम लागत पर प्राप्त किया जाता है। यह अलग बात है कि इस तर्क में देशी उत्पादकों के हितों की अवहेलना की गई है और साथ ही रोजगार के पहलू को भी नजरंदाज किया गया है।

v. **एकाधिकारिक शोषण से मुक्ति**– मुक्त व्यापार में प्रतियोगिता होने के कारण उपभोक्ता एकाधिकारिक शोषण से बच जाते हैं। प्रत्येक देश के उत्पादक को केवल देश के ही नहीं बल्कि विदेशी उत्पादकों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है जिसके कारण एकाधिकार का जन्म नहीं होता और फलस्वरूप उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर वस्तुएं प्राप्त होती है।

vi. **स्वर्णमान प्रणाली के अनुकूल**– मुक्त व्यापार देशी मुद्रा के विदेशी मुद्रा में पूर्ण परिवर्तनीयता को सुनिश्चित करता है। यह एक प्रकार से स्वर्णमान प्रणाली वाली स्थिति उपलब्ध कराता है क्योंकि विभिन्न मुद्राओं का क्रय–विक्रय आसानी से हो जाता है।

vii. **विश्व के सभी देशों के आर्थिक हितों की सुरक्षा**– मुक्त व्यापार व्यवस्था से विश्व के सभी देशों के हितों की रक्षा होती है। मुक्त व्यापार प्रणाली व्यापारिक संघर्ष नहीं बल्कि समरसता उत्पन्न करता था। मुक्त व्यापार के फलस्वरूप आयात करनेवाले देश और निर्यात करने वाले देश दोनों को लाभ प्राप्त होता है। मुक्त व्यापार के अंतर्गत एक देश दूसरे देश पर निर्भर होता है फलस्वरूप उन देशों के बीच सहयोग एवं सद्भावना जागृत होती है। एडम स्मिथ के पूर्व यह मत था कि आयात करनेवाले देश को हानि और निर्यात करने वाले देश को लाभ प्राप्त होता है। यह व्यापार का संकुचित दृष्टिकोण था, जिसके कारण व्यापार ने औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया और देशों के बीच युद्ध भी हुए। एडम स्मिथ ने यह

समझाया की मुक्त व्यापार श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण को जन्म देता है, जिसके कारण सभी देशों के आर्थिक हितों की सुरक्षा सुनिश्चित होती है.

### 20.4.1 मुक्त व्यापार की सीमाएं

मुक्त व्यापार से लाभ के बारे में अभी हम अवगत हुए। इससे हम यह सोंच लेते हैं कि यही आदर्शातम स्थिति है। किन्तु मुक्त व्यापार की अपनी सीमाएं हैं, जिसके कारण हमें अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होता। अनुभव तो यही बताता है कि जैसे–जैसे दुनिया मुक्त व्यापार की और अग्रसर हो रही है, विकसित और विकासशील देशों के बीच की खाई और चौड़ी होती जा रही है. बहुराष्ट्रीय कम्पनिओं का जाल विकासशील देशों में फैलता जा रहा है। उनके यहाँ के घरेलू उद्योग इन बहुराष्ट्रीय कम्पनिओं के आगे प्रतिस्पर्धा करने में कठिनाई का अनुभव कर रहे है। कई उद्योग तो बहुराष्ट्रीय कम्पनिओं के सामने अपना अस्तित्व ही खो चुके हैं। ऐसे में अब पुनः इन देशों में संरक्षण के उपाय की बात की जा रही है. मुक्त व्यापार की निम्नलिखित सीमाएं हैं–

i. **मुक्त व्यापार अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है**– मुक्त व्यापार की पुरजोर वकालत करनेवाले एडम स्मिथ और अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ऐसी मान्यताएं ले बैठे जो वास्तविकता से दूर हैं। जैसे स्थिर लागत की दशा का उत्पादन, साधन की गतिशीलता की मान्यता आदि शायद ही देखने को मिलता है।

ii. **पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित**– मुक्त व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ वस्तु तथा साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है, जो शायद ही उपलब्ध हो पाती है। इसके कारण साधनों का अनुकूलतम आवंटन और वस्तुओं का अनुकूलतम वितरण नहीं हो पाता जिसके कारण मुक्त व्यापार से वो स्थिति प्राप्त नहीं हो पाती जो दावा किया जाता है।

iii. **शिशु उद्योग के लिए अनुपयुक्त**– मुक्त व्यापार शिशु उद्योग के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि ऐसे उद्योग प्रतियोगिता को झेल पाने में सक्षम नहीं होते। फ्रेडरिक लिस्ट ने अपने शिशु उद्योग तर्क में इस बात को बहुत सरल तरीके से बताया है और ऐसे उद्योगों को प्रारंभ में संरक्षण देने की वकालत की है।

iv. **मांग और पूर्ति का पूर्णतः लोचदार होना आवश्यक**– मुक्त व्यापार इस मान्यता पर आधारित है कि दीर्घकाल में मांग और पूर्ति पूर्णतः लोचदार हो जाते हैं जिसके कारण उद्योगों की लागतें स्थिर हो जाती है. किन्तु वास्तविक जगत में ऐसा संभव नहीं।

## 20.5 संरक्षण

### 20.5.1 संरक्षण का अर्थ

देश के उद्योगों को विभिन्न प्रोत्साहनों द्वारा विकसित करने तथा विदेशी वस्तुओं के प्रतिस्पर्धा से बचाने की नीति को संरक्षण कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य देश के उद्योग–धंधों का विकास करना होता है। संरक्षण की वकालत सर्वप्रथम अमेरिकी राजनीतिज्ञ **अलेक्जेंडर हैमिल्टन** ने की। उनके अनुसार देश में उद्योगों के विकास तथा अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने के लिए संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए। जर्मन राष्ट्रवादी अर्थशाष्त्री फ्रेडेरिक लिस्ट ने अपने शिशु उद्योग तर्क के माध्यम से संरक्षण पर जोर दिया।

### 20.5.1 संरक्षण के पक्ष में मुख्य तर्क

1) **देश की मुद्रा देश में ही रहने का तर्क**–संरक्षण के पक्ष में दिया जाने वाला यह सामान्य तर्क है। इसके अनुसार यदि देश के लोग देश में निर्मित वस्तुओं का

उपभोग करेंगे तब देश की मुद्रा देश में ही रहेंगी जबकि विदेशी वस्तु खरीदने से देश की मुद्रा का भुगतान विदेशी वस्तु के निर्माताओं को हो जाने से मुद्रा का पलायन हो जायेगा। वणिकवादी प्रायः यही तर्क देते थे। उनका मत था कि देश का स्वर्ण आयात करने से देश से बाहर चला जायेगा।

2) **भुगतान संतुलन का तर्क**– इस तर्क के अनुसार आयात होने से भुगतान संतुलन में घाटा और निर्यात से भुगतान संतुलन में लाभ होता है।
3) **घरेलू बाज़ार का तर्क–** यह तर्क विशेषकर विकासशील देशों के सन्दर्भ में दिया जाता है। इस तर्क के अनुसार विकासशील देश एक निम्न–संतुलन की स्थिति में होते हैं। पूर्ति में वृद्धि होने पर मांग में भी उसी अनुपात में वृद्धि नहीं हो पाती। गुन्नार मिर्डल के अनुसार, *"अल्पविकसित देशों के औद्योगिक विकास में एक बड़ी कठिनाई तथा विकास सम्बन्धी नीति को मूर्त रूप देने में एक बड़ी बाधा यह है कि ये देश पूर्ति में वृद्धि के साथ–साथ घरेलू मांग में वृद्धि नहीं कर पाते।"* इस प्रकार अल्पविकसित अथवा विकासशील देशों में प्रभावी मांग में कमी एक बड़ी बाधा है। संरक्षण के माध्यम से घरेलु उद्योगों के निर्मित वस्तुओं की मांग को सुनिश्चित किया जा सकता है।
4) **मजदूरी का तर्क–** इस तर्क के अनुसार जिन देशों में मजदूरी की दर ऊँची होती है वहां लागत भी अधिक होती है जिसके कारण ऊँचा मूल्य रखना पड़ता हैं। ऐसे देश कम मजदूरी दर वाले देश से आने वाली वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। इसलिए उद्योग को संरक्षण देने की आवश्यकता होती है। आजकल तो विकासशील देशों में भी शक्तिशाली श्रम–संघों के उदय के कारण मजदूरी की दर ऊँची होने लगी है। कई बार तो मजदूरी की दर मजदूर के सीमान्त उत्पादकता से भी ज्यादा होती है। इसके कारण लागत में वृद्धि हो जाती है जिसके परिणाम–स्वरुप मूल्य भी अधिक रखना पड़ता है. ऐसी स्थिति में संरक्षण की आवश्यकता होती है।
5) **लागतों को सामान करने का तर्क**– ऐसा शायद ही हो कि एक वस्तु का दो देशों में उत्पादन लागत समान हो. परिस्थितिओं में भिन्नता होने के कारण उत्पादन लागत भी भिन्न होते हैं, जिसके कारण मूल्य भी भिन्न हो जाते है। यदि घरेलु वस्तु की उत्पादन लागत विदेशी वस्तु के उत्पादन लागत से 10% अधिक हो तो वह देश आयातित वस्तु पर 10% आयात शुल्क लगा कर मूल्य को समान करने की चेष्टा करेगा जिससे उपभोगताओं को दोनों वस्तु एक ही मूल्य के प्रतीक हो।
6) **शिशु उद्योग से सम्बंधित तर्क**– संरक्षण के पक्ष में सबसे प्रबल तर्क शिशु उद्योग को लेकर है। सर्वप्रथम अलेक्जेंडर हेमिल्टन ने शिशु उद्योग के संरक्षण की बात कही। बाद में जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट ने इसे तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया. उनका कहना था कि शिशु उद्योगों का विकास मुक्त व्यापार के सिद्धांतों के आधार पर नहीं हो सकता। कम विकसित देशों के शिशु उद्योग अपने स्थापना के प्रारंभिक दौर में विकसित देशों के बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में नहीं होते। इसलिए उन्हें प्रारंभिक दौर में संरक्षण की आवश्यकता होती है। परन्तु लिस्ट ने इस बात पर बल दिया कि संरक्षण कुछ ही समय के लिए दिया जाना चाहिए तथा उद्योग विशेष की '**परिपालना**' अर्थात् नर्सिंग के उपरांत जब वे अपनी आतंरिक बचतों (Internal Economies) का पूर्ण प्रयोग कर चुके होंगे तब संरक्षण नीति समाप्त कर देनी चाहिए।

7) **उद्योगों में विविधता लाने सम्बन्धी तर्क**– आद्योगिक उत्पादन में विविधता लाने के उद्देश्य से भी संरक्षण की नीति का प्रयोग किया जाता है। देश में सुनियोजित आद्योगिक विकास के लिए संरक्षण का सहारा लिया जाता है।
8) **राशिपातन (Dumping) से बचाने हेतु**– राशिपातन से बचाने के लिए भी संरक्षण की नीति का प्रयोग किया जाता है। यदि प्रतियोगी देश कम मूल्य पर अथवा घाटा यह दूसरे देश में अपने उत्पाद को उतारते हैं तब इसे राशिपातन (Dumping) इससे घरेलु उद्योगों के नष्ट होने का खतरा बना रहता है। ऐसी स्थिति में संरक्षण अपरिहार्य हो जाता है।
9) **बेरोजगारी एवं संरक्षण**–सरक्षण की नीति का समर्थन इस बात पर किया जाता है कि इससे घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश में रोजगार का सृजन होता है और बेरोजगारी दूर करने में मदद मिलती है।
10) **प्रतीकात्मक संरक्षण**– कभी–कभी देश के लिए मुक्त व्यापार की नीति पर चलना संभव नहीं हो पाता क्योंकि अन्य देश घरेलु उत्पादकों को कई प्रकार से रियायतें देकर संरक्षण दिए होते हैं। ऐसी स्थिति में उस देश को भी संरक्षण की नीति अपनानी पड़ती है।

### 20.5.2 संरक्षण के विपक्ष में तर्क

1) **मुद्रा स्फीति में वृद्धि**– देशी उद्योग को संरक्षण देने के नाम पर आयातित वस्तु पर आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध लगाने से देश में स्फीतिकारी स्थिति पैदा होने का खतरा उत्पन्न होने लगता है। आयात पर प्रतिबंधों के फलस्वरूप उन उद्योगों का विकास अवरूद्ध हो जाता है जिनमें आयातित मशीनों व कच्चे माल का उपयोग होता है जिसके परिणामस्वरूप देश के निर्यातों में भी कमी होने की संभावना हो जाती है।
2) **एकाधिकार को प्रोत्साहन**– घरेलू उद्योग को संरक्षण देने से उनमें एकाधिकारी शक्ति के उदय होने का भी खतरा उत्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप देश की जनता निरपेक्ष/तुलनात्मक लागतों के लाभ से वंचित रह जाती है।
3) **भुगतान–असंतुलन को प्रोत्साहन**– यह तर्क कि संरक्षण से भुगतान संतुलन में सुधार आता है, पूर्णतः सत्य नहीं है. कई बार भुगतान संतुलन को ठीक रखने के लिए अधिक आयात कर भुगतान संतुलन में घाटे के स्थिति उत्पन्न करती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि अधिक आयात कर आयात में कमी ला दे. इसके अलावा अधिक आयात पर निर्भरता की स्थिति में आयात कर, निर्यात में भी कमी ला सकता है।
4) **व्यावसायिक शिथिलता**– जैसा कि पहले चर्चा किया गया, संरक्षण घरेलू रोजगार सृजन में मदद करता है। किन्तु यह भी संभव है कि अत्यधिक संरक्षणवादी नीति व्यावसायिक शिथिलता उत्पन्न कर दे, जिसके परिणामस्वरूप रोजगार में वृद्धि न होकर इसमें कमी आ जाए।

## 20.6. भुगतान–संतुलन

प्रत्येक देश का विश्व के अन्य देशों के साथ व्यापार होता है। आप जानते हैं कि कोई देश यदि वस्तुओं या सेवाओं को दूसरे देशों को बेचता है तो उसे 'निर्यात' कहते है तथा यदि दूसरे देशों से खरीदता है तो उसको 'आयात' कहते हैं। एक देश का विश्व के अन्य सभी देशों के साथ होने वाले समस्त प्रकार के लेन–देन, चाहे वह वस्तुओं के रूप में हो, सेवाओं के रूप में हो या फिर पूँजी के रूप में, का एक सुव्यवस्थित लेखा भुगतान–संतुलन

है। भुगतान संतुलन एक दी हुई समयावधि में किसी देश द्वारा किए गए समस्त अंतर्राष्ट्रीय लेन–देन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता हो।

भुगतान–संतुलन का लेन–देन एक दिए हुए वर्ष में सभी विदेशी प्राप्तियों तथा भुगतानों को सम्मिलित करता हैं। भुगतान शेष लेखा की दोहरी–प्रविष्टि (Double entry) बहीखाता सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक सौदा, बैलेंस शीट में क्रेडिट (लेनदरियाँ या प्राप्तियाँ) तथा डेबिट (देनदारियाँ या भुगतान) पक्ष में दर्ज किया जाता है। प्राप्तियों में विदेशी विनिमय के सभी प्रकार के अर्जन (earnings) तथा उधार (borrowings) सम्मिलित होते हैं जो कि क्रेडिट मद के रूप मे रिकार्ड किया जाता है। भुगतानो में विदेशी विनिमय के सभी प्रकार के व्यय तथा दिए गए उधार सम्मिलित किए जाते हैं और इसे डेबिट मद के रूप में रिकार्ड किया जाता है।

इस प्रकार सभी प्रकार की विदेशी प्राप्तियाँ एक वर्ष में हुए समस्त वित्तीय अंर्तप्रवाह को तथा समस्त भुगतान वित्तीय बर्हिप्रवाह को बताता है।

## भुगतान संतुलन के घटक

भुगतान संतुलन के घटक अंर्तगत मुख्यतः 6 प्रमुख खाते होते हैं–

1. वस्तु खाता
2. सेवा खाता
3. एकपक्षीय हस्तांतरण खाता
4. दीर्घकालिक पूँजी खाता
5. अल्पकालिक पूँजी खाता
6. अंतर्राष्ट्रीय तरलता खाता

### वस्तु खाता (Goods Account )

इसके अंर्तगत 'दृश्य' वस्तुओं का लेन–देन आता हे। व्यापारिक वस्तु के निर्यात से प्राप्त विदेशी मुद्रा को प्राप्तियों तथा उनके आयात पर व्यय विदेशी मुद्रा को भुगतानों के अंर्तगत सम्मिलित किया जाता है। यदि वस्तु के निर्यातों का मूल्य, वस्तुओं के आयातों के मूल्य से अधिक होगा तो वस्तु–खाता धनात्मक होगा जो कि उस देश के 'पक्ष' में या अनुकूल कहा जाएगा, जबकि आयातों के मूल्य को निर्यातों के मूल्य से अधिक होने पर ऋणात्मक वस्तु–खाता उस देश के 'विपक्ष' में होगा।

### सेवा खाता (Service Account)

वस्तुओं की तरह ही सेवाओं का भी व्यापार – निर्यात–आयात होता है। सेवा खाते मे एक देश द्वारा एक वर्ष के किए गए सभी सेवाओं के निर्यातों तथा आयातों का ब्यौरा होता है। चूँकि सेवाएँ वस्तुओं की तरह 'दृश्य' नहीं होती है इसलिए सेवाओं के लेन–देन को भुगतान संतुलन की अदृश्य मदें कहा जाता है। व्यापारिक वस्तुओं की तरह बंदरगाहों पर इनकी आवाजाही रिकार्ड नहीं की जाती है। सेवा खातें में मुख्यतः निम्नलिखित सेवाएँ सम्मिलित है –

(क) परिवहन, बैकिंग तथा बीमा

(ख) पर्यटन, यात्रा सेवाएँ, पर्यटनों द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं की खरीद

(ग) शिक्षा सेवाएँ

(घ) सरकरों द्वारा दूतावासों और उनके स्टाफ पर होने वाला व्यय

(ङ) डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि विशेषज्ञों की सेवाएँ

(च) ब्याज, लाभ, लाभांश तथा रॉयल्टी – इन मदों को 'निवेश आय' कहा जाता है।

एक देश द्वारा परिवहन, बैंकिंग तथा बीमा सेवाओं से प्राप्त आय; पर्यटन, यात्रा सेवाएँ, विदेशी पर्यटकों द्वारा किए गए व्यय, विदेशी छात्रों द्वारा देश में किए गए व्यय; विदेशी सरकारों द्वारा उनके दूतावासों इत्यादि पर हुए व्यय; देश के डॉक्टरों, इंजीनियरों आदि विशेषज्ञों की प्राप्तिया; विदेशी देश से ब्याज, लाभ, लाभांश तथा रायल्टी के रूप में प्राप्त 'निवेश आय' सभी मिलाकर सेवा खाते पर या अदृश्य मदों से प्राप्त आय है। जबकि इन सभी अदृश्य मदों पर होने वाले व्यय एक देश के सेवाओं पर हुए भुगतानों को दर्शातां है। यदि सेवाओं के निर्यात (प्राप्तियों) तथा आयात (भुगतानों) का अंतर धनात्मक है तो यह उस देश के पक्ष में होगा और यदि भुगतान प्राप्तियों से अधिक है तो उस देश के सेवा–खाते पर घाटा होगा।

**एक पक्षीय हस्तांरण खाता** (Unilateral Transfer Account)

इस खातें में सभी प्रकार के उपहार, अनुदान, सहायता इत्यादि सम्मिलित है। यह दो प्रकार का हो सकता है; एक सरकारी और दूसरा निजी। विदेश आर्थिक सहायता और अनुदान, या विदेश सैनिक सहायता और अनुदान एक देश की प्राप्तियों में सम्मिलित होगा, जबकि इस देश द्वारा दूसरे देशों को दी गयी आर्थिक तथा सैनिक सहायता व अनुदान उसके भुगतानों में सम्मिलित होंगे। चूँकि इनके बदले किसी प्रकार का भुगतान नहीं किया जाता है और यह सिर्फ एकपक्षीय प्रवाह को दर्शाता है, इसलिए इसे एकपक्षीय हस्तांतरण प्रप्तियाँ या भुगतान कहा जाता है।

**दीर्घकालिक पूँजी खाता** (Long term Capital Account)

इसके अंर्तगत उन विनियोगों को सम्मिलित किया जाता है जो एक वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए किए जाते है। इस खाते को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(क) निजी प्रत्यक्ष निवेश

(ख) निजी पोर्टफोलियो निवेश

(ग) सरकारी उधार या ऋण

यदि देश के नागरिकों तथा कम्पनियों द्वारा विदेशों में प्रत्यक्ष निवेश किया जा रहा है तो यह डेबिट पक्ष (देनदारियों) में सम्मिलित होगा तथा यदि विदेशी नागरिक तथा कम्पनियाँ घरेलू देश में प्रत्यक्ष निवेश कर रही है तो यह भुगतान–संतुलन के क्रेडिट–पक्ष (लेनदारियों) में सम्मिलित होगा।

इसी प्रकार, देश के नागरिकों तथा कम्पनियों द्वारा विदेशी प्रतिभूतियों या स्टॉक या बॉन्ड या शेयर में किया गया निवेश डेबिट तथा विदेशियों द्वारा घरेलू प्रतिभूतियों, स्टॉक, बांड, शेयर इत्यादि में किया गया निवेश क्रेडिट पक्ष में सम्मिलित होगा।

प्रत्यक्ष निजी निवेश में पूँजी प्रवाह घरेलू देश और विश्व के अन्य देशों में लाभ दर के अंतर पर निर्भर करती है। यदि घेरलू पदेश में लाभ की दर (Profit rate) शेष विश्व से

अधिक है तो देश के अंदर प्रत्यक्ष विदेश निवेश के रूप में पूँजी का अंर्तप्रवाह बढ़ेगा। इसी प्रकार, पोर्टफोलियो निवेश के अंर्तगत पूँजी का अंर्त या वाह्य प्रवाह घरेलू देश और शेष–विश्व में ब्याज दर, लाभांश या पूँजी पर प्रतिफल की दर के बीच अंतर पर निर्भर करेगा।

यदि घरेलू देश द्वारा विदेशी सरकार या देश को ऋण दिया जाता है तो वह भुगतान–संतुलन के डेबिट तथा यदि विदेशी देश द्वारा घरेलू देश को ऋण दिया जाता है तो क्रेडिट पक्ष में सम्मिलित होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दीर्घकालिक पूँजी खाता देश के अंदर या बाहर नए पूँजी प्रवाह को सम्मिलित करता है। पूर्व के कुल दीर्घकालिक पूँजी निवेश का प्रभाव सेवा खाते के पूँजी सेवाओं से प्राप्त आय (निवेश आय) पर पड़ता है। यदि एक देश ऋण देने वाला और विदेशों में अत्यधिक पूँजी निवेश करने वाला देश है उसका दीर्घकालिक पूँजी खाते में घाटा हो सकता है परन्तु इससे सेवा खते में उसकी निवेश आय का प्राप्तियाँ बढ़ती है और यदि एक देश उधार लेने वाला और अत्यधिक विदेशी निवेश प्राप्त करने वाला देश है तो इससे उसके पूँजी खाते में अतिरेक होगा, परन्तु इससे निवेश आय के रूप में उस देश के भुगतान में वृद्धि होगी और सेवा खाते में वह घाटे का सामना कर सकता है।

### अल्पकालिक पूँजी खाता (Short term Capital Account)

इस खाते के अंर्तगत वे अल्पकालिक पूँजी मदें आती हैं जो कि एक वर्ष से कम की अवधि के लिए होती है। इसके अंर्तगत बैक जमाएं, सरकारों के अल्पकालीन बांड और अन्य अल्पकालिक भुगतान तथा प्राप्तियाँ आती हैं। अल्पकालिक पूँजी लेन–देन में ज्यादातर हिस्सा व्यापार तथा वाणिज्य के वित्तियन के लिए बैंक हस्तांतरण होते हैं।

कुछ देशों में, अल्पकालिक पूँजी खाते को "भूल–चूक" (Error and Qmissions) खाता भी कहा जाता है। कुल देशों में इसे "गैर विवरणी लेन–देन खाता" (Unrecorded transactions) कहते हैं।

इन खातों में अल्पकालिक पूँजी लेन–देन के अतिरिक्त निम्नलिखित मदें सम्मिलित होती हैं–

(क) सांख्यकीय और विवरणीय भूल (Statistical & Recording Errors)

(ख) स्मगलिंग

(ग) गैर–कानूनी तथा गोपनीय पूँजी प्रवाह

(घ) अपूर्ण अनुमान प्रक्रिया (Imperfect Estimation Procedures)

वास्तव में 'भूल–चूक' एक तरह से अप्रमाणित व्यवसायों से संबंधित लेन–देन को दर्शाते हैं।

### अर्न्तराष्ट्रीय तरलता खाता (International Liquidity Account)

यह खाता भुगतान–संतुलन के घाटे या अतिरेक के समायोजन से संबंधित है जो कि सीधे तौर पर विदेशी रिजर्वों में परिवर्तन को दर्शाता है। इसलिए यह एक तरह से आधिकारिक व्यवस्थापन खाता (Official Settlement Account) है। यह खाता अंर्तराष्ट्रीय

दायित्वों के व्यवस्थापन के लिए अंर्तराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्य सभी साधनों को सम्मिलित करता है।

यदि एक देश के ऊपर से सभी 5 खातों की प्राप्तियों का योग उसके कुल भुगतानों से कम है तो इसका अर्थ यह है कि डेबिट भुगतान के क्रेडिट प्राप्तियों से अधिक देने के कारण इसे भुगतान–संतुलन में घाटे का सामना करना पड़ रहा है। इस घाटे को पूरा करने के लिए यह देश निम्नलिखित में से किसी एक उपाय या तीनों उपायों का सहारा ले सकता है–

(क) घाटे के बराबर सोने का निर्यात या बिक्री

(ख) घाटे के बराबर पहले से संचित विदेशी मुद्रा भण्डार में से निकासी

(ग) घाटे के बराबर, मित्र देशों या अंर्तराष्ट्रीय संस्थाओं से अल्पकालिक या दीर्घकालिक उधार।

इस प्रकार, ऊपर के 5 खातों पर हुए घाटे का वित्तियन किया जा सकता है। अंर्तराष्ट्रीय तरलता खाते में क्रेडिट पक्ष में प्राप्तियों को दर्शाना उसी मात्रा में उस वर्ष में भुगतान–शेष के घाटे को बताता है।

ठीक इसी प्रकार यदि एक देश में भुगतान–संतुलन के 5 खातों की प्राप्तियों का योग उसके भुगतानों से अधिक है तो यह उसके भुगतान–शेष के अतिरेक को दर्शाता है और उतनी मात्रा के बराबर अंर्तराष्ट्रीय तरलता खाते के डेबिड पक्ष में भुगतान को दर्शाया जाएगा। यह डेबिट या भुगतान निम्नलिखित रूप में हो सकता है–

(क) अतिरेक के बराबर सोने की खरीद या आयात

(ख) विदेशी मुद्रा भण्डार में अतिरेक के बराबर वृद्धि

(ग) दूसरे देशों को, अतिरेक के बराबर के ऋण।

निम्नलिखित सारणी से आप भुगतान– संतुलन के विभिन्न खातों तथा अवधारणाओं को समझ सकते हैं–

## भुगतान–संतुलन के विभिन्न खातें

| | क्रेडिट (लेनदरियाँ)– प्राप्तियाँ | डेबिट (देनदारियाँ) भुगतान |
|---|---|---|
| 1.वस्तु–खाता | दृश्य वस्तुओं का निर्यात | दृश्य वस्तुओं का आयात |
| 2. सेवा–खाता | अदृश्य मदों या सेवाओं का निर्यात<br>(क) परिवहन, बैकिंग तथा बीमा सेवाओं से प्राप्तियाँ<br>(ख) विदेशियों द्वारा देश में पर्यटन, यात्रा सेवाएँ, वस्तुओं एवं सेवाओं की खरीद से हुई प्राप्तियाँ<br>(ग) देश में पढ़ रहे विदेशियों द्वारा हुई प्राप्तियाँ<br>(घ) डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक इत्यादि विशेषज्ञों की सेवाओं से विदेश में हुई प्राप्तियाँ | अदृश्य मदों या सेवाओं का आयात<br>(क) परिवहन, बैकिंग तथा बीमा सेवाओं के लिए विदेशी देश का भुगतान<br>(ख) पर्यटन, यात्रा सेवा, वस्तुओं एवं सेवाओं की भारतीय पर्यअकों द्वारा विदेशों में खरीद पर व्यय<br>(ग) विदेशों में पढ़ रहे छात्रों द्वारा किया गया व्यय<br>(घ) विदेशी डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिकों द्वारा सेवाओं पर हुए |

| | | |
|---|---|---|
| | (ङ)विदेशी सरकार द्वारा दूतावासों और उनके स्टाफ पर व्यय<br>(च) भारतीय कंपनियों द्वारा विदेशों में किए गए दीर्घकालिक निवेशों से प्राप्त ब्याज, लाभ, लाभांश तथा रायल्टी | भुगतान<br>(ङ)घरेलू सरकार द्वारा दूतावास व स्टाफ पर व्यय<br>(च) विदेशी कंपनियों द्वारा देश में किए गए दीर्घकालिक निवेशों से प्राप्त ब्याज, लाभ, लाभांश तथा रायल्टी का भुगतान। |
| **3.एकपक्षीय हस्तांतरण खाता** | विदेशी सरकारों या निजी व्यक्तियों से प्राप्त उपहार, दान, अनुदान, सहायता इत्यादि। | घरेलू देश की सरकार या निजी व्यक्तियों द्वारा विदेशी सरकारों या व्यक्तियों को दिए गए उपहार, दान, सहायता इत्यादि। |
| **4. दीर्घकालिक पूँजी खाता** | (क) विदेश के नागरिकों तथा कम्पनियों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष विदेशी निवेश<br>(ख) विदेशी नागरिकों तथा फर्मों द्वारा घरेलू प्रतिभूतियाँ, बांडों, शेयरों इत्यादि में किया गया पोर्टफालियो निवेश<br>(ग) घरेलू सरकार द्वारा विदेशी सरकारों या संस्थाओं से किया गया उधार | (क) घेरलू नागरिकों तथा कम्पनियों द्वारा विदेशों में किया गया प्रत्यक्ष विदेशी निवेश<br>(ख) घरेलू नागरिकों तथा फर्मों द्वारा विदेशों में प्रतिभूतियाँ, बांडों, शेयरों इत्यादि में किया गया निवेश<br>(ग) विदेशी सरकारों द्वारा देश से लिया गया उधार |
| **5. भूल–चूक, जिसमें अल्पकालिक पूँजी खाता सम्मिलित हो** | (क) एक वर्ष से कम की अवधि के लिए विदेशों से प्राप्त बैंक जमाएँ इत्यादि।<br>(ख) अप्रमाणित व्यवसायों से प्राप्तियाँ | (क)एक वर्ष से कम की अवधि के लिए विदेशी देश को किए गए अल्पकालिक बैंक हस्तांतरण<br>(ख) अप्रमाणित व्यवसायों में किया गया भुगतान |
| **6. अंर्तराष्ट्रीय तरलता अनुपात** | (क) सोने का निर्यात<br>(ख) विदेशी मुद्रा भण्डार में कमी<br>(ग) मित्र देशों या अंर्तराष्ट्रीय संस्थाओं से उधार | (क) सोने का अयात<br>(ख) विदेशी मुद्रा भण्डार में वृद्धि<br>(ग) विदेशी देशों को उधार |

## 20.7 सारांश

एक देश का विश्व के अन्य सभी देशों के साथ होने वाले समस्त प्रकार के लेन–देन, चाहे वह वस्तुओं के रूप में हो, सेवाओं के रूप में हो या फिर पूँजी के रूप में, का एक सुव्यवस्थित लेखा भुगतान–संतुलन है। भुगतान संतुलन एक दी हुई समयावधि में किसी देश द्वारा किए गए समस्त अंतर्राष्ट्रीय लेन–देन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता हो। भुगतान शेष लेखा की दोहरी–प्रविष्टि बहीखाता सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक सौदा, बैलेंस शीट में क्रेडिट (लेनदरियाँ या प्राप्तियाँ) तथा डेबिट (देनदारियाँ या भुगतान) पक्ष में दर्ज किया जाता है। भुगतान शेष लेखा की दोहरी–प्रविष्टि (Double

entry) बहीखाता सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक सौदा, बैलेंस शीट में क्रेडिट (लेनदरियाँ या प्राप्तियाँ) तथा डेबिट (देनदारियाँ या भुगतान) पक्ष में दर्ज किया जाता है।

भुगतान–शेष के प्रारम्भिक 5 खातों– वस्तु खाता, सेवा खाता, एकपक्षीय हस्तांतरण खाता, दीर्घकालिक ओर अल्पकालिक पूँजी खाता– में हुए लेन–देन 'स्वायत्त' या 'रेखा के ऊपर' का लेन–देन कहे जाते हैं। ये लेन–देन स्वायत्त आर्थिक गतिविधियों के फलस्वरूप होते हैं ओर ये भुगतान संतुलन की स्थिति से स्वतंत्र होते हैं अर्थात भुगतान–संतुलन के अतिरेक या घाटे को ध्यान में रखते हुए ये लेन–देन नहीं होते हैं बल्कि उससे पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं।

वस्तु खाता के अंर्तगत 'दृश्य' वस्तुओं का लेन–देन आता है। सेवा खाते मे एक देश द्वारा एक वर्ष के किए गए सभी सेवाओं के निर्यातों तथा आयातों का ब्यौरा होता है। चूँकि सेवाएँ वस्तुओं की तरह 'दृश्य' नहीं होती है इसलिए सेवाओं के लेन–देन को भुगतान संतुलन की अदृश्य मदें कहा जाता है । एकपक्षीय हस्तांतरण खातें में सभी प्रकार के उपहार, अनुदान, सहायता इत्यादि सम्मिलित है। दीर्घकालिक पूँजी खाता के अंर्तगत उन विनियोगों को सम्मिलित किया जाता है जो एक वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए किए जाते है। इस खाते को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–निजी प्रत्यक्ष निवेश, निजी पोर्टफोलियो निवेश सरकारी उधार या ऋण। अल्पकालिक पूँजी खाते के अंर्तगत वे अल्पकालिक पूँजी मदें आती हैं जो कि एक वर्ष से कम की अवधि के लिए होती है।यह खाता भुगतान–संतुलन के घाटे या अतिरेक के समायोजन से संबंधित है जो कि सीधे तौर पर विदेशी रिजर्वों में परिवर्तन को दर्शाता है। इसलिए यह एक तरह से सरकारी व्यवस्थापन लेखा है। यह खाता अंर्तराष्ट्रीय दायित्वों के व्यवस्थापन के लिए अंर्तराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्य सभी साधनों को सम्मिलित करता है।

जेम्स ई0 मीड तथा कुछ अन्य अर्थशस्त्रियों के अनुसार व्यापार संतुलन निर्यातित तथा आयातित वस्तुओं तथा सेवाओं का अंतर होता है। कुछ अर्थशास्त्री सिर्फ व्यापारिक या दृश्य वस्तुओं के निर्यात तथा आयात के अन्तर को अर्थात् सिर्फ 'वस्तु–खाता' के अंतर को ही व्यापार–संतुलन के रूप में परिभाषित करते है। भारत में भी व्यापार–संतुलन का अर्थ वस्तु–खाते का अन्तर है अर्थात् सिर्फ वस्तुओं के निर्यातों और आयातों का अन्तर। व्यापार शेष, अपने दोनों ही अर्थों में भुगतान–संतुलन का एक हिस्सा हैं।

वस्तु खाता, सेवा खाता तथा एकपक्षीय हस्तांतरण खाता को सम्मिलित रूप से चालू खाते पर भुगतान संतुलन कहा जाता है। चालू खाते तथा पूँजी खाते पर भुगतान–संतुलन का योग कुल भुगतान–संतुलन को बताता है।कुल भुगतान–संतुलन का घाटा या अतिरेक उस देश के लिए बेहतर है या प्रतिकूल स्थिति को दर्शाता है यह इस बात पर निर्भर करेगा कि चालू खाते और पूँजी–खाते पर भुगतान–संतुलन की स्थिति क्या है?यदि भुगतान–संतुलन का अतिरेक चालू खाते के अतिरेक के कारण है, परन्तु पूँजी–खाते के अतिरेक के कारण नहीं है तो यह स्थिति उस देश के लिए अनुकूल हो सकता है।जब कुल भुगतान–संतुलन के असंतुलन (अतिरेक या घाटा) को दूर करने के लिए इसमें अंतर्राष्ट्रीय तरलता खाता जोड़ दिया जाता है तो लेखांकन की दृष्टि से भुगतान–संतुलन की समस्त प्राप्तियाँ (क्रेडिट–लेनदारियाँ) तथा भुगतानों (डेबिट–देनदारियाँ) के बराबर जो जाती है और भुगतान संतुलन, संतुलन में हो जाता है।

जब भुगतान–संतुलन के असंतुलन को अतंर्राष्ट्रीय तरलता खातों या समायोजित लेन–देन के द्वारा दूर किया जाता है तो यह भुगतान–संतुलन का निपटान (settlement) कहा जाता है।यदि भुगतान–संतुलन के अतिरेक या घाटे को दूर करने के लिए या नियंत्रित के लिए उन कारकों को नियंत्रित किया जाता है जो कि इस अतिरेक या घाटे के लिए जिम्मेदार है तो इसे भुगतान–संतुलन का समायोजन (adjustment) कहते हैं। अर्थात अंतर्राष्ट्रीय तरलता खाते के बिना भुगतान–संतुलन के स्वायत्त लेन–देन में संतुलन ले आना भुगतान–संतुलन समायोजन कहा जाएगा।

असंतुलन की अलग–अलग प्रकृति होती है जो कि उसके कारणों पर निर्भर करती है। विभिन्न देशों में भुगतान–संतुलन में असंतुलन के विभिन्न कारण हो सकते हैं तथा एक ही देश में अलग–अलग समय में असंतुलन के अलग–अलग कारण हो सकते हैं। असंतुलन को समायोजित करने के लिए एक देश किस प्रकार की आर्थिक नीतियाँ/उपायों को लागू करे, यह उसके भुगतान–संतुलन की स्थिति पर निर्भर करेगा। भुगतान–संतुलन के घाटे के पूरा करने के लिए आवश्यक है कि स्वायत्त लेन–देन में भुगतानों की अपेक्षा प्राप्तियों में अधिक वृद्धि हो। स्पष्ट है कि असंतुलन को दूर करने के लिए उन मदों या कारकों में परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है जो कि भुगतान–संतुलन की प्राप्तियों तथा भुगतानों को प्रभावित करते हैं।

## 20.8 शब्दावली

**भुगतान–शेष–** किसी देश का भुगतान–शेष किसी दी हुई अवधि (जैसे एक वर्ष) में उस देश के नागरिकों द्वारा विश्व के अन्य देशों के नागरिकों के बीच हुए समस्त आर्थिक लेन–देन का व्यस्थित विवरण है।

**व्यापार शेष–** वस्तु खाते पर हुई प्राप्तियों तथा भुगतानों का अन्तर व्यापार–शेष कहलाता है। अर्थात सिर्फ दृश्य व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात तथा आयात मूल्यों का अंतर व्यापार–शेष है। परन्तु व्यापक अर्थों में व्यापार–शेष वस्तुओं या सेवाओं के निर्यात तथा आयात मूल्यों का अंतर है।

**भुगतान–संतुलन निपटान** (Settlement)**–** जब भुगतान–संतुलन में लेखांकन संतुलन समायोजक लेन–देन या अंतर्राष्ट्रीय तरलता खाता की सहायता से ले आया जाता है तो उसे भुगतान–संतुलन का निपटान कहते हैं।

**भुगतान–संतुलन समायोजन** (Adjustment)**–** जब भुगतान–संतुलन में लेखांकन संतुलन, समायोजक लेन–देन की सहायता के बिना होता है तो इसे भुगतान–संतुलन समायोजन कहा जाता है।

**भुगतान–संतुलन का 'पूर्ण रोजगार' संतुलन–** यदि भुगतान–संतुलन में बिना वाणिज्यिक नीति का सहारा लिए तथा देश के सकल राष्ट्रीय आय में स्फीतिकारी या अवस्फीतिकारी अंतराल उत्पन्न किए, संतुलन ले आया जाता है तो यह सही मायने में संतुलन या 'पूर्ण रोजगार' संतुलन कहा जाता है। परन्तु यदि यह संतुलन व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और इसके कारण अर्थव्यवस्था में मुद्रा–स्फीति या बेरोजगार उत्पन्न हुई है, तो यह 'पूर्ण रोजगार' संतुलन नहीं होगा।

## 20.9 अभ्यास हेतू प्रश्न व उनके उत्तर

## 20.10 संदर्भ ग्रंथ सूची


1. Bo Sodersten; International Economics (Macmillan, 1999)
2. Charles P Kindleberger; International Economics, (Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968)
3. D. M. Mithani, International Economics,( Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006)
4. H. G. Mannur; International Economics (Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001)
5. Ingo Walter; International Economics: Theory and Policy, (Ronald Press, New York 1968).
6. K.R. Gupta: International Economics; (Atma Ram Pub. Delhi, 1969)
7. Paul Krugman,Maurice Obstfeld and Marc J. Melitz; International Economics: Theory and Policy (Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.).
8. Robert M. Dunn, and John H. Mutti; International Economics, (Routledge, London, 2004).
9. V.K. Bhalla; International Economy: Liberalisation Process (Anmol Pub. Delhi, 1993).
10. एस०एन०लाल; अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद, 2004)
11. एच० एस० अग्रवाल, तथा सी०एस० बरलारू अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ;(लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा, 2003).
12. डालचंद्र बागड़ी; अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ,(अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009)
13. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य; अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, (ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007)
14. एम०एल०झिंगन; अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्ररू (वृंदा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010)


## 20.11 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ


1. Bo Sodersten; International Economics (Macmillan, 1999)
2. Charles P Kindleberger; International Economics, (Richard D. Irwin Inc., Illinois, 1968)
3. D. M. Mithani, International Economics,( Himalaya Publishing House, Mumbai, 2006)
4. H. G. Mannur; International Economics (Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 2001)
5. Ingo Walter; International Economics: Theory and Policy, (Ronald Press, New York 1968).
6. K.R. Gupta: International Economics; (Atma Ram Pub. Delhi, 1969)
7. Paul Krugman,Maurice Obstfeld and Marc J. Melitz; International Economics: Theory and Policy (Dorling Kindersley India Pvt Ltd, 2009.).
8. Robert M. Dunn, and John H. Mutti; International Economics, (Routledge, London, 2004).
9. V.K. Bhalla; International Economy: Liberalisation Process (Anmol Pub. Delhi, 1993).
10. एस०एन०लाल; अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद, 2004)

11. एच० एस० अग्रवाल, तथा सी०एस० बरलारू अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ;(लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा, 2003).
12. डालचंद्र बागड़ी; अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ,(अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009)
13. सुदामा सिंह एवं एम०सी० वैश्य; अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, (ऑक्सफ़ोर्ड एंड आई०बी०एच० पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007)

## 20.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. व्यापार की शर्त से क्या समझते हैं? यह कितने प्रकार के होते है?
2. मुक्त व्यापार से आप क्या समझते हैं? इससे क्या लाभ है ? इसकी सीमाओं का भी उल्लेख करें।
3. संरक्षण से आप क्या समझते हैं? संरक्षण के पक्ष और विपक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करें।
4. संरक्षण की प्रमुख विधिओं का विवरण प्रस्तुत करें।"भुगतान संतुलन सदैव सन्तुलित रहता है" यदि ऐसा है तो फिर हम किसी देश के भुगतान–संतुलन में अतिरेक या घाटे की चर्चा क्यों करते हैं।

# इकाई–21 विदेशी विनिमय एवं नियन्त्रण

21.1 प्रस्तावना
21.2 उद्देश्य
21.3 विदेशी विनिमय
21.3.1 विदेशी विनिमय का अभिप्राय
21.3.2 विदेशी विनिमय के तरीके
21.3.3 विदेशी विनिमय की समस्या के कारण
21.4 विनिमय नियंत्रण
21.4.1 विनिमय नियंत्रण का अर्थ
21.4.2 विनिमय नियंत्रण की विशेषताएँ
21.4.3 विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य
21.5 विनिमय नियंत्रण की विधियाँ
21.5.1 प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण
21.5.2 अप्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण
21.6 विनिमय नियंत्रण का प्रभाव
21.7 विनिमय नियंत्रण के गुण व दोष
21.8 सारांश
21.9 शब्दावली
21.10 अभ्यास हेतु प्रश्न
21.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
21.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
21.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 21.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में विदेशी विनिमय एवं नियत्रंण को स्पष्ट त किया जाएगा। साथ ही विदेशी विनिमय के तरीके और विदेशी विनिमय की समस्या पर प्रकाश डाला जाएगा। इसके अतिरिक्त आप जानेगें कि कैसे प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद विदेशी विनिमय लेनदेनों पर देशों द्वारा नियंत्रण किया जाने लगा था। 1930 की महामंदी ने इसे ओर आवश्यक बना दिया और देशों द्वारा अपने भुगतान शेष को संतुलित बनाये रखने हेतु विनिमय नियंत्रण के विभिन्न तरीकों को अपनाया जाने लगा। यद्यपि 1950 से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विनिमय नियंत्रण में कमी होने लगी है फिर भी इस स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है तथा देशों द्वारा किसी न किसी रूप में विनिमय नियंत्रण भी अपनाया जा रहा है।

प्रस्तुत इकाई विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा में विदेशी विनिमय और विदेशी नियत्रंण को समझने में अत्यन्त सहायक है।

## 21.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह समझ सकेंगे कि –

- ✓ विदेशी विनिमय का अर्थ और इसके विभिन्न तरीके क्या हैं।
- ✓ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी विनिमय की समस्या क्यों उत्पन्न होती है।
- ✓ विनिमय नियंत्रण का अर्थ और इसके विभिन्न तरीके क्या हैं।
- ✓ विनिमय नियंत्रण के विभिन्न तरीके तथा इसका प्रभाव क्या होता है।
- ✓ विनिमय नियंत्रण के पारस्परिक गुण–दोष क्या हैं।

## 21.3 विदेशी विनिमय

### 21.3.1 विदेशी विनिमय का अभिप्राय

साधारणतया अन्य देशों की मुद्राओं को विदेशी विनिमय के अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में निम्नवत दो अर्थों में किया जाता हैः–

(अ) **संकुचित अर्थ मेः** इसका प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में किया जाता है दृ

1. **विदेशी मुद्राओं के रूप मेंः** कुछ अर्थशास्त्री विदेशी विनिमय से अभिप्राय विदेशी मुद्राओं से लगाते हैं अर्थात् जब यह कहा जाता है कि बैंक विदेशी मुद्रा का क्रय–विक्रय कर रहे हैं तब इसका सन्दर्भ विदेशी मुद्राओं से ही होता है। सामान्यतया विदेशी विनिमय का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत के लिए अन्य देशों की मुद्रायें– यूरो, डॉलर, व पौण्ड, यूआन आदि विदेशी विनिमय है।
2. **विदेशी विनिमय दर के रूप मेः** विदेशी विनिमय का अभिप्राय विदेशी विनिमय दर से भी लिया जाता है अर्थात् जिस दर पर एक देश की मुद्रा किसी दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित की जाती है। **सेयर्स** के शब्दों में, *''चलन मुद्राओं के परस्पर मूल्यों को ही विदेशी विनिमय दर कहा जाता है।''* इसलिए जब यह कहा जाता है कि विनिमय दर किसी देश के अनुकूल अथवा प्रतिकूल है, तब इसका अभिप्राय विदेशी विनिमय दर से होता है।

इसके अतिरिक्त, विदेशी विनिमय का प्रयोग कभी–कभी उन सुविधाओं के लिए भी किया जाता है जो विदेशी भुगतानों से सम्बन्धित होती हैं।

(ब) **विस्तृत अर्थ मेः** विदेशी विनिमय का प्रयोग उन सभी क्रियाओं एवं विधियों से लिया जाता है जिनके द्वारा दो या दो से अधिक देशों के व्यापारी अपने व्यावसायिक दायित्वों का भुगतान करते हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय के अन्तर्गत वे सभी संस्थायें जो विदेशी भुगतान करती हैं और वह दर जिस पर विदेशी भुगतान किए जाते हैं, सम्मिलित होती हैं। साधारण शब्दों में ऐसे साधन जिनका उपयोग अंतर्राष्ट्रीय भुगतान में किया जाता है, विदेशी विनिमय कहलाता है।

### 21.3.2 विदेशी विनिमय के तरीके

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा में आयातो एवं निर्यातों के भुगतान हेतु देशों को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों हेतु देशों द्वरा निम्नलिखित तरीकों का प्रयोग किया जा सकता है–

1. **विदेशी विनिमय बिलः** यह एक लिखित आदेश अथवा प्रार्थना है जिसके अन्तर्गत वस्तु बेचने वाला क्रय करने वाले को विनिमय पत्र लिखता है, जिसमें यह आदेश होता है कि वह एक निश्चित अवधि के अन्दर उसमें अंकित राशि का भुगतान लेनदार को अथवा उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति को करा देगा। इस बिल के स्वीकार हो जाने पर यह विनिमय पत्र अपने ही देश में उन व्यक्तियों को बेच दिया जाता है जिन्हें आयात करने वाले देश को भुगतान करना है तथा यह विनिमय पत्र विदेशों में उन व्यक्तियों को भेज दिए जाते हैं जिन्हें ववे भुगतान करना चाहते हैं। इन लेनदारों के द्वारा विनिमय पत्र की यह राशि उस व्यक्ति से वसूल कर ली जाती है जिन्होंने शुरू में इस वस्तु का आयात करने के कारण स्वीकार किया था।
2. **तार द्वारा स्थानान्तरणः** इसके अन्तर्गत एक देश के बैंक के द्वारा विदेश में स्थित अपनी शाखा को तार द्वारा सूचना दी जाती है कि एक निश्चित राशि का भुगतान व्यक्ति विशेष को कर दिया जाये। इस प्रकार यह एक देश से दूसरे देश को विदेशी विनिमय स्थानान्तरण का महत्त्वपूर्ण एवं द्रुत तरीका है।
3. **बैंक ड्राफ्टः** बैंक ड्राफ्ट एवं बैंक द्वारा अपनी शाखा अथवा अन्य बैंक जिन के साथ इनका लेन–देन रहता है, को लिखा गया आदेश है जिसमें ड्राफ्ट में लिखित राशि का भुगतान जो ड्राफ्ट जारी करने वाले बैंक ने पहले ही प्राप्त कर ली है, वाहक द्वारा मांगे जाने पर कर दिया जाएगा। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों में भी अंतर्राष्ट्रीय बैंकों अथवा विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा ड्राफ्ट का प्रयोग किया जाता है जिसमें ऋणी अर्था आयातकर्ता स्वयं अपने बैंकों से बैंक ड्राफ्ट बना सकता है जो ऋणदाता को स्थानान्तरित कर दिया जाता है और वह अपने देश के बैंक अथवा शाखा से अंकित राशि प्राप्त कर लेगा।
4. **साख–पत्रः** इसमें साख पत्र जारी करने वाला बैंक किसी व्यक्ति को एक निश्चित राशि चेक अथवा बिल द्वारा एक निश्चित अवधि में निकालने का अधिकार देता है। इस पत्र के आधार पर जो राशि आयातकर्ता बैंक से प्राप्त करता है, निर्यातकर्ता उतनी ही राशि का निर्यात कर देता है। इसमें भुगतानकी गारण्टी साख पत्र जारी करने वाले बैंक की होती है। साख पत्र आयातकर्ता की दृष्टि से खण्डन करने योग्य तथा खण्डन न करने योग्य हो सकता है। यद्यपि निर्यातकर्ता खण्डन न करने योग्य साख पत्र को प्राथमिकता देता है।

उपर्युक्त तरीकों के अतिरिक्त विदेशी विनिमय का भुगतान घरेलू करेन्सी, स्वर्ण, यात्री चेक तथा अंतर्राष्ट्रीय मनी आर्डर आदि के द्वारा भी किया जा सकता है।

### 21.3.3 विदेशी विनिमय की समस्या के कारण

अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों में विदेशी विनिमय की समस्या के उत्पन्न होने के मुख्य कारण इस प्रकार हैं–

1. **विभिन्न मुद्रायेः** अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न देशों की मुद्राये नाम, आकार, मूल्य आदि में भिन्न–भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त इन मुद्राओं की निर्गमन व्यवस्था भी अलग–अलग सिद्धान्तों एवं विधियों पर आधारित होती है। मुद्राओं की इन विभिन्नताओं के कारण एक देश की मुद्रा अन्य देशों में विनिमय के माध्यम और मूल्य मापक के रूप में मान्य नहीं होती है। अतः एक देश की मुद्रा अन्य देशों में मान्य नहीं होती अथवा अंतर्राष्ट्रीय अस्वीकृत के कारण विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न हो जाती है।
2. **भुगतानों में प्रयुक्त साधन की समस्याः** सामान्यतया एक देश दूसरे देश की 'सुलभ मुद्रा' को अंतर्राष्ट्रीय भुगतान हेतु स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में भुगतान वस्तु अथवा स्वर्ण के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। इन दोनों स्थितियों में वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन और स्वर्ण का अभाव वा उसके प्रति आकर्षण अंतर्राष्ट्रीय भुगतान प्रणाली को बहुपक्षीय और दीर्घकालिक बनाये रखने में बाधा उत्पन्न करता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों हेतु सर्वस्वीकृत साधन के अभाव में विदेशी मुद्राओं का ही प्रयोग करना पड़ता है जिससे विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होती है।
3. **स्थायी विनिमय दरों का अभावः** विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दरें निरन्तर बदलती रहती है जिसके कारण अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए विदेशी विनिमय के सौदे स्वतन्त्र व निर्बाध रूप से नहीं हो पाते हैं तथा आयात–निर्यात व्यवहार जोखिमपूर्ण हो जाता है। अतः विनिमय दरों में स्थायित्व के अभाव के कारण विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होती है।
4. **मुद्राओं की मांग और पूर्ति में असन्तुलनः** अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कुछ मुद्राओं (दुर्लभ मुद्रायें) की मांग उनकी पूर्ति से कहीं अधिक होती है जबकि अल्पविकसित देशों की मुद्राओं (सुलभ मुद्रा) की पूर्ति उनकी मांग से अधिक होती है। इससे न केवल विदेशी समस्या उत्पन्न होती है बल्कि दुर्लभ मुद्राओं का मांग आधिक्य इसे अधिक दुष्कर बना देता है।
5. **भुगतान हस्तान्तरण की समस्याः** विदेशी विनिमय अंतर्राष्ट्रीय भुगतान के साधन के रूप में प्रयुक्त किए जाने के कारण सरकारी नियंत्रण के अधीन होता है। अतः इसमें अनेक औपचारिकतायें एवं जटिलतायें होती हैं। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों का हस्तान्तरण बैंकों के माध्यम से किया जाता है तथापि इसमें अनेक समस्यायें एवं जोखिम सन्निहित होते हैं।

## 21.4 विदेशी नियंत्रण

### 21.4.1 विनिमय नियंत्रण का अर्थ

विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के स्वतंत्र लेनदेन को प्रतिबंधित कर दिया जाता है। इस स्थिति में विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों के मुक्त व्यवहार की

बजाय राज्य अथवा सरकार द्वारा विदेशी विनिमय को नियंत्रित किया जाता है। इस प्रकार जब विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय नियंत्रण पूर्णरूपेण होता है तब विदेशी विनिमय बाजार पूर्णतया सरकारी निर्णयों द्वारा संचालित होता है। यह विदेशी विनिमय के मुक्त लेनदेनों को पूर्णरूप से प्रतिबंधित कर देता है। ऐसी स्थिति में सरकार अथवा देश के केन्द्रीय बैंक का विदेशी विनिमय बाजार पर सम्पूर्ण नियंत्रण होता है। देश के निर्यातों तथा अन्य समस्त स्रोतों से अर्जित विदेशी प्राप्तियाँ केन्द्रीय बैंक के अधीन होती हैं और वह देश की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के आधार पर आयातकों को विदेशी विनिमय का आबंटन करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की माँग एवं पूर्ति प्रवाहों में सन्तुलन स्थापित कर भुगतान संतुलन तथा अधिकारिक विनिमय दर को संतुलित बनाए रखने का प्रयास करता है।

### 21.4.2 विनिमय नियंत्रण की विशेषताएँ

विनिमय नियंत्रण की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. सशक्त विदेशी विनिमय व्यवहारों का विनिमय नियंत्रण द्वारा केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका संचालन सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है।
2. केन्द्रीय बैंक सरकारी विनिमय दर निश्चित करता है और इसे स्थिर रखने हेतु विदेशी करेंसियों की माँग–पूर्ति का नियमन करता है।
3. निर्यातकों द्वारा अर्जित समस्त विदेशी मुद्रा केन्द्रीय बैंक के पास जाती है और वह स्वदेशी मुद्रा में निर्यातकों को भुगतान करता है। इसी प्रकार आयातकों को विदेशी भुगतान करने हेतु विदेशी मुद्रा बेच दी जाती है।
4. लाइसेंस प्राप्त व्यापारी और विशिष्ट बैंक ही विदेशी विनिमय का लेनदेन कर सकते हैं।
5. विनिमय नियंत्रण के द्वारा व्यापार–संतुलन को अनुकूल बनाया जा सकता है क्योंकि आयातों को सीमित किया जा सकता है।

### 21.4.3 विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य

देश की सरकारों अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा समय–समय पर विनिमय नियंत्रण को अपनाया गया है जिसके उद्देश्य इस प्रकार हैं।

1. **विनिममय दरों का स्थिरीकरणः** मुक्त विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दरों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिससे उद्योग तथा वाणिज्य को हानि पहुँचती है। इसलिए सरकार निश्चित विनिमय दर घोषित कर विनिमय नियंत्रण द्वारा उसे स्थिर बनाए रखती है।
2. **विदेशी विनिमय का संरक्षणः** विनिमय नियंत्रण द्वारा मौद्रिक प्राधिकारी आवश्यक अथवा विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के आयातों को प्रतिबंधित कर आवश्यक वस्तुओं के आयातों हेतु विदेशी विनिमय की आपूर्ति कर सकते हैं।
3. **पूँजी बहिर्गमन पर रोकः** राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से यदि विदेशों में पूँजी का विनियोग होने लगे तो देश के स्वर्ण एवं विदेशी कोष समाप्त हो सकते हैं। अतः विनिमय नियंत्रण द्वारा पूँजी के बहिर्गमन को राका जा सकता है।
4. **विदेशी ऋण का पुनर्भुगतानः** देश, विदेशी ऋण के मूल और ब्याज का भुगतान करने के लिए, विनिमय नियंत्रण को अपनाकर विदेशी विनिमय अर्जित कर सकता है।

5. **प्रतिकूल भुगतान–संतुलन को सुधारना:** देश अपने भुगतान–संतुलन के घाटे को पूरा करने हेतु विनिमय नियंत्रण द्वारा आयातों को सीमित कर सकता है।
6. **प्रभावी आर्थिक आयोजन:** देश में आर्थिक आयोजन की सफलता हेतु विदेशी व्यापार का आयोजित कार्यक्रमों के साथ समन्वय आवश्यक है जिससे घरेलू उद्योगों हेतु आवश्यक पूँजी उपलब्ध हो सके। इस उद्देश्य हेतु विनिमय नियंत्रण अतिआवश्यक है।
7. **घरेलू उद्योगों का संरक्षण:** विनिमय नियंत्रण द्वारा घरेलू उत्पादकों तथा उद्योगों को आयात सीमित कर विदेशी व्यापारियों की प्रतियोगिता से संरक्षण प्रदान किया जा सकता है। विशेषतया शिशु उद्योगों और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने हेतु ऐसा किया जाना आवश्यक है।
8. **मुद्रा का अधिमूल्यन:** देश विनिमय नियंत्रण द्वारा मुद्रा की कीमत अन्य देशों की तुलना में अधिक घोषित कर आवश्यक कच्चामाल, उपभोग वस्तुओं तथा सैन्य सामग्री आदि सस्ती कीमत पर आयात कर सकता है। किन्तु यह एक अल्पकालीन उपाय है क्योंकि इससे निर्यात महँगें तथा आयात सस्ते होने के कारण भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।
9. **मंदी के विस्तार पर रोक:** अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के कारण विकसित देश आयातों एवं निर्यातों के द्वारा मंदी का विस्तार अन्य देशों में भी कर सकते हैं जिन्हें विनिमय नियंत्रण द्वारा उसी देश तक सीमित रखा जा सकता है।
10. **राजस्व की प्राप्ति:** विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत सरकार द्वारा अधिकृत केन्द्रीय बैंक अन्य देशों से क्रय की गई विदेशी करेंसी को ऊँची कीमत पर देश के व्यापारियों व नागरिकों को बेचकर राजस्व प्राप्त कर कता है।

## 21.5 विदेशी नियंत्रण की विधियाँ

विनिमय नियंत्रण विधियों को मुख्यतया दो रूपों – प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष में विभाजित किया जा सकता है।

### 21.5.1 प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण

प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण विदेशी विनिमय को उनकी मात्रा, प्रयोग एवं आवंटन की दृष्टि से प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते हैं और इनका क्रियान्वयन केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। ये निम्नवत् हैं –

1. **सरकारी हस्तक्षेप:** सरकारी हस्तक्षेप के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक विनिमय दर को ऊँचा अथवा नीचा रखने हेतु विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करता है। इसे कीलित विनिमय दरें कहा जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक घरेलू करेंसी की विनिमय दर को विदेशी विनिमय बाजार में प्रचलित विनिमय दर से नीची निर्धारित करता है तो इसे 'नीचे कीलना' कहते हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक विदेशी करेन्सियों के बदले स्थानीय करेंसी को निर्धारित दरों पर बेचता है क्योंकि नीची विनिमय दर पर स्थानीय करेंसी की माँग उनकी पूर्ति से अधिक होती है। इसलिए स्थानीय करेंसी की उपलब्धता अधिक मात्रा में आवश्यक होती है। इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय बैंक वर्तमान विनिमय दर की अपेक्षा घरेलू करेंसी की ऊँची विनिमय दर निर्धारित करता है तो इसे 'ऊपर कीलना' कहते हैं। ऐसी स्थिति में घरेलू करेंसी की माँग उसकी पूर्ति से कम होती है और निर्धारित विनिमय दर पर केन्द्रीय बैंक को विदेशी करेन्सियों के बदले घरेलू करेंसी को क्रय करना होता है। फलस्वरुप विदशी

करेंसियों की अधिक आवश्यकता होती है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों में केन्द्रीय बैंक को घरेलू करेंसी अथवा विदेशी करेंसी के विशाल संसाधनों की आवश्यकता होती है। इसलिए ऊँचा कीलना की तुलना में नीचा कीलना केन्द्रीय बैंक हेतु अधिक व्यावहारिक होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा इस प्रकार हस्तक्षेप मुक्त विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोकने हेतु अल्पकालीन उपाय के रूप में अपनाया जा सकता है।

2. **विनिमय प्रतिबंधः** विनिमय प्रतिबंध के अन्तर्गत सरकारी विनिमय नियंत्रण प्राधिकरण अर्थात् केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू करेंसी की पूर्ति को अनिवार्य रूप से कम अथवा प्रतिबंधित कर देता है। ऐसा करने हेतु सरकार सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यापार को स्वयं अर्थात् केन्द्रीय बैंक तक सीमित कर सकता है। विदेशी करेंसी के बदले में घरेलू करेंसी के विनिमय को प्रतिबंधित कर सकता है। इसके अतिरिक्त, सरकार विदेशी विनिमय लेनदेन हेतु सरकारी अभिकरण को अधिकृत कर सकता है।

विनिमय प्रतिबंध के अनेक रूप होते हैं जिनमें अधिकांशतः निम्नलिखित प्रयोग किए जाते हैः–

(i) **बहु–विनिमय दरेंः** इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक आयातों एवं निर्यातों के विभिन्न वर्गों एवं श्रेणियों हेतु अलग–अलग विनिमय दरें निर्धारित करता है जिसका उद्देश्य आयातों में कमी करना और निर्यातों के वृद्धि करना है जिससे भुगतान–संतुलन को ठीक किया जा सके। उदाहरण के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात हेतु केन्द्रीय बैंक अपेक्षाकृत नीची विनिमय दर तथा विलासिता वाली वस्तुओं हेतु ऊँची दर निर्धारित कर सकता है। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक ऊँची विनिमय दर रखकर निर्यातकों को सहायिकी दे सकता है। प्रायः अदृश्य मदों और पूँजी हस्तान्तरणों की विनिमय दर अपेक्षाकृत ऊँची निर्धारित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त विनिमय दरें वस्तुओं की माँग की लोच के आधार पर भी निर्धारित की जाती हैं।

बहु–विनिमय दर प्रणाली का प्रभाव आयात पर लगने वाले प्रशुल्क और निर्यात पर दी जाने वाली सहायिकी के समान होता है। साथ ही यह भुगतान संतुलन को ठीक करने का एक प्रभावी उपाय है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह भुगतान संतुलन को ठीक करने की बजाय अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को सीमित कर विश्व स्तर पर उत्पादन व कल्याण को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है।

(ii) **अवरुद्ध खातेः** देश में वित्तीय संकट की स्थिति में ऋणी देश अपने ऋणदाता देशों के खातों को अवरुद्ध कर सकता है। इसके अन्तर्गत आयातों का भुगतान विदेशी निर्यात कर्ताओं के अवरुद्ध खातों में जमा कर दिए जाते हैं और उन खातों से उन्हें मुद्रा निकालने की मनाही कर दी जाती है। किन्तु नियन्त्रणकर्ता देश इन अवरुद्ध खातों को अपने काम में ले सकता है। इस योजना के अन्तर्गत अन्य देशों के ऋणदाताओं को भुगतान ऋणी द्वारा सीधे तौर पर न कर देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा किए जाते हैं जहाँ विदेशी ऋणदाताओं के नाम खाते होते हैं। यह भुगतान राशि विदेशियों को उनकी करेंसी में नहीं प्राप्त होती बल्कि नियंत्रणकर्ता देश में क्रय हेतु प्रयोग की जाती है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम 1931 में जर्मनी द्वारा किया गया था। इस प्रणाली की कमी यह है कि यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को न्यूनतम स्तर पर ले आती है और विदेशी विनिमय की कालाबाजारी को जन्म देती है।

(iii) **प्राथमिकताओं के अनुसार आवंटनः** इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक आयातों तथा विदेशी भुगतानों हेतु वित्तीय व्यवस्था उनकी प्राथमिकताओं के आधार पर करता है। इस दृष्टि से आवश्यक आयातों जैसे– कच्चा माल, पूँजीगत वस्तुएँ इत्यादि के लिए विदेशी विनिमय आवंटन विलासिता संबन्धी अनावश्यक वस्तुओं की तुलना में प्राथमिकता के आधार पर किया जाएगा। यद्यपि विनिमय नियंत्रण हेतु यह प्रणाली अत्यन्त सरल है किन्तु इसमें नौकरशाहों का मनमानापूर्ण व्यवहार स्वाभाविक है जिससे विलम्ब के साथ प्रशासनिक लागतें भी अधिक हो सकती हैं।

3. **समाशोधन समझौतेः** इसके अन्तर्गत द्विपक्षीय व्यापार की दशा में दोनों देश अपने–अपने देश के केन्द्रीय बैंक में खाता खौलकर आयात तथा निर्यात के सभी भुगतानों का पारस्परिक तय विनिमय दर पर समाशोधन करने का समझौता कर लेते हैं।

   उदाहरण के तौर पर यदि भारत से चीन वस्तुएँ आयात करता है तो आयातकों को अपने देश के केन्द्रीय बैंक के समाशोधन खाते में अपनी ही करेंसी में भुगतान करना होगा। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकों को समाशोधन खाते में अपनी करेंसी में भुगतान करना पड़ेगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि दोनों देशों में आयात व निर्यात बराबर हो और समाशोधन खाते संतुलित हों। समाशोधन खाते में कमी अथवा बेशी की दशा में उसे स्वर्ण अथवा अन्य विदेशी करेंसी के रूप में भुगतान किया जाता है जिसे दोनों देश स्वीकार करने हेतु तैयार हो।

   इस समाशोधन समझौते की मुख्य कमी यह है कि इसमें सशक्त देश कमजोर देश का शोषण कर सकता है। यह विदेशी व्यापार के सामान्य ढाँचे में परिवर्तन के साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण में भी कमी ला सकता है। इसके अतिरिक्त विनिमय नियंत्रण की यह विधि तभी प्रयोग की जा सकती है जबकि सभी विदेशी भुगतान केन्द्रीय बैंक द्वारा ही सम्पादित किए जायें।

4. **भुगतान समझौतेः** भुगतान समझौते, समाशोधन समझौते की तुलना में विनिमय नियंत्रण की अधिक व्यापक विधि है क्योंकि इसमें वस्तुओं के आयात–निर्यात के अतिरिक्त सेवा सम्बन्धी मदें जैसे– जहाजरानी खर्चे, बीमा, पर्यटन तथा ऋण सेवा आदि भी शामिल होती हैं। इसके अन्तर्गत ऋणदाता देश के आयात के भुगतान का कुछ अंश उसके ऋण के भुगतान के लिए समाशोधन खाते में जमा कर दिया जाता है तथा शेष राशि का भुगतान ऋणी देश के निर्यातकों को कर दिया जाता है। ऋणदाता देश ऋणी देश के आयातों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाता है किन्तु ऋणी देश ऋणदाता देश के आयात पर प्रतिबंध लगा सकता है जिससे वह अपने निर्यातों में वृद्धि करके विदेशी दायित्वों का भुगतान कर सके।

   इस विधि की मुख्य कमी यह है कि खातों की शेष राशि का प्रयोग भुगतान हेतु केवल एक देश से दूसरे साझीदार देश को किया जा सकता है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि यह कमजोर देश के प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने में सहायक है किन्तु ऋण सेवा अवधि बढ़ने से कमजोर देशों का ऋण सेवा भार बढ़ जाता है जो भुगतान संतुलन पर दीर्घकालीन प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

### 21.5.2 अप्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण

विनिमय नियंत्रण की अप्रत्यक्ष विधियाँ विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

1. **ब्याज दरों में परिवर्तनः** किसी देश में ब्याज दरों में किया जाने वाला परिवर्तन विदेशी विनिमय दर को प्रभावित करता है। यदि देश में ब्याज दरें ऊँची हैं तो वह विदेशी पूँजी तथा बैंकिंग कोषों को आकर्षित करती हैं। फलस्वरुप घरेलू करेंसी की माँग बढ़ती है जो इसके विदेशी मूल्य को बढ़ा देती है और विदेशी विनिमयदर को देश के अनुकूल बना देती है। इसके विपरीत ब्याज दर कम होने पर विदेशी पूँजी के पलायन के साथ घरेलू पूँजी का प्रवाह भी अन्य देशों में होगा जो विदेशी विनिमय दर को प्रतिकूल बना देगा।

   यहाँ आपको यह बताना आवश्यक है कि कोई भी देश ब्याज दरों को अधिक नहीं बढ़ा सकता क्योंकि इसका घरेलू व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। साथ ही अन्य देश भी प्रतिक्रिया स्वरुप अपनी ब्याज दरें बढ़ा सकते हैं।

2. **प्रशुल्क एवं गैर–प्रशुल्क नियंत्रणः** विदेशी व्यापार के परिमाण पर प्रतिबंध लगाने हेतु प्रशुल्क एवं आयात कोटा व अन्य मात्रात्मक प्रतिबंध एक महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष विधि है। आयात शुल्क आयातों की मात्रा में कमी करते हैं और विदेशी करेंसी की तुलना में घरेलू करेंसी के मूल्य में वृद्धि कर देते हैं। इसी प्रकार निर्यात शुल्क, निर्यातों की मात्रा में कमी करने के साथ विदेशी करेंसी की तुलना में घरेलू करेंसी के मूल्य को कम कर देते हैं। इसके अतिरिक्त राज्य व्यापार निगम अथवा ऐसे किसी प्राधिकरण को सरकार द्वारा कुछ वस्तुओं के आयात का एकाधिकार दे दिया जाता है। यह निगम ही आयातित वस्तुओं की मात्रा निर्धारित करता है और उसे देश मं् वितरित करता है। उपर्युक्त मात्रात्मक प्रतिबंधों का उद्देश्य देश की विनिमय दरों को अनुकूल बनाना तथा प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करना है। किन्तु, कोई भी देश आयातों को पूर्णतया प्रतिबंधित नहीं कर सकता है। साथ ही, अन्य देश प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध में प्रतिकार कर अपने देश में भी आयातों को प्रतिबंधित कर सकते हैं।

3. **निर्यात सहायिकीः** प्रायः निर्यातों में वृद्धि करने हेतु सरकार निर्यातों को सहायिकी प्रदान कर सकती हैं अथवा नि निर्यातों पर लगाए जाने वाले करों में कमी या छूट प्रदान कर सकती हैं। इससे विदेशी विनिमय बाजार में देश की मुद्रा की माँग में वृद्धि होती है और विनिमय दर देश के अनुकूल होने के साथ भुगतान संतुलन की स्थिति में भी सुधार होता है। किन्तु सरकार के पास उपलब्ध निधियों की राशि निर्यात सहायिकी को सीमित कर देती है।

## 21.6 विदेशी नियंत्रण का प्रभाव

विनिमय नियंत्रण व आयात लाइसेंस मिलकर एक देश में आयातकों के लिए एकाधिकार लाभ उत्पन्न करते हैं। यदि कोई देश पूर्ण विनिमय नियंत्रण को अपनाता है तो आयातकों द्वारा अर्जित एकाधिकारी लाभ उपभोक्ताओं के कल्याण को कम कर देता है और आयात लाइसेंस व विदेशी मुद्रा लाइसेंस प्राप्त करने हेतु भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है। चित्र 21.5.2 में कठोर विनिमय नियंत्रण की दशा में आयातकों द्वारा x–वस्तु के आयात की माँग और पूर्ति को प्रदर्शित किया गया है।

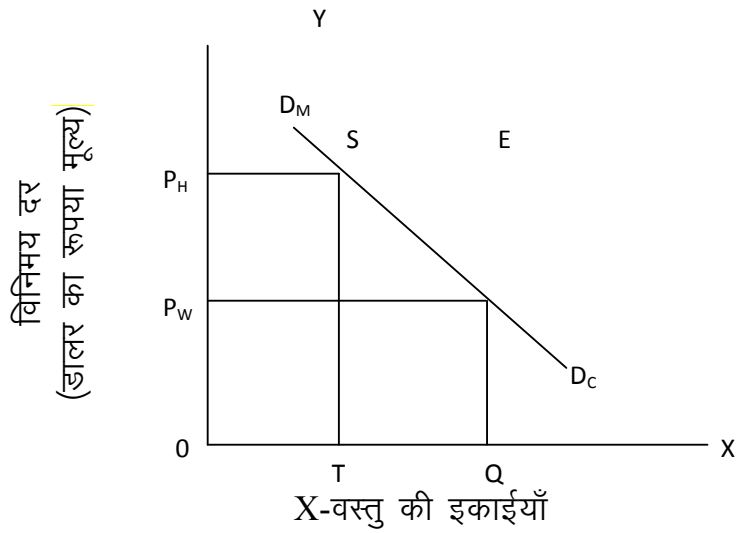


चित्र 21.5.2 में PW X –वस्तु की विश्व कीमत तथा DC घरेलू उपभोक्ताओं की माँग को व्यक्त कर रही है जबकि कोई विनिमय नियंत्रण नहीं है। इस 0PW कीमत पर घरेलू उपभोक्ताओं की कुल माँग 0Q मात्रा के बराबर है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रफल 0PWEQ राशि के बराबर विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी। विनिमय नियंत्रण की दशा में निर्गत सीमित राशि क्षेत्रफल 0PWST वांछित राशि की तुलना में कम है जो आयातकों के आयाताकार परवलयाकार वक्र क्ड से स्पष्ट त है। अतः 0Q माँग की तुलना में प्रूति 0T तक प्रतिबंधित होने के कारण आयातित X वस्तु की घरेलू कीमत बढ़कर 0PH हो जाएगी। आयातित वस्तु X की कीमत में 0PW और 0PH के बीच का अन्तर आयातकों को विनिमय नियंत्रण के कारण मिलने वाले एकाधिकारी लाभ को व्यक्त करता है और तीव्र ढाल वाला माँगवक्र आयातकों को पुनः एकाधिकारी लाभ दिलाएगा।

## 21.7 विदेशी नियंत्रण के गुण व दोष

विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार के देशों द्वारा विनिमय नियंत्रण की नीतियों को अपनाया जाता है। विनिमय नियंत्रण के मुख्य गुण इस प्रकार हैं।

1. विनिमय नियंत्रण आयात को प्रतिबंधित कर भुगतान शेष को ठीक करने में सहायता करता है।
2. विनिमय नियंत्रण विदेशी कंपनियों के प्रसार को सीमित करता है और राष्ट्रीय हित में उनके कार्यकरण का नियमन करता है।
3. विनिमय नियंत्रण द्वारा घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण प्रदान किया जा सकता है और देश में आयात स्थनापन्नता व निर्यात प्रोत्साहन को प्रारम्भ किया जा सकता है।
4. विनिमय नियंत्रण पूँजी के अनियमित प्रवाह को रोकता है और विदेशी विनिमय की उपलब्धता को सुनिश्चित करके आवश्यक पूँजी वस्तुओं के आयात को संभव बनाता है।
5. विनिमय नियंत्रण विनिमय दरों में होने वाले उच्चवचनों को रोककर उसमें स्थिरता लाने में सहायक होता है।
6. सरकार विनिमय नियंत्रण का प्रयोग विदेशी ऋणों के भुगतान हेतु भी अपना सकती है।

7. यह दो देशों के बीच द्विपक्षीय व्यापार संबंधों से लाभ उठाने हेतु एक प्रभावी विधि है।
8. विनिमय नियंत्रण देश में आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना का विकास करता है।
9. विनिमय नियंत्रण द्वारा विदेशी मुद्रा का संरक्षण कर देश अपनी सुरक्षा, आयोजन, आर्थिक विकास आदि महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पादित करने में सफल हो सकता है।
10. किसी देश के विरोधी हो जाने की स्थिति में सरकार विनिमय नियंत्रण द्वारा उस देश की सभी परिसम्पत्तियों को अपने अधिकार में लेकर उसकी निधियों को लौटाने पर रोक लगा सकता है।
11. अन्ततः सरकार विनिमय नियंत्रण के माध्यम से राजस्व भी एकत्रित कर सकती है।

विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार के देशों द्वारा विनिमय नियंत्रण की नीतियों को अपनाया जाता है। विनिमय नियंत्रण के मुख्य दोष इस प्रकार हैं।

विनिमय नियंत्रण की नीति के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं –

1. **विदेशी विनिमय की कालाबाजारी**– विनिमय नियंत्रण विदेशी विनिमय की कालाबाजारी को जन्म देता है जिससे विदेशी मुद्राओं का देश की बजाय विदेशों में प्रयोग होता है और इनकी तस्करी में वृद्धि होती है।
2. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण में कमी**– विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत जब एक देश आयातों को प्रतिबंधित करता है तब दूसरे देश प्रतिक्रिया स्वरुप अपने आयातों पर भी प्रतिबंध लगाते हैं जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण में कमी आती है और विश्वस्तर पर भी कुल उत्पादन में कमी आती है।
3. **लालफीताशाही एवं भ्रष्टाचार**– विनिमय नियंत्रण का कार्य सरकारी कर्मचारियों के द्वारा किया जाता है। अतः वे अपने निहित स्वार्थों के कारण प्रशासनिक व्यवस्था का दुरुपयोग करते हैं जिससे अनावश्यक विलम्ब तथा भ्रष्टाचार का जन्म होता है।
4. **औद्योगिक अक्षमता** – विनिमय नियंत्रण के कारण विदेशी प्रतियोगिता के अभाव में घरेलू उद्योगों में प्रौद्योगिकीय स्थिरता, औद्योगिक अकुशलता व गुणवत्ता ह्रास का जन्म होता है जो लागतों में वृद्धि कर घरेलू कीमत–स्तर को बढ़ा देता है।
5. **आय एवं धन का असमान वितरण**– विनिमय नियंत्रण छोटे उत्पादकों की बजाय कुछ बड़े उत्पादकों अथवा उनके समूह के लिए असामान्य लाभ के अवसर उत्पन्न करता है। फलस्वरुप आय व धन के वितरण में असमानता बढ़ने लगती है।
6. **मनमानापूर्ण एवं अपव्ययी**– विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय का आवंटन प्रायः नौकरशाहों की मनमानी प्राथमिकताओं के अनुसार किया जाता है। इसके अतिरिक्त विनिमय नियंत्रण की नीति के क्रियान्वयन हेतु नियुक्त प्रशासनिक मशीनरी पर बड़ी मात्रा में व्यय किया जाता है जिससे सरकारी धन का अनावश्यक व्यय होता है।

अन्ततः आप परिचित हो गए होगें कि विनिमय नियंत्रण देश के अनुकूल भुगतान–संतुलन एवं विनिमय दरों में स्थिरता बनाए रखने हेतु सहायक है किन्तु इससे देश में कुछ निहित स्वार्थों का भी जन्म हो सकता है जो भविष्य में देश के विकास के लिए उपयुक्त नहीं होगा।

## 21.8 सारांश

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति में विदेशी भुगतानों हेतु विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। सामान्यतया अन्य देशों की मुद्राओं को विदेशी विनिमय कहा जाता है किन्तु इसके अन्तर्गत उन सभी क्रियाओं एवं विधियों को शामिल किया जाता है जिनके द्वारा दो या दो से अधिक देशों के व्यापारी अपने व्यावसायिक दायित्वों का भुगतान करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों हेतु विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होने का मुख्य कारण विभिन्न देशों की मुद्राओं का भिन्न–भिन्न होना, मुद्राओं की माँग और पूर्ति में असाम्य तथा स्थायी विनिमय दरों का अभाव है। विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय अनुपात को कहा जाता है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से परिवर्तित की जाती है। दीर्घकालीन विनिमय दरों को सामान्य या साम्य विनिमय दर और अल्पकालीन विनिमय दरों को तात्कालिक अथवा बाजार विनिमय दर कहा जाता है जिसमें विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति में परिवर्तन के कारण निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। विनिमय दर का निर्धारण स्वर्णमान के अन्तर्गत टंकण मूल्य समता सिद्धान्त के द्वारा किया जाता है जबकि अपरिवर्तनीय पत्र मुद्राओं के बीच विनिमय दर का निर्धारण क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त अथार्त उनकी पारस्परिक आन्तरिक क्रय–शक्तियों के अनुपात के आधार पर किया जाता है। भुगतान संतुलन सिद्धान्त के अन्तर्गत भुगतान–शेष के उधार खाता एवं जमा खाते की मदों की समानता के आधार पर किया जाता है।

आप परिचित हो गए होंगे कि विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के स्वतंत्र लेन–देन को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। इसके अनेक स्वरुप हो सकते हैं जिनको प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष विधियों में बाँटा जा सकता है। प्रत्यक्ष विधियों में आपने मुख्य रूप से सरकारी हस्तक्षेप, विनिमय प्रतिबंध, विनिमय समाशोधन समझौते आदि और अप्रत्यक्ष विनिमय नियं त्रण के अन्तर्गत ब्याज दरों में परिवर्तन, प्रशुल्क व आयात कोटा, निर्यात सहायिकी का विस्तृत अध्ययन किया है। विनिमय नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य मुक्त विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोकना और देश के भुगतान शेष को सन्तुलित बनाए रखना होता है। इस कार्य हेतु देश का केन्द्रीय बैंक सरकारी केन्द्रीय प्राधिकरण के रूप में कार्य करता है।

## 21.9 शब्दावली

- **विनिमय नियंत्रण**– विदेशी विनिमय के मुक्त लेन–देन पर प्रतिबंध।
- **बहु विनिमय दरें**– विभिन्न वस्तुओं के आयात व निर्यात हेतु निर्धारित अलग–अलग विनिमय दरें।
- **प्रशुल्क** – आयातों और निर्यातों पर लगाया जाने वाला अप्रत्यक्ष कर।
- **निर्यात सहायिकी**– निर्यातों में वृद्धि अथवा प्रोत्साहन हेतु निर्यात करों में छूट या निर्यात को दिया गया अनुदान।
- **फेरा** – विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम जिसका उद्देश्य विदेशी विनिमय का संरक्षण करना था।
- **फेमा**– विदेशी विनिमय प्रबन्धन अधिनियम जिसने 'फेरा' का स्थान लिया।
- **मुद्रा की परिवर्तनीयता**– मुक्त रूप से देश की मुद्रा का प्रमुख विदेशी मुद्राओं में तथा प्रमुख विदेशी मुद्राओं का देश की मुद्रा में संपरिवर्तनीयता।

## 21.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. विदेशी विनिमय का अर्थ बताइये।
2. विदेशी विनिमय के विभिन्न तरीकों को संक्षिप्त में स्पष्ट कीजिए।
3. विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न होने के क्या कारण है?
4. विनिमय नियंत्रण को स्पष्ट कीजिए।
5. विनिमय नियंत्रण की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?
6. विनिमय नियंत्रण के उद्देश्यों को संक्षेप में बताइए।
7. विनिमय नियंत्रण के तरीकों को किन दो भागों में विभाजित किया जाता है?
8. विनिमय नियंत्रण हेतु सरकारी विनिमय प्राधिकरण के रूप में कौन कार्य करता है?
9. प्रशुल्क एवं गैर–प्रशुल्क नियंत्रण किस प्रकार विनिमय नियंत्रण में सहायक होते हैं?

## 21.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- Mithani, D. M. (2010) "International Economics" Himalaya Publishing House, Mumbai.
- वैश्य, एम.सी. व सिंह, सुदामा (2000). "अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" सप्तम संस्कण, आक्सफोर्ड एवं आई.बी.एच. पब्लिशिंग कं.प्रा.लि., नई दिल्ली।
- अग्रवाल एवं बरला (2008). "अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र"लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- राणा, के.सी. व वर्मा, के.एन. (2012). "अंतरविदीय अर्थशास्त्र"विशाल पब्लिशिंग कं., जालन्धर।


## 21.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री


- झिंगन, एम.एल. (2011). "अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" षष्टम संस्करण, वृंदा पब्लिशिंग प्रा. लि., दिल्ली।
- Salvatore, Dominick (1998) "International Economics" Sixth ed- Prentice Hall, New Jersey.
- Pugel, A. Thomas (2011), "International Economics" 13th ed. Tata McGraw Hill Educational Pvt. Ltd., New Delhi.
- Avadhani, V.A. (2012), "International Economics" Eighth Ed. Himalaya Publishing House, Mumbai.
- Krugman, Paul R. and Obstfeld, Maurice (2004), "International Economics" Sixth ed. Pearson Education, Delhi.
- Sodersten, B. and Reed, G. (2006). "International Economics" third ed., Macmillan Press Ltd., London.


## 21.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विनिमय नियंत्रण की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसके उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।

2. विनिमय नियंत्रण से क्या तात्पर्य है? विनिमय नियंत्रण की विभिन्न विधियों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

3. 'विनिमय नियंत्रण' से आप क्या समझते हैं? इसके गुण तथा दोषों पर प्रकाश डालिए।
4. विनिमय नियंत्रण की अप्रत्यक्ष विधियों का विवरण देते हुए बताइए कि वे किस सीमा तक प्रभावकारी हो सकती हैं?
5. मुद्रा की परिवर्तनीयता का अर्थ बताइए। रूपये की पूर्ण परिवर्तनीयता के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।